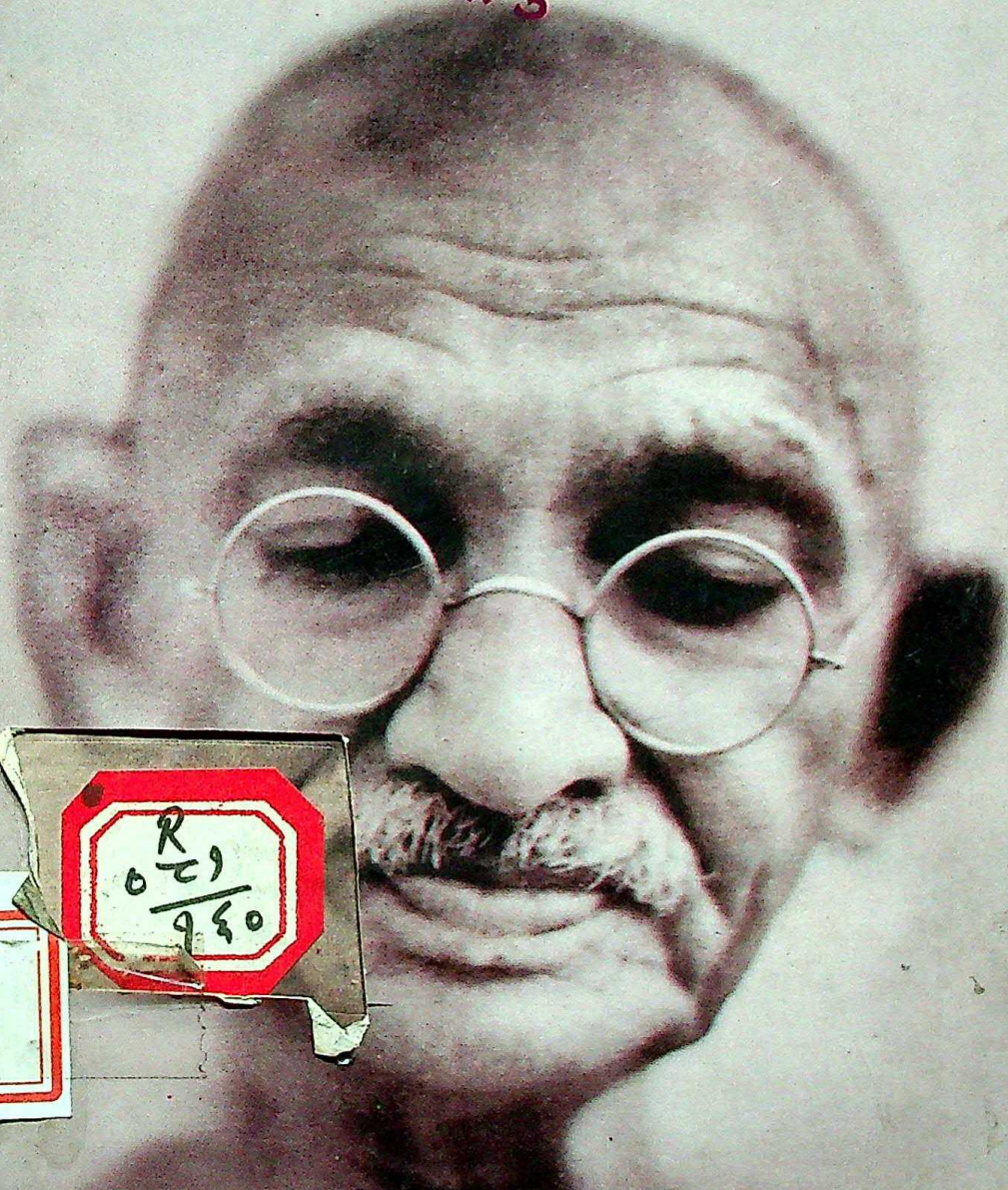


गांधी

और हमारा समय

जैनेन्द्र कुमार



R
0-29/160

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

120517

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

R
0-21/1960

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.....

120517
आगत संख्या.....

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित
३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए
अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से बिलम्ब दण्ड लगेगा।

गांधी और हमारा समय

पुस्तकालय श्री गुरुकुल

गांधी और हमारा समय

जैनेन्द्र कुमार

R081/160



120517



प्रश्नकर्ता
रामावतार

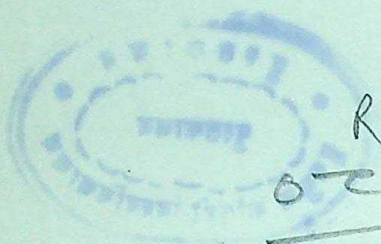
120517



पूर्वोदय प्रकाशन

7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।



□ मूल्य : 200.00 □ संस्करण : 2001 □ © प्रदीप कुमार □ आवरण चित्र : गांधी स्मारक संग्राहलय, नई दिल्ली □ प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
□ अक्षर संयोजक : निधि लेजर प्वाइंट, दिल्ली-32 □ मुद्रक : त्रिवेणी ऑफ़सेट, दिल्ली-32

GANDHI AUR HAMARA SAMAYA
(Gandhi and Our Times : A Metaphysical Discourse)
By JAINENDRA KUMAR

कुछ शब्द

...अनेक प्रसंगों में गांधी के नाम का उल्लेख आ गया है। जिज्ञासु रामावतार की पीढ़ी को वह रूचिकर स्यात् न हो। गांधी जो उनके पहले हो चुके; वे उनके लिये ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक हैं, जीवन काल के नहीं हैं। पर मैंने गांधी को जीते भी देखा था, वह जीवन उनका अपना रहा नहीं, फलतः गांधी-व्यक्तित्व आकाश सा व्याप्त और विराट होता चला गया। निजता की कुंजी से वह खुलेगा नहीं, अपनी समग्रता में मानों वह चित्-तत्त्व के प्रयोग-परीक्षण का ही दृष्टान्त था। इससे जहां चिन्मय धर्म-सत्य की स्पष्टता की आवश्यकता हुई है, वहां गांधी का उद्घरण सहायक प्रतीत हुआ है; अन्यथा जैसे बात प्रत्यक्ष न हो पाती।

जैने ३ अगस्त

आर्य समाज

आर्य समाज का उद्देश्य है कि सब लोग एक-सा हो सकें और
सबके दिल में प्रेम और सद्भाव हो सके। यह समाज
हमारे देश के लोगों के बीच फैलाया गया है। इस समाज
के लोग सबके साथ मिलकर काम करते हैं। इस समाज
के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।
इस समाज के लोग सबके दिल में प्रेम और सद्भाव फैलाते हैं।

१९०६ ई.

अनुक्रम

1. पूंजी, उत्पादन और श्रम

13-68

पूंजी : मात्र प्रतीक 13, भारत की प्रकृति के अनुकूल गांधी मार्ग 13, आय और व्यय की सीमा निर्धारण अपर्याप्त 14, कानूनी रोकथाम व्यर्थ 15, श्रम का हक 15, हड़ताल की राजनीति 15, मनुष्य की असली पूंजी श्रम 16, मजदूर ही मालिक 17, सत्याग्रह का अनिष्ट दिवा सीमित 17, सत्याग्रही हिंसा झेलता है 18, मूल्य : सत्य की प्रस्थापना का आधार 18, सत्य-असत्य 19, साध्य को शुद्ध सिद्ध करने की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं 19, साधन-शुद्धि पर ही आग्रह 19, साध्य और साधन की सापेक्षता 20, नेतृत्व का आयात नहीं, उदय 21, श्रम-नेता की निष्ठा 21, स्थिति और गति के संघर्ष में विकास 21, नीचे के निरंतर दबाव से ही प्रशासन गतिशील 22, कमेटी, कमीशन आदि यथास्थिति बनाए रखने के निमित्त 23, अफसरी अपमान बनाम भद्र अवज्ञा 23, हिंसक विद्रोह प्रगति नहीं, अगति का साधन 23, हिंस्र विद्रोह अधिक कड़े शासन का आमन्त्रक 24, विनम्र अवज्ञा—एक नई प्रतिकार शक्ति 24, एक अंतर्राष्ट्रीय और तात्कालिक महत्त्व का प्रश्न 25, आदमी सस्ता, पूंजी महंगी 25, श्रमिक की विवशता और अर्थपति का अवसर 26, योजनाएं आंकिक से मानविक हों 27, निजी और सार्वजनिक उद्योग—सहयोग का औचित्य 28, निजी और सरकारी लोभ का इलाज 28, सार्वजनिक उद्योग में लाभ कम क्यों? 29, समाजवाद व्यवस्थात्मक नहीं भावात्मक 29, साम्यवाद में क्यों रहे, तथ्य में क्यों न हो? 30, सम्पत्ति का प्रश्नवाद का नहीं मनोगत यथार्थ का 31, यन्त्रीकरण : मानव स्वयं एक अत्युत्तम यंत्र 31, राजशक्ति स्वयं में अप्रतिष्ठ केवल जनशक्ति द्वारा प्रतिष्ठित? 32, मानव-निरपेक्षता में पदार्थ निर्मूल्य 32, विकेन्द्रीकरण और सामूहिक उद्योग 33, मूल प्रश्नरूप रचना नहीं, भावोदय का 34, समाज-शरीर के संबंध में यथोचित नीति-निर्णय 34, सरकारीकरण

या राष्ट्रीयकरण में समस्या का हल कहाँ ? 35, आध्यात्मिक आधार के बिना व्यवहार-दर्शन अधूरा 36, नयी सभ्यता का आह्वान 37, मनुष्य सबुद्धि यंत्र 37, कबीले से राष्ट्र तक, अब और आगे 38, दिल-दिमाग का तलाक आगे असम्भव 38, प्रगति और विकास का द्वंद्वात्मक मंत्र 39, उत्पादन में प्रतिस्पर्धा का समर्थन 40, उपभोक्ता का स्थान गौण 41, मुद्रा बीच में न आए 41, अर्थ-वैभव की अतिसम्पन्नता से ऊब की प्रतिक्रिया : हिप्पी जन 42, स्वाश्रयी श्रमिक का महत्त्व 43, सेवा और स्नेह की भावना का विकास 43, राष्ट्रीयकरण : एकाधिकार और प्रतिस्पर्धा 44, वर्णाश्रम धर्म : परमार्थ और पराक्रम के बाद ही पैसा 45, वणिक्-सरकार 45, धन में सत्ता के आरोप से जीवन-मूल्यों का विपर्यय 46, प्रशासन से प्रबल जनमत का अंकुश 47, लोक-मानस में परमार्थ प्रतिष्ठा पाएं 48, असीम आवश्यकता नहीं, तृष्णा होती है 48, उत्पादन-योजना देश की आवश्यकता से जुड़ी हो 48, होड़ आवश्यक नहीं 49, 'नेशनल' की जंगह 'ह्यूमन इकोनोमी' का आरंभ अथवा विकेन्द्रीकरण 49, शारीरिक श्रम की आवश्यकता 50, सिक्के और श्रम की खींच-तान 50, ग्रामीण युवक और आज की चुनौती 52, मूल प्रश्न मुद्रा और मनुष्य का संबंध 52, सिक्का मात्र श्रम का प्रतीक 53, हृदय और बुद्धि के सहयोग का भी सवाल 54, भूखे को पर का उपकार नहीं, निज का अधिकार मिले 55, हमारा ऐश दूसरे की भूख का कारण 56, भावुकता का सहृदयता में संस्कार 56, अध्यात्म चेतना कर्तृत्व और उपकार के अहं-विकार से मुक्त 57, सृष्टि की अभिमुखता में सृष्टि की पराङ्मुखता नहीं 58, पैसा भोग का ही नहीं, अब प्रभाव और अधिकार का भी माध्यम 59, प्राण-त्राण की स्थिति में मर्यादाएं स्थगित 59, सम्पन्न-विपन्न के बीच की खाई और रचनात्मक नेतृत्व की अनिवार्यता 59, हमारी औंधी व्यवस्था में नीचे मेहनत कश, ऊपर सफेद पोश 60, मशीन के नीचे दबा आदमी 61, सरकारी नौकरी से बेरोजगारी को बढ़ावा 61, बेरोजगारी का हल—समाज-रचना की भूमिका प्रतियोगी से उठकर सहयोगी बनें 62, उद्योगों के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन 62, युद्ध के बीच से हट जाने पर मशीन और मनुष्य की सहयोगिता संभव 63, आयात-निर्यात की भूमिका 63, शीत युद्ध के निर्माण के चरण 64, उत्पादन आवश्यकता से जुड़ा हो 64, स्वावलम्बन के लिये कर्ज 65, बाजार का मनोविज्ञान और कर्ज देने की अनिवार्यता 65, कानून से आर्थिक विषमता की जड़ें कट या सूख नहीं सकेंगी 66, वैषम्य की यह दरार कैसे पटे ? 66, कानून नहीं, जनमत की प्रबुद्धता आवश्यक 66, मूल्य को सिक्के में से गायब करके मनुष्य में बिठाना

होगा 67, आत्मिक क्रान्ति और आर्थिक समस्यायें 67

2. क्रान्ति और शांति

69-87

क्रान्ति, सतत क्रान्ति, अहिंसक क्रान्ति 69, क्रान्ति की आवश्यकता 70, क्रान्तिकारी कौन मजदूर या किसान ? 71, अखण्ड और समग्र क्रान्ति 73, सच्चा नेता ? 74, झूठी क्रान्ति 74, सैनिक क्रान्ति 74, सांस्कृतिक क्रान्ति 74, क्रान्तिकारी संस्कृति 75, शब्दों की खींच-तान 75, शान्ति के लिए क्रान्ति ? 76, अखण्ड और शान्त क्रान्ति 77, शांति : धर्म के साथ अर्थ और काम से भी युक्त 78, संघर्ष की अनिवार्यता 80, आध्यात्मिक शान्ति का स्रोत 81, मन की शांति 82, अर्थ-युद्ध 83, हम और विश्वशांति 84, युद्ध और हिंसा की विवशता 85, एक नये जनमानस का उदय 85, विधायक आधार की आवश्यकता 86, चर्खा और खदर : मानवीय आधार 86

3. चीन और पाकिस्तान

88-95

शक्ति और न्याय 88, राजनीति में शक्ति की जय 88, देश की अन्तर्बाह्य शक्ति के लिये एक 'विज्ञान' की आवश्यकता 89, विमान काण्ड 89, शस्त्र-बल का विकल्प 90, झगड़े की जड़ 91, धर्म का आवास—मनुष्य का मन 91, गांधी का उपहार 92, कश्मीर समस्या 92, इस्लाम के नाम पर देश का विभाजन 93, सियासत के पास इलाज नहीं 93, हिन्दू भारत और रा० स्व० से० संघ 94

4. भौगोलिक सीमा और वाद का विवाद

96-140

विचार और भौगोलिक सीमा 96, वस्तु की विदेशी होने मात्र से श्रेष्ठता स्वीकारना दासता का लक्षण 96, धर्म-मूल्य, अर्थ-मूल्य और श्रम-मूल्य 97, स्वदेशी-विदेशी का अर्थ और उदारता का रूप ? 99, स्व-पर के समन्वय से परम की सिद्धि 99, स्वदेशी भौगोलिक नहीं नैसर्गिक की आध्यात्मिक व्याख्या 100, विचार में स्वदेश-विदेश असंगत, संगत मनुष्य 101, मार्क्स-लेनिन के विचार अपर्याप्त 102, शोषण का प्रश्न आर्थिक से गहन 102, शोषक-शोषित का निर्णय और मूल्य परिवर्तन की आवश्यकता 103, जीवन में धर्म और युद्ध की एक साथ साधना 104, दूसरों के प्रति क्षमा से हम अपनी धर्म-निष्ठा में दृढ़ रह सकते हैं—105, त्याग : स्थूल, सूक्ष्म का भेद और व्यवहार की भाषा 105, जन युगीन पुरुषार्थ को चुनौती 107, राजकीय शब्द-जाल में नहीं, मनुष्य में विश्वास की आवश्यकता 107, आत्म-शक्ति

का परिज्ञान और अस्तित्व का प्रश्न 108, मूल्य-परिवर्तन के लिये विशिष्ट वर्ग सामान्य बने 110, समाजवाद, साम्यवाद से अगला कदम अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप 112, तप-त्याग अपरिग्रह नहीं 112, सद्भाव में से अपरिग्रह स्वयं फलित 113, वैषम्य को दूर करना है, वैविध्य को नहीं 113, गांधी की आस्था 114, व्यावहारिकता का प्रश्न 114, सम्यक् दर्शन का उदय 115, समाधान शक्ति में नहीं 116, गांधी और उनके अनुयायी 117, क्या गांधी की आंच से हमें अपनी हांडी ही पकाना है 117, हिंसक उपाय मानव-वृत्ति के प्रतिकूल 118, जीवन अनन्त और मृत्यु उस अनन्तता का द्वार 118, समर्पित और शहीदी जीवन 119, प्रेम की पीड़ा 119, इतिहास गांधी पर नींव रखेगा 120, गांधी-तत्त्व का अवमूल्यन 121, सर्वोदय-विचार 121, सर्वोदय में अहं का विसर्जन आवश्यक 122, बिना अस्त के सर्वोदय कैसे? 122, शोषक और शोषित का उदय 123, हर शोषक शोषित भी 123, समाज में सद्भावना 124, आरम्भ अपने से 125, सर्वोदयी जन अपने को परखें 125, गांधी की ललकार 125, फ्यूज उड़ गया है 126, घृणा : प्रेम में पड़ी खटास 127, सर्वोदय का 'दान', यज्ञ और समाज-परिवर्तन 127, नए-पुराने का चक्कर 128, परिवर्तन सहज और आन्तरिक प्रेरणा से 128, सर्वोदय और साम्यवाद 129, सर्वोदय साम्यवाद से प्रबल 129, चर्खा और शरीर श्रम 130, चर्खा प्रार्थना जितना महत्त्वपूर्ण 130, विनोबा का सूक्ष्म प्रवेश 130, कोई भी 'वाद' प्रगति में बाधक 131, जाति-व्यवस्था का राजनीतिक उपयोग 131, जातीय भाव का बिखराव 132, जाति-बिरादरी की मानवीय भूमिका 132, समाजवाद, असामाजिक मनोभाव जगाने में सहायक 133, समाजवाद की महिमा और सीमा 133, व्यक्ति के लिये आत्मीयता का बोध आवश्यक 134, मनुष्य इयत्तावाद से ऊपर 134, अस्पृश्यता और ऊंच नीच : प्रश्न कर्म-क्षेत्र से अधिक भाव-क्षेत्र का 135, प्रश्न में अर्थ-वैषम्य का सहयोग 135, चर्खे और ग्रामोद्योग का सार 135, सही मानव-समाज के उदय की दिशा 136, समाजवाद या समाजधर्म 137, अर्थ-वाद की व्यर्थता 138, जाति-बिरादरी का विकल्प 138, राजनीति में जाति-बिरादरी 139, सही सामाजिकता के विस्तार की राह में बहुत बड़ी बाधा 139

5. अधिकार सत्ता

141-151

अधिकार की चेतना 141, दो ध्रुव 141, राजसत्ता से भी बड़ी सत्ता 142, अखण्ड चेतना 142, राजनीतिक चेतना-विघटनकारी चेतना 143, मन की

एकता में बाधा 143, राजनीति-औचित्य विचार से दूर 144, राजनीति का अधूरापन 144, अध्यात्म और राजनीति 145, मनुष्य वस्तु नहीं, आत्मवान प्राणी 145, साध्य—राज या नीति? 146, ऋजु राजनीति 146, कूटनीति : एक ऊंची कला 146, संयम का महत्व 147, दुर्भाव मुक्त गांधी 147, हमारी विदेश नीति : तटस्थता के लिए आत्मनिर्भरता आवश्यक 148, उत्पादन-उद्योग मुद्रा के बजाय मानव केन्द्रित हो 148, परमुखापेक्षी की तटस्थता झूठी 149, स्वावलम्बी तटस्थ राष्ट्रों का संगठन: एक बड़ी शक्ति 150, ये उलझनें—गांधीनीति से भटकने का परिणाम 150

6. समाज और संभावना

152-188

समाज और हम : सवाल अस्तित्व का? 152, समाज की अनुगामिता में गति-विकास असिद्ध 152, समाज शब्द अंतिम या आदर्श नहीं 153, असामाजिकता : अवरुद्ध मानस की प्रतिक्रिया 153, समाज का तट 154, भीतर भाव, बाहर कृत्य 155, भाव और कर्म में अजस्र सम्बद्धता 155, संपत्ति और पद-प्रतिष्ठा 156, भला-बुरा और चलन का खोटा मूल्य 157, दोष अपने में ढूंढें 158, दायित्व का प्रश्न और सद्भाव में से समीक्षा 158, आदर्श अस्तित्व में नहीं आता 159, उन्नत समाज के व्यवहृत मूल्य : अहिंसा और असंग्रह 160, समाज और व्यक्ति अलग तत्व नहीं 160, कर्म में अन्तरंग की उपेक्षा गलत 161, व्यक्ति-निरपेक्ष समाज विचार अपने फल में विफल 162, लेकिन व्यक्ति तो समाज नहीं है? 162, अस्मित्व की बाधा और सत्य का आकलन 162, समाज-सुधार और समाज-सुधारक 163, रचनात्मक और प्रशासनात्मक 164, समाज-सुधार और लोक-सेवा मानो व्यवसाय 164, भावशोधन की आवश्यकता 165, संस्थावाद : एक रोग 165, आज का विद्रूप और भावी मानव 166, वृद्धावस्था का कष्ट 166, वृद्ध की अक्षमता 167, परिवार का वर्तमान : वृद्ध का भविष्य? 167, सामाजिक अनुपयोगिता 168, वार्धक्य का भत्ता 168, सही निदान धर्म-व्यवस्था में 169, परिवारवाद में से पूंजीवाद 169, वृद्ध का उपयोग 171, भीख और भिखारी 171, भीख और भिक्षा का अन्तर 172, भिक्षुक की जीविका वरेण्य 172, समाज का कोढ़ 173, वर्ग-विहीन समाज रचना और उसका औचित्य 174, भिन्नता और विविधता 174, मनुष्य और पशु में अन्तर 174, संहार में संरचना की सहज शक्ति 175, सत्य का प्रेमपूर्ण आग्रह 176, तर्क और आस्था 176, श्रेणी भेद और ऊंच-नीच 177, मार्क्स के चिन्तन की त्रुटी 178, प्रोलतारियन डिक्टेटरशिप 178, केंद्र में मनुष्य हो,

12 / गांधी और हमारा समय

मशीन नहीं 179, पार्टी-राज्य और निरंकुश शासन 180, शासन-मुक्त समाज;
सर्वोदय-चिंतन की अस्पष्टता 180, गांधी की कल्पना; प्रशासन केवल
व्यवस्थागत 180, पार्टीज्म 182, दल द्वंद्व और राजचक्र 182, धर्म की कसौटी
183, विश्वेकराष्ट्र 183, कठिनाई 183, विश्व-राष्ट्रीयता और विश्व-मानवता
184, राष्ट्र-व्यवस्था से आगे 184, राष्ट्र : प्रतियोगी से सहयोगी-नीति की
ओर 180, विश्व मानवता का उदय 186, सैन्य-शस्त्रविहीन सत्ता 186, जन-
बल की अजेय सत्ता 187, विश्व-मत सर्वोपरि 188

1. पूंजी, उत्पादन और श्रम

- भारत की प्रकृति
- आदमी सस्ता, पूंजी महंगी
- नई सभ्यता का आह्वान
- जीविका की समस्या और आँधी व्यवस्था
- श्रम का हक और सत्याग्रह
- उद्योग और विकेन्द्रीकरण
- उत्पत्ति और बाजार

पूंजी : मात्र प्रतीक

तेजी से उत्पादन बढ़ाने और देश की आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने के लिए पूंजी चाहिए। लेकिन यह पूंजी आए कहां से? हम जितना उत्पादन करते हैं उसका इतना उपयोग कर जाते हैं कि बचत को अवसर ही नहीं दे पाते। बस एक ही सहारा दीखता है कि विदेशी पूंजी प्राप्त करें। पर उसमें कठिनाई यह है कि जितनी चाहें उतनी मिल नहीं सकती। और जो मिलती है उसमें ब्याज आदि के रूप में काफी रुपया चला जाता है। इसके एक दबाव भी हमारे ऊपर रहते हैं। ऐसी स्थिति में पूंजी जुटाने के लिए क्या करना चाहिए?

—जिसको पूंजी कहते हैं वह प्रतीक मात्र है। अर्थात् उससे इतने परिमाण में जन-श्रम जुट सकता और इतनी राशि वस्तु प्राप्त हो सकती है। तो अमुक संख्यक व्यक्ति, साधन और वस्तु की मात्रा के प्रतीक को पूंजी कहते हैं। जन-शक्ति हमारे पास काफी अतिरिक्त है और कच्चा माल भी भारत के पास कम नहीं है। तो इसी को पूंजी में क्यों परिणत नहीं किया जा सकता? धन पूंजी हैं तो जन और बड़ी पूंजी है।

भारत की प्रकृति के अनुकूल गांधी मार्ग

यह बात सच है कि हमको राष्ट्र के रूप में मितव्ययी बनना सीखना होगा। हर फिजूलखर्ची और बर्बादी से बचना होगा। दूसरे क्या कहेंगे, इस डर और लिहाज में हमारे मंत्री, अफसर, नेता, दूतावास आदि ऐसे ऊंचे खर्च के स्तर पर रखे जाते हैं जो भारत जैसे देश के लिए व्यंग माना जा सकता है। सादे रहने-सहन के साथ भी ऊंचे से ऊंचा चिन्तन चल सकता और बड़े से बड़ा दायित्व निबाहा जा सकता है। गांधी अपने जीवन

14 / गांधी और हमारा समय

से उसका उदाहरण प्रस्तुत कर गए हैं। उनकी सलाह थी कि भारत की स्वराजी सरकार आज की चकाचौंध की होड़ में न पड़े और नया दृष्टांत प्रस्तुत करे। वैसा नहीं हुआ और हम गले तक कर्ज में डूबे हैं। जिस ढंग से हमारा विचार चला है और योजनाएं बनी हैं, वह भारत को अनुकूल नहीं पड़ा। भारतीय प्रकृति दूसरी रही है और उसकी अनुकूलता गांधी मार्ग में थी। स्वराज्य के पास आते ही गांधी को और उनके मार्ग को कांग्रेस ने छोड़ दिया और देश के लिए एक तरह से मुसीबत मोल ले ली। गांधी का बल साधारणता और सादगी पर इसलिए था कि हर देशवासी उस स्वराज में अपने को भागीदार अनुभव कर सके। स्वराज जो मिले वह दिल्ली में कुछ लोगों तक फंसा न रह जाए बल्कि वह गांव-गांव और घर-घर पहुंचे। वैसा हो पाता तो भारत की जनसंख्या ही उसकी अपार पूंजी बन जाती और देश खुशहाल ही नहीं दीखता बल्कि दुनिया के लिए एक मिसाल बन आता। लेकिन स्वराज पाकर हम जिस राह चले, उसमें जन ही हमारे लिए भारी हो गया और देश की जनसंख्या विकट समस्या हो उठी। उधर अफसर पर अफसर भी बनते गए। सरकार का लवाजमा दस गुना, पन्द्रह गुना, बीस गुना बढ़ता गया और यह हम भूले रहे कि एक अफसर पच्चीस-पचास आदमी जितना भारी होता है। दृष्टि को उस दिशा से अब भी मोड़ा जा सकता और स्थितियों को सम्भाला जा सकता है। अन्यथा साफ ही स्थितियां काबू से बाहर जाती दीखती हैं।

आय और व्यय की सीमा निर्धारण अपर्याप्त

देश को मितव्ययी बनाने के लिए दो रास्ते सुझाए जाते हैं। पहला, आय की सीमा निर्धारित की जाय और दूसरा, खर्च की सीमा निर्धारित की जाय। इन दोनों में से कौन-सा रास्ता आपको ठीक जंचता है? वैसे आय की सीमा निर्धारित करने पर भी खर्च कम नहीं हो सकता।

—सीमा निर्धारण हो कानून के द्वारा, यही न? तो वैसे कुछ नहीं होगा। मितव्ययिता का उदाहरण पहले उन लोगों को अपने जीवन में प्रस्तुत करना होगा, जिनकी ओर लोग आंख उठाकर देखते हैं, जो प्रभावशाली और नेता माने जाते हैं। वैसा नहीं होता तो आय और व्यय के सीमा-निर्धारण से कोई लाभ होने वाला नहीं है। आय की सीमा तो तरह-तरह के करों द्वारा अब भी बंधी हुई मानी जा सकती है। लेकिन उससे क्या अभीष्ट परिणाम आ सका है? करों से बचा जा सकता है और अफसरों के वेतन-भत्ते इस ढंग से रचे जा सकते हैं कि वे उस गिरफ्त से बचे रहें। नहीं, उस ढंग से नहीं चलेगा। गांधी जी का सुझाव था कि देश के प्रथम श्रेणी के नेता-पुरुष जनसामान्य में सेवक बनकर रहें। अर्थात् वे जन साधारण के समकक्ष ही दिखाई दें। कांग्रेस को लोक-सेवक संघ में परिणत हो जाने का उन्होंने आह्वान दिया था। अगर वैसा होता तो राजन्य जनों का आज कः यह भेद और मान मुसीबत पैदा करता न दीखता। भारतीय गणतन्त्र तब पक्की

बुनियाद पर होता और हर नागरिक को अनुभव होता कि राज में उसकी भी आवाज है, उसका भी हाथ है। हर प्रजाजन दूसरी ओर से शास्ता भी है। इस प्रकार के जनतन्त्र में राजा-प्रजा का भेद मृतप्राय हो चुका होता। पर वैसा हुआ नहीं। सेवा की ओर उस संगठन का मुँह नहीं मुड़ा जिसके सामने हुकूमत थी, और देशभक्त कांग्रेस सत्ताधारी होने के साथ श्रद्धाभाजन की जगह उत्तरोत्तर निन्दा-पात्र होती चली गयी। प्रजा के लिए कांग्रेसी लोगों ने यदि कष्ट सहे तो राजा बनने के बाद उसके नेता वर्ग को एवज में सब सुखभोग मिल गया। परिणाम हुआ कि जिस पुण्य की पूँजी से भारतीय स्वराज का आरंभ हुआ था, देखते-देखते वह क्षय हो गयी। आज देश दिवालिया सा हुआ पड़ा है।

कानूनी रोकथाम व्यर्थ

नहीं कानूनी रोकथाम से नहीं चलेगा। जीवन की दृष्टि में और कलेवर में आमूल परिवर्तन लाना होगा। शासक को सेवक बनना सीखना होगा। तब मितव्ययिता दुर्लभ न होगा और दृष्टिकोण विधायक और रचनात्मक होगा। आर्थिक सहायता की पूँछ में राजनीतिक प्रभाव आए बिना नहीं रह सकता है। पराधीनता के वैसे प्रभाव से मुक्त होने के लिए स्वावलम्बी उत्पादन-नीति पहली आवश्यकता है। किन्तु इसके लिए हमारी वैदेशिक नीति को ऐसा होना होगा कि पड़ोसियों से तनाव न रहे और प्रतिरक्षा का व्यय एक सीमा में ही रह सके। उसका दबाव रचनात्मक प्रवृत्तियों पर बहुत बोझिल न हो पाए।

श्रम का हक

मजदूर जब अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए मालिक से प्रार्थना करता है और वह उसे टाल जाता है तो उसे क्या करना चाहिए? क्या उसे हड़ताल का सहारा लेना चाहिए?

—मजदूर अपने श्रम का तो मालिक है, सिर्फ वेतन के नाते ही मजदूर है। अगर वह देखता है कि अपना श्रमदान करने की मनोदशा में ही वह आ नहीं पाता, इतना कम वेतन पाता है, तो उसे असहयोग करने का हक है। अपना श्रम देने से तब वह इंकार कर सकता है। यदि यह असहयोग सम्मिलित हो सका, जैसा कि अधिक संभव है, तो कारखाने की क्षति होगी। किंतु जिम्मेदारी उस हानि की मजदूर की नहीं रहती, समझे जाने वाले कारखाना-मालिक की हठ की हो आती है।

हड़ताल की राजनीति

ऊपर असहयोग कहा है, हड़ताल शब्द को नहीं दोहराया गया है। कारण, अक्सर हड़ताल के पीछे एक तीसरा तत्व भी रहता है। जो न मजदूर होता है न महाजन। यह

16 / गांधी और हमारा समय

राजनीतिक तत्त्व हड़ताल के लिए भड़काकर उस आंच पर अपनी हांडी पका ले जाया करता है। हड़ताल द्वारा (माने जाने वाले) मालिक पर दबाव डलवा कर अपनी सत्ता बनाने और इस तरह लगातार मजदूर महाजन के बीच वैमनस्य और विग्रह बढ़ाते जाने की उसकी चेष्टा रहती है। अक्सर मजदूरों की मजदूरी और चंदे में से इन तत्त्वों का भरण-पोषण चलता है। इन ट्रेड यूनियनवादी हड़तालों में केवल अधिकारों पर जोर रहता, कर्तव्यों के प्रति सर्वथा उपेक्षा हुआ करती है। वामपक्षीय मनोवृत्ति मजदूर के निकट यह स्पष्ट दर्शन नहीं पहुंचने देती कि जैसे एक पक्ष पूंजी लगाता है, वैसे ही दूसरा पक्ष अपनी ओर से श्रम लगाने वाला है। कारखाना दोनों के सहयोग से चलता है। कारखाने की समृद्धि में दोनों का ही हित है और किसी एक की क्षति में दूसरे की भी हानि ही है। कारखाने के व्यवस्थापक की भी अपनी समस्याएं और मर्यादाएं हैं। कहे जाने वाले मजदूरों में चेतनता और विवेक जगाया जाना चाहिये कि वे उद्योग और व्यवसाय के दूसरे पहलुओं को भी समझ में ले सकें। यह न करके केवल विद्वेष भड़काया जाता और उनमें हीनभाव या विद्रोह भाव तीव्र किया जाता है। इससे श्रमिक में संभावित व्यक्तित्व उभर नहीं पाता और वह परमुखापेक्षी बनता है। अभी तो सत्ता की ओर से श्रम-कल्याण अधिकारी जैसा कोई अफसर आकर उसके निमित्त न्याय का फैसला किया करता है। अधिकांश वहां भी शक्ति-परीक्षण के आधार पर निर्णय होता है। यदि श्रमीजन प्रबुद्ध हो आएँ और व्यवस्था संबंधी हिसाब-किताब की बारीकियों को वे भी समझने लग जाएँ तो अफसर की आवश्यकता के बिना भी मजदूर-महाजन दोनों मिल कर सीधे न्याय निर्णय पर पहुंच सकते हैं। असल में श्रम-संगठन के पीछे रही राजनीतिक दृष्टि श्रमिक के हित से अधिक उसके राजनीतिक उपयोग पर ध्यान रखती है। इसमें श्रमिक में स्वाधीन चेतना पैदा होने की संभावना नहीं जागती और वह आखेट बना रहता है। आखेट इधर धन-पति का, उधर दलपति का।

मनुष्य की असली पूंजी श्रम

सच में तो यह सम्यक् दर्शन सुलभ बनाया जाना चाहिए कि मनुष्य की असली पूंजी श्रम है। श्रमिक ही सच्चा उत्पादक और समाज का हितकर्ता है। श्रम में से धन पैदा होता और इसलिए धनिक श्रमिक से दायम ही हो सकता है। परिस्थिति वह कृत्रिम है जहां धनिक प्रधान और श्रमिक अधीन बना दीखता है। यह परिस्थिति समाज के राजकेन्द्रित होने और होते जाने के कारण बनती है। समाज जैसे-जैसे राज्यीकृत एवं राज्य-केंद्रित से मानवीकृत और मानव केंद्रित होगा उतनी ही यह कृत्रिम परिस्थिति दूर होती जाएगी और बुद्धिजीवी वर्ग श्रम जीवी के ऊपर हावी नहीं हो सकेगा। अभी तो बौद्धिक और शारीरिक कर्म के बीच एक गहरी खाई बन गयी है। धीरे-धीरे श्रमिक अपनी जगह निरक्षर और नासमझ नहीं रहेगा और तब बौद्धिक के लिए शरीर श्रम से बचने का

अवकाश भी नहीं रह जाएगा। अभी तो हिसाब-किताब की चतुराई का एक ऐसा जाल फैला है कि बिना किए पूँजी वाले के पास सब सुविधाओं का संग्रह होता जाता है, उधर दिन-रात पसीना बहाकर भी श्रमिक के पास खाने को नहीं जुट पाता। हड़ताली नीति के सहारे ही यह स्थिति दूर नहीं होने वाली है। बल्कि उस राह तो वह हालत भी आ सकती है कि हड़ताल का अधिकार ही मजदूर के पास न रह जाए। हड़ताल जब तक एक राजनीतिक हथियार है, तब तक श्रमिक के अपने हाथ के वश का नहीं रहता और उस द्वारा श्रमिक का अकल्याण ही अधिक होता है। उस राह तो मजदूर को अंत तक मजदूर ही बने रहना होगा। किंतु वह तो सही तर्क से निर्माता है, विभु है, अपने श्रम का स्वामी है। यह उसका स्वामित्व सिद्ध और उपलब्ध तब होगा जब समाज सत्ता का अपना स्वतंत्र अधिष्ठान हो सकेगा और राजसत्ता प्रत्यक्षतः उसके अधीन होगी। उस समाज के केंद्र में मानव मूल्य और मानव व्यक्ति की निरपेक्ष प्रतिष्ठा होगी तब मनुष्य किसी राजनीति का साधन न रह जाएगा बल्कि स्वयं में वह हर नीति का साध्य होगा।

मजदूर ही मालिक

मजदूर को यदि महाजन का सहयोगी और समकक्ष बनना है, हमेशा के लिये प्रार्थी मजदूर ही नहीं बने रहना है, तो उसे अपने कर्तव्य और माल के उत्पादन और क्रय-विक्रय आदि के प्रश्नों को भी ध्यान में लेना होगा। सिर्फ मजदूरी या उसकी बढ़वारी में ही दृष्टि को सिमटाकर नहीं रह जाना होगा। मजदूर सिर्फ पगार का गुलाम नहीं है, वह कारखाने का बुनियादी सहयोगी है। उसमें यह चेतना जग आने की देर है कि वह हड़ताली बनने में ही अपनी सार्थकता नहीं देखेगा, बल्कि अपने नए परिज्ञान में से वह व्यवस्थापक का सहायक और परमर्शदाता भी हो सकेगा। मैं नहीं जानता कि श्रमिक को मैनेजिंग एजेंट या डाइरेक्टर के वेतनमान के निर्णय में भी क्यों न सहयोगी और समभागी होना चाहिए। अगर वह समूचे कारखाने को अपना मान सके तो वह सब लिहाज से कारखाने की व्यवस्था के लिए एक आदर्श परामर्शदाता बन सकता है। मजदूर माने जाने वाले व्यक्ति को अंत में उसी इज्जतदार और निर्णयदार जगह तक पहुंचना है। उसकी राह मार्क्स या लेनिन की मुझे नहीं मालूम होती, वह तो गांधी की ही हो सकती है।

सत्याग्रह का अनिष्ट दिवा सीमित

सत्याग्रही का आग्रह सत्य के बजाय असत्य पर भी हो सकता है, जब कि संभव है सत्य अधिक विपक्ष के पास ही हो?

—हां, माना हुआ सत्य सत्याग्रही का असत्य भी हो सकता है। फिर भी अहिंसा और सविनयता की शर्त रहने के कारण उसमें सिवा स्वयं सत्याग्रही के अनिष्ट किसी

18 / गांधी और हमारा समय

दूसरे का नहीं हो सकता। आग्रह का दंड उस आग्रही के व्यक्तित्व तक ही सीमित रहेगा। सत्याग्रह की यह विशेषता उसको सर्वथा निरापद और विश्वसनीय आयुध बना देती है।

सत्याग्रही हिंसा झेलता है

पर दुराग्रह भी होते हैं और वे सफल भी हो जाते हैं। इसीलिए सत्याग्रह के नाम पर राजनीतिक क्षेत्र में आज जिनका चलन है वे दुराग्रह ही हैं। सफल वे इसलिए हो जाते हैं कि आदमी में भय है और आतंक की चल जाती है। कांग्रेस के सामने, जब स्वराज्य मिलने को था, यही प्रश्न आ खड़ा हुआ था। मुस्लिम लीग अपने आग्रह पर अड़ी थी। कांग्रेस के सामने प्रश्न हो आया कि अपनी अनबन में अब अंग्रेज को क्या कहा जाए। हिंसा से लीग को परहेज न था। वैसी वारदात धड़ाधड़ हो रही थी। तब कांग्रेस क्या करती? गांधी की सलाह थी कि हिंसा से डरकर हरगिज विभाजन मत मान लेना। उनकी सलाह यहां तक थी कि अगर कांग्रेस और लीग की नहीं बनती है और अंग्रेज इसी बहाने टलता नहीं है, तो कांग्रेस कह दे कि तुम जाओ और चाहे तो सब सत्ता लीग को सौंप जाओ। यह सलाह कांग्रेस के गले उतरी नहीं। उसे लगा कि लीग जब हिंसा पर ही उतारू है, तब उसकी अर्थात् विभाजन की बात को मान लेने से देश हिंसा से बच जाएगा और शेष बचे भारत के निर्माण का अवसर भी निर्विघ्न कांग्रेस को मिल जाएगा। लीग का आग्रह सत्याग्रह तो न था, फिर भी आतंक का जोर उसका चल गया और कांग्रेस ने उसे पूरी तरह राह दे दी। परिणाम क्या हुआ? परिणाम घोर से घोरतम हुआ। हिंसा बचेगी ऐसा जो सोचा गया था सो उसका क्रूर से क्रूर रूप फूट कर सामने आया। उतना ही नहीं, विभाजन का वह हल सदा के लिए मानव इतिहास में एक समस्या छोड़ गया। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में कोई नहीं जानता है कि उस समस्या का निबटारा आगे भी कैसे और कब हो सकेगा।

मूल्य : सत्य की प्रस्थापना का आधार

सत्याग्रह के साथ अनिवार्य अहिंसा की शर्त रहने के कारण उसमें ऐसी अनिष्ट कोई संभावना नहीं रह जाती है। यदि उसके मूल में सत्य न भी हो तो भी फल सत्याग्रही पर ही टूट कर पड़ता है। पर मांग न्यायोचित हो, लेकिन उसके समर्थन में यदि आतंक की धमकी भी साथ हो, तो उसका परिणाम कभी शुभ नहीं आ सकता। तब मूल्य सत्य और न्याय का नहीं बल्कि आतंक का ही प्रतिष्ठित बनता है। अर्थात् आतंक के हाथ में ही तब सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय का निर्णय आ रहता है। पर न्याय और सत्य में से अपार कष्ट सहन की क्षमता आनी चाहिए और बलिदान द्वारा ही उन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया

जाना चाहिए। हत्या से सत्य की रक्षा कभी नहीं हुई, बलिदान द्वारा ही उसकी प्रस्थापना हुई और हो सकती है।

सत्य-असत्य

सत्याग्रही सफल हो जाने के बाद अगर सत्याग्रही को यह मालूम हो कि वह असत्य के रास्ते पर था तो फिर उसे उसका पश्चाताप कैसे करना चाहिए?

—ऐसा होना संभव है। सरदार विरावला के मामले में गांधी जी के साथ ऐसा हुआ भी था। गांधी जी अपना पक्ष जीत गए थे लेकिन उन्हें लगा कि जिस साधन से जीते वह सत्य न था। इसलिए उन्होंने पीछे जाकर उस मिली जीत को त्याग दिया और इस तरह प्रतिपक्षी अर्थात् विरावला को एक बड़े अचरज में डाल दिया। सत्याग्रही असत्य से प्राप्त हुए फल को मालूम होने पर तत्काल छोड़ दे सकता है। ऐसे सत्याग्रही का और सत्याग्रह का मान घटता नहीं है, बढ़ ही जाता है।

साध्य को शुद्ध सिद्ध करने की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं

किसी घटना के सत्य और असत्य के निर्णय के लिए उसके साधन को देखना चाहिए या साध्य को। यदि साध्य ठीक हो और साधन अनुचित, तो क्या उसे गलत कहना चाहिए?

—साधन और साध्य एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ हैं, उनको अभिन्न भी माना जा सकता है। साध्य, प्राप्त होने पर, आगे के लिए स्वयं साधन बन जाता है। इसलिए जो प्राप्त है वह तो साधन है। उसी की चिंता प्रथम है। उसी चिंता को अंतिम भी कहें तो अनुचित नहीं, क्योंकि साध्य तो अंत में परोक्ष और मनोनिष्ठ तत्व है। व्यवहार में जो आता है, वह सब साधन है। इसलिए साधन-शुद्धि ही सबसे बड़ा प्रश्न रह जाता है। साध्य को तो शुद्ध सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अंतिम साध्य में किसी के विशेष अंतर नहीं दिखाई देगा। इसलिए झगड़ा साधन का ही रह जाता है। साधन के साथ साधन-शुद्धि उतनी ही अनिवार्य मान लेते हैं तो व्यवहार में एक स्वच्छता आ जाती है। हर एक की मति भिन्न और हित-विचार भिन्न होने से समस्या तो सदा रहेगी। लेकिन साधन-शुद्धि के आग्रह पर एक विशेष प्रकार की सफाई और स्वच्छता जीवन-व्यवहार में आने लग जाएगी।

साधन-शुद्धि पर ही आग्रह

साध्य को साधन से निरपेक्ष बनाकर हम उचित-अनुचित, जा-बेजा के भेद को ही गायब कर देते हैं। अपने साध्य के संबंध में हर कोई निःशंक हुआ करता है। हिंसक युद्धों में पड़े दोनों पक्ष अपने-अपने औचित्य के विषय में पूरे आश्वस्त होते हैं। इसीलिए रण

20 / गांधी और हमारा समय

में लाखों जानों को फूंक डालने से वे डरते कतराते नहीं हैं। तभी उन दोनों पक्षों के बीच सत्य और न्याय का निर्णय कठिन हो जाया करता है। यदि एक पक्ष उनमें से दूसरे की जान लेने या उस पर प्रहार करने से एकदम इंकार कर दे और अपने पक्ष की न्याय्यता के बल पर स्वयं सब बलिदान के लिए उद्यत हो रहे तो क्या यही निर्भीकता और अडिगता उसके पक्ष को अधिक न्यायोचित नहीं प्रमाणित कर देती? मैं मानता हूँ कि आज की परिस्थिति में कोई राष्ट्र इस आस्था और साहस को लेकर खड़ा हो जाए और हमलावर का मुकाबिला शस्त्र के बजाय स्वेच्छित बलिदान से करने डट जाए तो सारी मनुष्य जाति का अंतःकरण हिल आएगा और आक्रामक शक्ति को वापस जाना होगा। ऐसा न भी हो तो स्वयं बलिदान ही उस राष्ट्र को अमर बना जाएगा और इतिहास निश्चय ही उस देश का उज्ज्वलतर बनेगा।

साध्य और साधन की सापेक्षता

कभी-कभी साधन गलत होने पर भी उस काम को हम ठीक मान लेते हैं। उदाहरणार्थ, एक जंगल है। वहां गाय को मारने के लिए कोई कसाई उसका पीछा करता है। एक संन्यासी से पूछता है; “गाय को इधर जाते हुए आपने देखा है?” गाय की जान बचाने के लिए संन्यासी झूठ बोल देता है कि गाय इधर से नहीं, उधर से गयी है। यों गाय की जान बचती है। क्या संन्यासी का यह काम अनुचित था?

—गाय की जान बचाना ही अभीष्ट हो तो संन्यासी का कसाई को दूसरी राह पर डाल देना अनुचित नहीं रह जाता। लेकिन कसाई और गाय के बीच व्यवधान डालकर ही वहां गाय की रक्षा की गयी न? कसाई के मन में ही गाय की रक्षा आ जाए, गाय का वध उस मन में से निकल जाए, अगर संन्यासी का यह उद्दिष्ट रहता तो झूठ बतायी राह की रीति उस प्रयोजन से उतनी संगत न ठहरती। संन्यासी अगर वह पूरा होता, अधूरा न होता, तो उसका प्रयोजन मात्र गाय की तत्काल नहीं बल्कि नित्य रक्षा से ही सिद्ध हो पाता। अर्थात् प्रश्न का विचार संदर्भ-निरपेक्ष नहीं होता, उसका निर्णय संदर्भ की अपेक्षा ही हो सकता है। गौ की तत्क्षण रक्षा तक ही प्रश्न सीमित हो तो कसाई को गलत राह पर डाल देना संन्यासी के लिए शुभ बन जाता है। प्रयोजन किंतु उससे आगे भी जा सकता है, वह अधिक व्यापक हो सकता है। तब उसमें से कुछ दूसरा आचरण भी श्लाघ्य बन सकता है। साध्य साधन की अभिन्नता वैसे चाहें तो आप इस उदाहरण में भी सिद्ध देख सकते हैं। इसमें हिंसा का बचाव तो हो सका है, अहिंसा की सिद्धि नहीं हुई है। और जिसका बचाव हुआ है वह हिंसा भी स्थूल है, कसाई के मन में से तो वह दूर हुई ही नहीं है। अगर हिंसा का उन्मूलन संन्यासी को अभीष्ट होता तो बधिक को उल्टी राह भेज देने से वह प्रयोजन सध नहीं सकता है। उस साध्य की अपेक्षा तब अपनाया गया झूठ का साधन भी यथेष्ट और उपयुक्त नहीं ठहरेगा।

R-211160

पूँजी, उत्पादन और श्रम / 21

नेतृत्व का आयात नहीं, उदय

मजदूर इस बात के लिए मजबूर है कि वह किसी बाहरी (नेता) के हाथ में नेतृत्व दें, क्योंकि वह कम पढ़ा-लिखा होता है और अपने मालिक के दांवपेंच से निबटने में असमर्थ होता है। उस समय बाहरी नेता उसकी सहायता करता है और वह उसका नेतृत्व सहज ही स्वीकार कर लेता है। इसके सिवा उसके पास और रास्ता ही क्या है ?

— ठीक है, अगर वह अपने हितों को स्वयं नहीं समझ पाता है या उसकी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता है तो विवश बाहर से नेतृत्व स्वीकार करता है। उस विवशता के प्रति सहानुभूति हो सकती है, लेकिन मजदूर वर्ग को यह समझना चाहिए कि ऐसे उनका इस्तेमाल और शोषण भी कर लिया जा सकता है। अंत में 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' वाला ही सूत्र काम आएगा।

यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक जन का नेतृत्व लेने वाले को राजनीतिक अथवा दलीय महत्वाकांक्षाओं से उलझा नहीं रहना चाहिए। उसकी वृत्ति और दृष्टि नितांत मानव सेवा की हो, यह आवश्यक है। अन्यथा हम देखेंगे कि श्रमिक को सीढ़ी बनाकर उन पर पैर रखता हुआ दलीय श्रमनेता ऊपर अधिपति जा बनता है, स्वयं श्रमिक बनने के विषय में एक क्षण भी सोचने के लिए नहीं निकाल पाता।

श्रम-नेता की निष्ठा

120517

'डिक्टेटरशिप आफ द प्रोलतारियत' में डिक्टेटरी तक जो लोग पहुंचे वे धीरे-धीरे 'प्रोलतारियत' से बिछुड़ते ही चले गए। क्या हो जाता अगर डिक्टेटरी करते-करते भी गांधी के चर्खे की तरह स्टालिन महोदय कुछ न कुछ हाथ का काम भी अंत तक किए ही जाते। श्रम के मूल्य की निष्ठा ही यदि उनकी आशा की बुनियाद होती तो ऐसा हो सकता था। पर वह बात थी नहीं। वहां तो दृष्टि के केन्द्र में राजनीतिक क्रांति मात्र थी, शायद उससे गहरी जीवन क्रांति और मूल्य क्रांति की चिंता न थी। मजदूर अपने श्रम के स्वत्व और महत्त्व को समझे तो पूँजी के अधीन आने के बजाए वह पूँजी पर विभु बन सकता है। सच्चे श्रम-नेता में इसी निष्ठा की आवश्यकता है, तब यह भी आवश्यक है कि वह इस निष्ठा को श्रमिक वर्ग में जगाता जाए। अन्यथा श्रम का शोषण पूँजीपति द्वारा न होकर, राजपति द्वारा होने लग सकता है। इसमें श्रमिक के मनुष्यत्व और व्यक्तित्व के विकास की असल बाधा दूर नहीं होती। न ऐसे समाज अहिंसक या साम्यभावी बन सकता है।

स्थिति और गति के संघर्ष में विकास

कई मामलों में सरकार की ओर से जांच आयोग बैठा दिए जाते हैं किंतु जब वह

22 / गांधी और हमारा समय

आयोग अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है तो उसकी अवहेलना कर दी जाती है। फिर ऐसे आयोग बैठाने से क्या लाभ?

—जीवन जड़ वस्तु नहीं है। उसमें निरंतर स्पंदन होता और हलचल सी मची रहती है। वह सतत गतिशील है। लेकिन ऊपर से आने-जमने वाली व्यवस्था को स्थितिशीलता में सुविधा प्रतीत होती है। इस तरह स्थिति और गति इन दो विरोधी तत्वों के संघर्ष में से विकास संपन्न होता है। यही कारण है कि जीवन के उत्कर्ष और प्रकर्ष के दो प्रतीक पुरुष अवतरित हुए उन्हें कड़ा मुकाबला झेलना हुआ और अधिकांश को तो इसी में जान तक देनी पड़ गई।

नीचे के निरंतर दबाव से ही प्रशासन गतिशील

तो नीचे से उठते आते हुए जीवन की मांगों के प्रतिकार के निमित्त बैठा प्रशासन क्या करे। कमीशन-कमेटी आदि ही वे उपाय हैं जो काम में लाए जा सकते हैं। कमीशन आदि की नियुक्तियों से प्रश्न का तात्कालिक दबाव तो आसानी से टल ही जाता है। कमीशन में यदि संयोग में स्वाधीनचेता पुरुष कहीं कोई पहुंच गया तो हो सकता है कि रिपोर्ट प्रशासन के सर्वथा अनकूल न भी प्राप्त हो। तब शासन को क्यों उस पर सो रहना नहीं चाहिए! यथास्थिति प्रशासन को अनुकूल होती है, परिवर्तन में कुछ न कुछ झंझट जान पड़ता है। इसलिए परिवर्तन यदि प्रशासन स्वीकार करता है तो नीचे के दबाव के कारण ही। कमीशन की रिपोर्ट पर कार्यवाही तब तक शासन क्यों करे जब तक उसे वैसा करना ही न पड़ जाए। अर्थात् प्रशासन को गति देने के लिए निरंतर नीचे के दबाव की आवश्यकता रहती है। इसी को लोक-चैतन्य की चालना कहना चाहिए। वह नहीं है तो प्रशासन को आत्ममग्न रहने का पूरा हक हो जाता है। जनतंत्र का आशय यही है कि जन-चैतन्य उत्तरोत्तर प्रबुद्ध हो और राजा जैसा ऐश आराम में रहने वाला कोई व्यक्ति ऊपर न चढ़ पाए। राजतंत्र से भिन्न होता है जनतंत्र। जनतंत्र नीचे से बनता और उभरता है। वह चैतन्य में से शक्ति लेता और सृजन करता हुआ उठता है, लेकिन यह तो आदर्श मानिए जिसकी ओर प्रगति को बढ़ते जाना है। राह में जनतंत्र को राजतंत्रात्मक रूप लेकर चलना पड़ता है। सच्चा जनतंत्र जनता में व्याप्त होगा, अलग से उसका कोई लवाजमा नहीं दिखेगा। जब तक राजतंत्र है वह लवाजमा जरूरी है। बल्कि संप्रति तो उस तंत्र का शरीर पृथुल से पृथुल होता जा रहा है। जनतंत्र की दृष्टि से यह शुभ नहीं है, आंतरिक और नैतिक हास ही मानव और समाज-चरित्र का इसमें से घटित होता जाएगा। उससे जीवन में विघटन आएगा और अकेलेपन, विषाद और अवसाद का बोध बढ़ेगा। उसी परिणाम में से यह सभ्यता गुजर रही है।

कमेटी, कमीशन आदि यथास्थिति बनाए रखने के निमित्त

जनता आत्मचैतन्य में उत्तिष्ठ हो तो ही प्रशासन को मानव-विकास की गति में सहायक बनाया जा सकता है। अन्यथा कहे जाने वाले जनतंत्रों में कमेटी, कमीशन आदि के उपायों द्वारा जनमत को सहलाए और यथास्थिति को थामे ही रखा जाएगा। स्थिति और गति में यों तो संतुलन रहना चाहिए, पर चैतन्य का लक्षण गति है और उसका उत्स जनमानस है। ऊपर बैठा प्रशासन, चाहे वह सोशलिस्ट हो चाहे वेलफेयरिस्ट, अपने में ही गर्भित तर्क के तल से उभरती किसी गति-स्फूर्ति को, किसी अभिक्रम को, पसंद नहीं कर सकता है। उसके न्यस्त स्वार्थ बने बिना रहते नहीं हैं और स्वार्थों का उखड़ना किसे पसंद हो सकता है। लेकिन चित् विकास की राह में कोई गड़ें स्वार्थ नहीं रह पाएंगे, उनको उखड़ना और समाज प्रवाह को खुलना ही होगा।

अफसरी अपमान बनाम भद्र अवज्ञा

जब आयोग की रिपोर्ट की सरकार अवहेलना कर बैठती है तो जनता को बड़ा क्षोभ होता है। सरकार की इस मनमानी तथा जनतंत्र विरोधी कार्य रोकने के लिए वह क्या करे?

— जो वह कर सकती है, यानी हो सकता है, उसका नाम है डाइरेक्ट ऐक्शन। एक तरह वह कानून को अपने हाथ में लेना है। कानून सरकार के हाथ की चीज है, उसको अपने हाथ में लेना इसलिए गैर कानूनी हो जाता है और यहीं पर संघर्ष आता है।

संघर्ष का एक रूप वह है जिसे सत्याग्रह कहते हैं। उसमें सरकारी कानून को सरकार के हाथ से छीना नहीं जाता, पर नैतिक और प्राकृतिक कानून को उसके ऊपर मान कर उस पर अवश्य अड़ जाया जाता है। अमुक कानून की सविनय अवज्ञा का स्वरूप इस आग्रह को सहज मिल जाता है। उसे कहिये 'नाफरमानी या सिविल डिस्ओबेडियन्स'। हम खुलकर अमुक कानून की अवज्ञा करते हैं, यद्यपि अवज्ञा सविनय होती है। यदि सरकारी कानून का उल्लंघन किसी उससे ऊंचे और अमोघ नैतिक कानून की रक्षा में होता है तो वह सर्वथा सविनय और शालीन ही हो सकता है। उसमें किसी हिंसा या उत्पात की गुंजायश नहीं रहती। यह गांधी का मार्ग है और इसका राष्ट्रीय उपयोग इतिहास के लिए एकदम नया है। उसमें से जो क्रांति फलित होती है, वह प्रतिक्रांति नहीं उपजाती और वह उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती जाती है।

हिंसक विद्रोह प्रगति नहीं, अगति का साधन

किन्तु डाइरेक्ट ऐक्शन का रूप दूसरा भी है। उसमें विरोध और विद्रोह का भाव ही प्रधान रहता है। इसलिए वहां मुकाबला प्रशासनिक और मानवीय शक्तियों के बीच न रहकर केवल दोनों ओर हिंसा और आतंक की क्षमताओं के बीच रह जाता है। सरकार के

24 / गांधी और हमारा समय

पास संगठित पुलिस और फौज होती है और जनता के पास लाठी, ईंट, पत्थर, आग, फूंक और गोरिल्ला पद्धति रह जाती है। इसमें साफ है कि अंत में बड़ी हिंसा की जीत होती है, मानव और मानवता की हार।

गांधी का मार्ग तो यहां अब बंद दिखता है। इससे परम्परागत हिंस्र 'डाइरेक्ट ऐक्शन' की विधियों का उपयोग जहां-तहां खुलकर किया जा रहा है। कुछ हैं जो एकदम संविधान या सरकार को मानते ही नहीं हैं, बस कोरमकोर विप्लवी हैं। वे जन यदि माओत्सेतुंग का चित्र उठाकर चलते हैं तो अपने को तर्क-शुद्ध क्रांतिकारी मानते हैं। कुछ हैं जो मार्क्सिस्ट कहलाए जाना पसंद करते हैं और वे इधर संविधान को मानकर चुनाव द्वारा धारा सभा में जाते और उधर उसी संविधान को तोड़ने का संकल्प भी रखते हैं। अन्य हैं जो संविधान के भीतर रहते हुए लोकचैतन्य और लोकशक्ति के सहारे परिवर्तन और प्रगति सिद्ध किया चाहते हैं। यह सब विरोध-पक्ष है और प्रतिद्वन्द्विता में सामने प्रशासन पर बैठा ट्रेजरी पक्ष है। ऐसे चीजें चल रही हैं और इसे जनतंत्र का चलना कहा जाता है।

हिंस्र विद्रोह अधिक कड़े शासन का आमन्त्रक

डाइरेक्ट ऐक्शन में निश्चय ही कानून को अपने हाथ में लिया जाता है। कानून की सत्ता सरकार के पास है और अदालत, पुलिस, फौज उसके उपकरण हैं। जो इस लॉ एण्ड आर्डर को अपने हाथ में लेते हैं वे सीधे इस क्षमता के टक्कर में आते हैं। इस टक्कर को जनतांत्रिक किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। वह यांत्रिक मात्र है और दोनों ओर हिंसा का ही आधार रह जाता है। स्पष्ट है कि इसमें से एक अधिक नृशंस, नियंत्रित और सन्नद्ध शासन-विधि ही जन्म ले सकती है। अर्थात् इस स्थिति की परिणति तानाशाही सैन्यतंत्र के सिवा अन्यथा नहीं हो सकती।

विनम्र अवज्ञा—एक नई प्रतिकार शक्ति

किन्तु यदि इतिहास को पीछे नहीं जाना है, आगे ही बढ़ना है, तो गांधी के डाइरेक्ट ऐक्शन वाला उपाय ही जनता के पास अविशेष रह जाता है जिसमें ला एण्ड आर्डर को तनिक भी अपने हाथ में नहीं लिया जाता, बल्कि पूरी तरह उसे सरकार के पास सुरक्षित रहने दिया जाता है। सरकार लाठी, गोली, जेल, फांसी, पुलिस, फौज सबका निर्विघ्न उपयोग कर सकती है और उसका तनिक भी प्रतिकार सविनय अवज्ञाकारी सत्याग्रही के पास से नहीं आता। किसी तरह के ईंट-पत्थर का प्रश्न ही नहीं है। भागने-छिपने का भी प्रश्न नहीं है। सत्याग्रही सिर्फ आत्मिक और नैतिक कानून के आदेश पर सरकारी कानून को मानने से इंकार करता है। इंकार वह अटल है, यद्यपि नम्र भी है। यह उपाय राजनीति में एक नये आयाम को खोलता और एक नयी प्रकार की प्रतिकारात्मक शक्ति का उद्घाटन करता है। उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए किसी को परमुखापेक्षी होने की

आवश्यकता भी नहीं है। वह क्षमता सबके अंतःकरण में पड़ी है और भय मिट जाए तो अजेय और अमोघ हो सकती है।

एक अंतर्राष्ट्रीय और तात्कालिक महत्त्व का प्रश्न

व्यर्थ है यह प्रश्न कि लोकतंत्र में सत्याग्रह का स्थान है कि नहीं। सत्य ही जिसे सहारा है, वह लोकतंत्र में भला असहाय कैसे हो जा सकता है? चुनाव में से अपने दल का वह पार्लियामेंट में बहुमत प्राप्त करे, इस सब झगड़े-बखेड़े का प्रार्थी और बंदी उसे कैसे बनाया जा सकता है। आवश्यक बस इतना भर है कि प्रशासन और प्रशासक के प्रति भी उसमें आत्मीय भाव हो और अवज्ञा और विद्रोह जितना भी हो सब शील-सौजन्य से भरपूर हो।

जो अमुक तात्कालिक सुधार, लाभ या परिवर्तन की लालसा या आवेश में नहीं आ जाना चाहते हैं, बल्कि समाज में अभीष्ट क्रांति लाना चाहते हैं, उन्हें इस प्रश्न पर रुक कर तनिक सोचना चाहिए। यह हिंसा-अहिंसा का कोई तात्त्विक प्रश्न नहीं है। यह सर्वथा सामाजिक और तात्कालिक प्रश्न है। यह मानवीय सभ्यता के आगे जाने अथवा पीछे हटने का प्रश्न है। नैतिक, आध्यात्मिक विशेषणों के सहारे न उसे प्रस्तुत करना और न टालना ही उचित होगा। विज्ञान जहां पहुंच गया है वहां हिंसा के आगे दीवार खड़ी हो आई है। आगे उसके गति नहीं है। इसलिए यह प्रश्न एकदम समाजनीतिक, राजनीतिक, अंतर्राष्ट्रीय और तात्कालिक है। अन्यथा मनुष्य का भाग्य और भविष्य एटमबम के ही हाथ रह जायगा जिससे भयानक अनिष्ट दूसरा नहीं हो सकता।

आदमी सस्ता, पूँजी महंगी

उत्पादन में पूँजीपति और श्रमिक दोनों का हिस्सा बराबर होता है। पूँजीपति अपनी पूँजी लगाता है और श्रमिक अपने श्रम से उत्पादन को बढ़ाता है। लेकिन जब उस उत्पादन से लाभ मिलने लगता है तो पूँजीपति यह नहीं चाहता कि उसके हिस्सेदार श्रमिक को भी उसका लाभ मिले। ऐसी स्थिति में पूँजीपति और श्रमिक के बीच तनाव उत्पन्न होता है और बाद में उसका परिणाम विस्फोटक बनता है। आपके मत से इस समस्या का हल क्या है?

—प्रश्न यह कुछ परम्परागत मूल्यों और बाजार के मूल्यों के समझौते की रेखा और रूप पर निर्भर है। मालिक-मजदूर का संबंध नहीं है, वह न्यायोचित भी नहीं है, इस तथ्य का आविष्कार अर्वाचीन माना जा सकता है। मानवीय विकास के साथ सामाजिक न्याय की हमारी भावना अधिकाधिक प्रबुद्ध और सूक्ष्म होती आई है और होती जाएगी। अर्थात् हो सकता है कि लाभ में श्रमिक को भी सम्मिलित करने के बिंदु से आगे एक दिन न्यायोचित यह दीखने लगे कि मालिकी ही असल में तो श्रम की है। पूँजी देने वाला अपनी अतिरिक्त कमाई में से देता है, जिसका संग्रह आरंभ से ही सही और न्यायोचित

26 / गांधी और हमारा समय

नहीं माना जा सकता। इसलिए पूंजी वाले को तभी और उतना ही भाग लाभ का मिलना चाहिए जब और जितना वह उत्पादन में पसीने का श्रम भी डालता है। यह आगे की संभावना हो सकती है, लेकिन वर्तमान में तो बाजार में आदमी सस्ता है, पूंजी महंगी है। इसके अलावा परम्परा-भाव से हमने पूंजी में मालिकी का हक मान रखा है। जैसे-जैसे उचित दिशा का उद्बोधन जायेगा, आदमी सहसा मजदूरी पर बिकने को तैयार न मिलेगा, वैसे ही वैसे आज के आपसी आर्थिक संबंधों में अभीष्ट परिवर्तन आता जाएगा। ध्यान रखिए कि विकास की प्रक्रिया निरन्तर और सतत सम्पन्न होती जा रही है, इसलिए आज न्याय मानकर जितने पर हम संतुष्ट हो सकते हैं, संभव है कि कुछ काल बाद उसमें भी हमको अन्याय दीख आए और हम उससे आगे बढ़ने का प्रयास करें। समाज परम्परागत भाव से हिंसा और शोषण पर जीता, और फलता-फैलता आया है। हमारी सामाजिक प्रणालियों में अहिंसा की ओर पारमार्थिकता की शनैः-शनैः स्थापना और प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अहिंसक-समाज, जो हमारा अभीष्ट होना चाहिए, वह होगा जिसमें लाभ की लालसा की जगह, लोक-मान्य मूल्य के तौर पर यज्ञ-भावना की प्रतिष्ठा होगी। अर्थात् दूसरे में से लाभ और काम निकालने से अधिक समाज के औसत आदमी में दूसरे के काम आने और उसका हित साधने की चेष्टा होने लगेगी। देखना यह है कि क्या हम क्रमशः उस दिशा में बढ़ रहे हैं। पर इस ओर दिशा सही है तो संतोष का स्थान है। केवल ऊपरी और कानूनी बातों से इस दबाव में बस नहीं मान लेना चाहिए। प्रश्न ऊपरी व्यवस्था के साथ आन्तरिक मनोविज्ञान का भी है। सच पूछिए तो प्रमुख दूसरा ही आयाम है। उस तल पर किए गए काम का ही स्थायी मूल्य मानना चाहिए।

श्रमिक की विवशता और अर्थपति का अवसर

आज श्रमिकों की अधिकता है और काम की कमी है। इसीलिए मजदूर नाममात्र की मजदूरी पर भी बिकने के लिए तैयार रहता है। मालिक इस स्थिति को जानता है और इसका पूरा लाभ उठाता है। उस मजदूर की इतनी हिम्मत नहीं कि वह अपने श्रम का भाव-ताव करे। पूंजीपति ने उसका जो भाव लगा दिया, उसी पर वह राजी है। वह यह सब अपनी मजबूरी के कारण करता है। क्या वर्तमान आर्थिकतन्त्र में उसकी इस विडम्बना को दूर किया जा सकता है?

— विडम्बना तो है, लेकिन विडम्बना कहने मात्र से तो स्थिति बदल नहीं जाती। थोड़ा भी पढ़-लिख जाता है तो नवयुवक खेती की तरफ से मुंह मोड़ लेता और शहर में चाकरी की तलाश में भटकना पसंद करता है। इस भटकन में हो सकता है कि वह अपराध के मार्ग पर चल पड़े। इस तरह अगर श्रमिक बनने वाला आदमी अपनी मदद नहीं करना चाहेगा तो सिर्फ राज्य या कानून ही उसका उद्धार नहीं कर सकेगा, न बाजार के निर्मम नियम के चंगुल से वह बाहर ही आ सकेगा। आर्थिक जकड़ तो हां है, और

वह कोई हलकी भी चीज नहीं है। लेकिन उसके समक्ष मनुष्य को अपनी अभिक्रमशीलता और सूझ-बूझ से काम लेना सीखना होगा।

योजनाएं आंकिक से मानविक हों

बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलते हैं और दूर-दूर से वे आदमी को खींच लेते हैं। यह नहीं कि उनके अपने देहात में साधन एक दम न हों, कभी सूझ-बूझ की और सही नेतृत्व की है। गृह और कुटीरोद्योग यदि उग और फल नहीं पाते हैं तो नेतृत्व को इधर ध्यान देना चाहिए। शायद ऊपर से जो योजनाएं चलती हैं, उनमें दृष्टिकोण विदेशी मुद्रा अर्जन का रहता है और सामान्य जनहित गौण पड़ जाता है। इस दृष्टि में संशोधन और सुधार की आवश्यकता है। आवश्यकता है कि चिन्तन के गर्भ में मनुष्य की प्रतिष्ठा हो और योजनाओं का आंकिक की जगह मानवीय आधार पर निर्माण हो। इधर से मनुष्य अपने भाग्य को अपने हाथ में लेना सीखे, उधर नेतागण विचार को महत्वाकांक्षी के साथ किंचित् सहृदय भी रखें तो विडम्बनापूर्ण यह दृश्य असंभव बन सकता है कि थैली लेकर धनपति का कारकुन श्रम के बाजार में से अनगिनत लोगों को उस डोरी में साथ बांध लाए। इसके उपचार के लिए सत्ता को इष्ट मानकर वह साम्यवाद, जनतंत्रवाद जैसे शब्दों को लेकर राजनीतिक दल खड़े करने, जनहित की दुहाई पर चुनाव में अपने लिए वोट बटोरने से काम चलने वाला नहीं है। वह अधिक बुनियादी और रचनात्मक काम है और यथावश्यक कुटीर ग्रामोद्योगों की स्थापना में अधिक धैर्य-सातत्य की आवश्यकता है। अधिकांश देखा जाता है कि राजनीतिक दल उस दिशा में उद्यत और जाग्रत नहीं हैं और भावान्दोलन में ही अपनी सारी शक्ति लगाए रहना आवश्यक मानते हैं। उस प्रकार के आन्दोलनों से श्रम और पूँजी के संबंधों को समीचीन धुरी पर ले आना संभव नहीं होगा। समाजवाद और साम्यवाद व्यक्ति के स्थान पर संस्था या सरकार के प्रतिनिधि को बिठा दे सकता है लेकिन उतने से बुनियादी आर्थिक प्रश्न सुलझ जाता है, ऐसा मानना अपने को बहलाना भर होगा। मुझे लगता है कि श्रमिक की स्थिति को सुधारने और पूँजी के मूल्य का अवमूल्यन करने के लिए नेता को स्वयं शब्द और वक्तव्य तक रहने के बजाय श्रम पर जीने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अनुभव आ जाना चाहिए कि प्रेस और प्लेटफार्म के भरोसे ऊंचाई पर जीना, जाने-अनजाने पूँजी का स्वयं उपजीवी बन कर ही जीना है। उस पद्धति के जीवन से फिर पूँजी के समक्ष श्रम को मूल्य या प्रतिष्ठा मिलने में मदद कैसे मिल सकती है। श्रम का मूल्य बढ़ेगा तब आज के प्रतिष्ठा-प्राप्त पुरुष स्वयं श्रम के आश्रय से जीने या उससे जुड़ने की अभिलाषा रखने लगेंगे। राजनीतिक वर्ग में यह अभिलाषा जगी देखी नहीं जाती, वहां तो अभी वाद-विवाद का ही दौर-दौरा है। जब हम स्थिति की विडम्बना और निन्दा केवल शब्दों में करते और अमुक वर्ग पर उसका दोषारोपण करके स्वयं मानो कृत-कृत्य हो जाते हैं तो निश्चय रखिए कि उस संकट की

28 / गांधी और हमारा समय

स्थिति को शब्दों के तुमुल से हम और विकट ही बनाते हैं, किसी प्रकार का स्वास्थ्य नहीं देते। जो आवश्यक है वह यह कि अपने जीवन में हम श्रम को स्थान देना आरंभ करें। कोशिश करके जानें कि श्रम का जीवन क्या होता है और वहां किस-किस कठिनाई का सामना करना होता है। श्रमिक के साथ केवल मौखिक और बौद्धिक सहानुभूति उसका उपहास भी हो सकता है।

निजी और सार्वजनिक उद्योग—सहयोग का औचित्य

यह कहना कहां तक सच है कि जब तक देश में निजी उद्योग और सार्वजनिक उद्योग साथ-साथ चलेंगे तब तक सार्वजनिक उद्योग में तेजी से विकास नहीं हो सकता। इसी आधार पर सभी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की मांग की जा सकती है।

—निजी उद्योग समाप्त करने का अर्थ क्या यही न होगा कि लोगों में उस दिशा का अभिक्रम अवरुद्ध रह जाएगा और सारी जिम्मेदारी सरकार के ऊपर आ रहेगी? जिसको 'टोटेलिटेरियन' कहते हैं उसमें और लोकतन्त्र में फिर क्या अन्तर रह जाएगा? किन्तु कुछ उद्यम ऐसे हैं जो सरकार द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं। सार्वजनिक अर्थात् पब्लिक सेक्टर के वे उद्योग सजग रहेंगे अगर निजी उद्योग भी बराबर में काम करेंगे। केवल सरकार का ही एकाधिकार रहे तो उन उद्योगों के लिए सावधानी की उतनी आवश्यकता और अनिवार्यता नहीं रह जाती है। सरकारी कामों की जिम्मेदारी किसी एक जगह डालना कठिन होता है, इसलिए उन उद्योगों में अक्सर ढील-ढाल आ जाती है और जहां मुनाफे की संभावना है वहां भी घाटा ही घाटा होता दीखता है। इसलिए सार्वजनिक के साथ निजी उद्योगों के भी रहने में औचित्य ही प्रतीत होता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि पब्लिक सेक्टर में वैसे ही उद्योग सम्मिलित किए जाएं जो उद्योग लोगों के निजी सहयोग द्वारा लगभग चलाए ही न जा सकें। सिद्धान्ततः मैं मानता हूं कि सरकार को तभी और उसी काम में पड़ना चाहिए जब उसके लिए दूसरा विकल्प न हो और वह काम अन्यथा चलाया न जा सके।

निजी और सरकारी लोभ का इलाज

लेकिन अगर निजी और सार्वजनिक उद्योग साथ-साथ चलते रहेंगे तो लोगों को निजी सम्पत्ति बढ़ाने और अर्जित करने का मोह बढ़ेगा और वे टैक्सों की चोरी करके राष्ट्र का अहित करेंगे। इसका प्रभाव सार्वजनिक उद्योग पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

—निजी लोभ में यदि खतरा है तो सरकारी लोभ में क्या वह खतरा कई गुना नहीं बढ़ जाता? इसलिए मुनाफे के लोभ की वृत्ति का इलाज केवल राजकीय-उद्योग-व्यापार-नीति में या राजकीय पूंजीवाद में नहीं देखा जा सकता। उसका तो सच्चा इलाज

इसमें है कि जीवन में से ही पदार्थ के लोभ का मूल्य कम हो और पदार्थ का उत्पादन सीधा स्वदेशी आवश्यकता और उपयोगिता से जुड़ जाय। तब वस्तु-संग्रह अथवा वित्त-संग्रह अपने आप में किसी सफलता या श्रेष्ठता का लक्षण नहीं बन पाएगा, न मुनाफा-खोरी ही कोई ऊँचा मान प्राप्त कर पाएगी। इसके अतिरिक्त प्राइवेट को मिटाकर सिर्फ पब्लिक या सरकारी सेक्टर मात्र रहने से धन का केन्द्रीकरण तो बढ़ेगा, लेकिन धन की क्षमता या लालसा घटेगी नहीं। इसमें मैं कोई स्थायी लाभ नहीं देखता हूँ।

सार्वजनिक उद्योग में लाभ कम क्यों ?

देखा यह जाता है कि सार्वजनिक उद्योगों में निजी उद्योगों की अपेक्षा मुनाफे कम होते हैं और सार्वजनिक उद्योग के कर्मचारी अपेक्षाकृत कम सक्रिय रहते हैं। इसका क्या कारण है ?

—क्या प्रश्न में ही उत्तर नहीं है ? सार्वजनिक उद्योगों के कर्मचारी अगर कम सचेत रहते हैं तो मुनाफा होने का कारण कहां रह जाता है ? सार्वजनिक के बारे में अभी यह भाव नहीं है कि देश की सम्पत्ति होने से वह अधिक मूल्यवान है, बल्कि उल्टे भाव वह हो आता है कि कोई वह हमारी तो है नहीं। इस भाव में से काम की फिर अधिक चिन्ता या परवाह कहां हो सकती है। किसी निजता का दर्द उस संबंध में रहता नहीं है और बेध्यानी होने लग जाती है। इसलिए सार्वजनिक उद्योग निजी उद्योगों की अपेक्षा पिछड़े रह जाते हैं तो इसमें विस्मय की बात नहीं है।

समाजवाद व्यवस्थात्मक नहीं भावात्मक

इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय सम्पत्ति के मूल्य को वे नहीं समझते अगर उन्हें इस बात का अहसास हो कि राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ने से उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा और उसका लाभ उन सबको मिलेगा तो वे शायद ऐसा नहीं करते। इस तरह राष्ट्रीयता की भावना समाजवाद में ही पनपाई जा सकती है। क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में तो व्यापारी राष्ट्रीय आय की चोरी करके अपना व्यापार आगे बढ़ाता है। समाजवादी व्यवस्था में यह संभव नहीं है। इस विषय में आपकी क्या राय है ?

—समाजवादी व्यवस्था मेरे निकट स्पष्ट नहीं है। साम्यवादी व्यवस्था का चित्र तो साफ है कि उत्पादन के सब साधनों पर स्वामित्व सरकार का हो। इससे अलग वह समाजवादी व्यवस्था क्या है कि जिससे निजी हित की भावना के ऊपर राष्ट्रहित आ रहे, मेरे निकट प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। राजनियंत्रित समाज में से वह अभीष्ट फलित हो गया नहीं दीखता। बल्कि वहां तो प्रतीत होता है कि व्यक्ति और समाज के बीच तंत्र और दल के नाम पर एक नया ही वर्गहित खड़ा हो आया है। जनता का काफी भाग उस अधिकृत

वर्ग के कारण वंचित बना रह जाता है। उसके मुकाबले वह समाजवादी व्यवस्था क्या है कि जहां निजी स्वार्थ को गौण करके व्यक्ति राष्ट्रीय परमार्थ को अनायास प्रधान मान आएगा? आपके मन में कुछ साफ हो तो बताइये। मेरे पास तो इसका कोई चित्र है नहीं, इसलिए वाद के रूप में समाजवाद शब्द यद्यपि मुझे अग्राह्य नहीं पर तब उसका आशय व्यवस्थात्मक नहीं रहता, भावात्मक हो आता है।

साम्य वाद में क्यों रहे, तथ्य में क्यों न हो?

व्यवस्था को चलाने के लिए भावना तो अनिवार्य है। बिना भावना के व्यवस्था लंगड़ी है। आज जो साम्यवादी व्यवस्था की त्रुटियां दिखाई देती हैं, वह परिस्थिति-जन्य हैं। अन्ततोगत्वा उसका रूप यज्ञमय होगा। सभी अपरिग्रही होंगे और सम्पत्ति राष्ट्र की होगी। निजी सम्पत्ति नाम की कोई संस्था या उद्योग नहीं रह सकेगा। तो क्या ऐसी साम्यवादी व्यवस्था को आप पसंद करेंगे?

—साम्यवादी व्यवस्था क्या वादहीन हो सकती है? वाद-पूर्ण रखने के लिए उसे केन्द्रित शासन का रूप दिए रहना आवश्यक होगा। केन्द्रित शासन में अपरिग्रह का भाव नहीं पनप सकता। बल्कि तब पद-सत्ता और अर्थ-सत्ता का मूल्य और महत्त्व बढ़ ही जाता है। अन्तर केवल इतना होता है कि राज-सत्ता और अर्थ-सत्ता के दो अलग वर्ग तब नहीं रह जाते, राजन्य वर्ग के ही लिए तब धनपति होने की संभावना शेष रह जाती है। इसलिए वाद में तो साम्य रहता है, यथार्थ में वह नहीं रहता। न वहां उसकी आवश्यकता ही अनुभव होने दी जाती है। इसलिए जो भव्य चित्र आपकी कल्पना ने प्रस्तुत किया, साम्यवादी व्यवस्था में से उसके फलित होने की संभावना या आशंका नहीं है। वह स्थिति तभी आ सकती है जब पद और अर्थ और उस प्रकार की सत्ता का मूल्य ही जीवन-दृष्टि और लोक-दृष्टि में ओछा पड़ जाय और उससे किसी महत्तर मूल्य की समाज-दर्शन में प्रतिष्ठा हो, अर्थात् वाद से आगे जहां यथार्थ भाव में साम्य चरितार्थ हो। इस साम्य का आधार मत्सर की जगह प्रेम होने के कारण निगाह यह नहीं होगी कि कोई हमसे बड़ा या ऊपर क्यों है, बल्कि यह होगी कि कोई हमसे छोटा या नीचा न रह जाए। आप देखेंगे कि इन दोनों चीजों में उत्तर दक्षिण ध्रुवों सा अन्तर है। एक का मुख जब अधिकार की ओर है तब दूसरे में कर्तव्य पर बल है। वहां लक्ष्य सत्ता-प्रभुता नहीं बल्कि आकिंचन्य है। साम्यवाद में से स्टालिन फलित हो सकते हैं जिन्हें एकछत्रता अभीष्ट थी, साम्य के संयोग के लिए गांधी अपेक्षित हैं, जो सब कुछ होते हुए भी झोंपड़ी में दीनातिदीन की समकक्षा में रहते थे। यदि कभी जनमानस में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा बढ़ी और स्वार्थ का अवमूल्यन हुआ तो वह गांधी आदर्श के सहारे ही हो पाएगा, साम्यवादी नीति के बल पर नहीं।

सम्पत्ति का प्रश्न वाद का नहीं मनोगत यथार्थ का

क्या आप यह मानते हैं कि निजी सम्पत्ति को बढ़ाने का अधिकार रहते हुए आदमी अपरिग्रही हो सकता है ?

—सम्पत्ति अगर बढ़ती और बढ़ाई जाती है, उसको बढ़ाने की यत्नपूर्वक योजनाएं बनाई जाती हैं, तो उस बढ़ी सम्पत्ति पर अधिकार किसका होता है ? व्यक्ति का नहीं, तो मान लीजिए सरकार का और राष्ट्र का। तो इतने से क्या अपरिग्रह के भाव की निष्ठा का अवसर हो आता है ? इसलिए निजीय और राजकीय अधिकार के वादगत प्रश्न से पहले प्रश्न सम्पत्ति के प्रति अभीष्ट मनोभाव के निर्माण का है। सम्पत्ति और सत्ता ही हमारे जीवन-दर्शन के केन्द्र में होंगी तो वहां से निस्वार्थता का फलन दुराशा मात्र है। पहली आवश्यकता जीवन दर्शन में फेर-बदल की है। उसी की ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ और दिलाता आ रहा हूँ।

यन्त्रीकरण : मानव स्वयं एक अत्युत्तम यंत्र

उद्योग धन्धों में आधुनिक यंत्रों के उपयोग और प्रयोग के कारण भारी तादाद में मजदूर बेकार हो जाते हैं। शायद इसीलिए महात्मा गांधी ने यन्त्रीकरण का विरोध किया था और जैसे-जैसे विज्ञान उन्नति करता जायेगा वैसे-वैसे आधुनिक यंत्र मजदूरों को बेकार बनाते जायेंगे। तो क्या यन्त्रीकरण इसलिए नहीं किया जाना चाहिए कि इससे बेकारी बढेगी।

—अगर यन्त्रीकरण से बेकारी बढ़ती है तो उस यन्त्रीकरण की धुन समर्थित नहीं रह जाती। क्या इसमें भी दो राय हो सकती हैं ? मनुष्य भी तो एक यंत्र है और अतीव उत्कृष्ट प्रकार का यंत्र है। उसको बेकार छोड़कर अगर हम निर्जीव यंत्रों की बटोर में लगते हैं तो कौन हमको नादान नहीं कहेगा ? असल में मनुष्य को समझने में हमने भूल की है और इस भूल-भरी समझ में हमारी समाज-व्यवस्था ने मदद पहुंचाई है। हमने मान लिया है कि मानव प्राणी खाता है और खपाता है और अपनी व्यर्थ भावनाशीलता के कारण समस्या उपजा लिया करता है। मशीन अधिक विश्वसनीय इसलिये है कि उसमें कोई तर्क नहीं है, न भावना है। मनुष्य में तर्कशीलता है और वह विघ्न बन जाया करती है। इस तरह वह मनुष्य जिसे सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ शिल्प माना जा सकता है, हमारी अर्थ-संरचना के लिए बोझ के मानिंद बन आता है। पर वह दृष्टि ओछी और मोटी है, जो मनुष्य की अमित संभावनाओं को नहीं देख पाती और उसे बट्टेखाते में डाल देती है। मैं समझता हूँ कि हमें मनुष्य के अविश्वास से शुरू नहीं करना होगा, बल्कि विश्वास और स्नेहपूर्वक उसकी अपरिसीम संभावनाओं को जगाने की दिशा में सोचना होगा। मुझे भय है कि जिस तथाकथित वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता में हम जी रहे हैं उसमें दृष्टि पदार्थोन्मुख इतनी हो आई है कि वह मानो मानव-विमुख बनने को बाध्य हो गयी है।

32 / गांधी और हमारा समय

उस पदार्थोन्मुखता से स्वार्थों में संघर्ष पनपा है और महासंहारक युद्ध पर युद्ध उपजते गये हैं। जब तक वह दृष्टि मुड़कर मनुष्य को ही अपने सम्मुख नहीं लेगी तब तक औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति वस्तु की विपुलता से अधिक आपसी वैमनस्य उपजाती रहेगी। समाज रचना के तंतु छिन्न-भिन्न होने का संकट बढ़ता ही जाएगा। इसलिए अकेले गांधी जी ही नहीं थे जिन्होंने यह खतरा देखा-पहचाना था, पर आज का लगभग हर मनीषी उस जोखिम को देख रहा है और समाज मूल्यों में मूलगामी परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव कर रहा है।

राजशक्ति स्वयं में अप्रतिष्ठ केवल जनशक्ति द्वारा प्रतिष्ठित ?

आज की सभ्यता में यंत्रीकरण को विकासोन्मुखता का परिचायक कहा जाता है और जो देश यंत्रीकरण में जितना पिछड़ा है वह उतना ही असभ्य और अविकसित माना जाता है। लेकिन दूसरी तरफ इसे मानवीय तल पर देखें तो यह यंत्रीकरण मनुष्य की संभावनाओं और उसके मूल्यों को कम करता जा रहा है। इस भयानक स्थिति का कैसे सामना किया जा सकता है ?

—सामना करने का प्रश्न दूर का है। असल में वह प्रश्न विशेष सार्थक भी नहीं है। यंत्रीकरण का दूसरा पक्ष अभी उतना साफ होकर मन में नहीं उठ पाया है। अभी तो वस्तु का गुणानुगुणित उत्पादन उस पद्धति से प्राप्त हो जाता है, इसी पर हमारा ध्यान है। चिन्तकों का अवश्य एक वर्ग है जो उसकी दूसरी बाजू को भी देख पाने के कारण चिंतित है। जब वह दर्शन सबको सुलभ हो जाएगा तो यह आपसी कटा-कटी वाला स्पर्धामूलक राष्ट्रीय अर्थ-रचनाओं का बवाल सिर पर से अपने आप छटने-कटने लगेगा। प्रत्यक्ष है कि यह दर्शन वंचित जन-सामान्य वर्ग को पहले उपलब्ध होगा, और वहां से उत्पन्न भावावेग की सक्रियता और विवशता के कारण ही राजनीतिक नेतृत्व उसके आगे झुकने को बाध्य होगा। राजनेता अपने राष्ट्रीय स्वार्थों से आबद्ध है। इसलिए इस विकास के मार्ग में वह साधक से अधिक बाधक ही सिद्ध होने वाला। अतः क्रांतिकारी दर्शन राजनीतिक गतिविधि को लांघता हुआ फैलेगा। आवश्यक नहीं है कि इस समय की राष्ट्र-राज्य की कोई इकाई ही अपने क्षेत्र में विधिवत उसे आरंभ करे। वह मानवीय नव-दर्शन एक बार उभर आए तो नीचे से वह शक्ति हुंकार बनती हुई उठेगी और राष्ट्र-राज्य की सीमाएं टूटती-दीखेंगी। राज्यों की शस्त्रशक्ति प्रजा जन की संकल्प शक्ति के आगे निस्तेज हो रहेगी।

मानव-निरपेक्षता में पदार्थ निर्मूल्य

—भविष्य की इन संभावनाओं के आह्वान के लिए कोई लम्बी-चौड़ी योजना फिलहाल सरकार से पास नहीं है। जिनके मन यह प्रतीति दृढ़ हो गई है कि पदार्थ मनुष्य

के लिए है और मानव-निरपेक्ष उसका कोई मूल्य नहीं है, वे यथासंभव अपने रहन-सहन में, आचार-व्यवहार में उस श्रद्धा और प्रतीति को जियेंगे। उनके जीवन से प्रकट होगा कि यह जीवन पद्धति अधिक सरल, सही और सक्षम है। उन पर स्वार्थगत जीवन-पद्धति के आधार पर भोग-प्राप्त और सुविधा-प्राप्त वर्ग की ओर से पहले उपहास के और बाद में लांछन और प्रतिघात के प्रहार होंगे। इनके उत्तर में जो अडिग आस्था और सहनशीलता का उदाहरण प्रस्तुत होगा वह लोगों में परिवर्तन लाएगा और वहीं से नई सभ्यता का बीजारोपण हो चलेगा। यह काम दल-संगठन के बल से होने वाली नहीं है। चिनगारी से छुआ जाकर जो जैसे आस-पास का कोयला दहक आता है, उस तरह इस चीज का फैलाव होगा। ऐसा मालूम होगा कि वह कोई कृत्रिम पूर्वायोजित रण-रचना नहीं है, बल्कि प्राणों की गहराई में से उठा उद्वेलन है, जिसके आगे राह देना ही हो सकता है। आज हम मात्र राजक्रांतियों को ही जानते हैं, राजनीति की धूमधाम में उससे आगे निगाह नहीं जा पाती। पर नयी उत्क्रांति राजनीति के अधीन नहीं होगी और उससे जीवन और व्यवस्था के मौलिक फेर-बदल का उत्स खुलेगा। मनुष्य अवसर पाकर सिद्ध कर आएगा कि उसके भीतर की प्राणगत ऊर्जा और बुद्धिगत विवेक के कारण वह स्वयं में किसी भी यंत्र से कहीं श्रेष्ठ और अधिक क्षमताशाली यंत्र है। उस यंत्र की यांत्रिकता बाहर से नियमित नहीं होती, उसका सर्जक और चालक स्वयं उसके भीतर है। ऐसा स्वचलित यंत्र जब भरपूर अवसर पाएगा तो विज्ञान जो आश्चर्य दिखा पाया है उससे भी आगे के अपूर्व अचंभे तब घटित होने में आएंगे। अभी तो प्रतिस्पर्धा के कारण ये संभावनाएं कुण्ठित हुई पड़ी हैं। यदि मनुष्य में से कोई चमक प्राप्त होती भी है तो वह द्वन्द्व होने से सुख से अधिक त्रास पैदा कर जाती है और कुल मिलाकर सौमनस्य नहीं उपजाती, वैमनस्य बढ़ाती है। स्पर्धा की जगह मूल में यदि स्नेह होगा तो मानवात्मा में पड़ी उन संभावनाओं का अभ्युदय दूर नहीं रह जाएगा।

विकेंद्रीकरण और सामूहिक उद्योग

उद्योग धंधों के विकेंद्रीकरण के लिए सामूहिक उद्योग और निजी उद्योग में से किसको पनपना राष्ट्रहित में होगा? क्या सामूहिकता से उत्पादन-वृद्धि और वितरण उचित हो सकेगा?

—उद्योग-धंधों का विकेंद्रीकरण कोई स्वतंत्र सिद्धांत नहीं है। विज्ञान के विकास के साथ दुनिया के लोगों की बढ़ती हुई परस्परता और एकता बिखर जाए, यह कभी अभीष्ट न होगा। यदि विकेंद्रीकरण को हम सिद्धांत-सूत्र ही बना लेते हैं तो यह इसका बड़ा खतरा है। अभीष्ट विकेंद्रीकरण में आशय मात्र इतना है कि अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के संबंध में हमारा प्राथमिक घटक अर्थात्, ग्राम-समाज, पराधीन और पराश्रयी नहीं रह जाए, वह लगभग स्वाश्रयी हो सके। लेकिन प्राथमिक के बाद और

34 / गांधी और हमारा समय

आगे शैक्षणिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक आदि बहुत सी आवश्यकताएं हैं और होती जाएंगी जिनके लिए केन्द्रिय उत्पादन उपयुक्त, सुविधाजनक और श्रेयस्कर होगा। व्यक्ति हर एक स्वतंत्र हो, इसके साथ अभीष्ट यह भी है कि मानव जाति में सद्भाव और एकीभाव हो। इन दोनों ध्रुवों की संतुलित उपलब्धि आवश्यक है और मात्र विकेन्द्रीकरण शब्द पर अटक जाने पर वह अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा।

मूल प्रश्नरूप रचना नहीं, भावोदय का

सामूहिक उद्योग से आपका मतलब शायद कोआपरेटिव जैसी संस्था से है। ऐसी सहकारी संस्थाएं इस समय भी अनेक हैं। किंतु सहकारिता उनमें ऊपरी है, भीतर निजी स्वार्थ का षड़यंत्र है। अर्थात् मूल प्रश्न रूपाकृति का नहीं है, भाव और फलित का है। यदि मूल्य अपरिग्रह का बन आता है तो उस अवस्था में निजी, सामूहिक या सार्वजनिक और सरकारी उद्योगों में आपस में कोई नोच-खरोच का प्रश्न नहीं रहेगा और वे परस्पर परिपूरक हो सकेंगे। यह अवश्य है कि अपरिग्रह के मूल्य की प्रतिष्ठा उसी समाज में संभव हो सकेगी, जहां मनुष्य की रहन-सहन की मूल आवश्यकताएं (यथा भोजन, वस्त्र और आवास) प्राथमिक अथवा ग्रामांतर्गत परस्परता द्वारा पूरी की जाएं। ऐसा न हो और ये आवश्यकताएं कहीं दूर केंद्रित उत्पादन द्वारा पूरी होती हों, तो अर्थलाभ की प्रेरणा पदस्थ और आवश्यक होने लग जाएगी और समाज-रचना में मूल्य अपरिग्रह की जगह सत्ता-संपदा का और परमार्थ की जगह स्वार्थ का ही पनपेगा। उस राह वही आंकिक और आर्थिक जीवनदर्शन का बोलबाला हो चलेगा और आत्मिक एवं पारमार्थिक तत्त्व-दृष्टि का हास होता जाएगा। आज तक यही हो रहा है और फलतः मानव-संबंधों का तंतु-पट प्रत्यक्ष ही क्षीण और जीर्ण बनता दीखता है।

समाज-शरीर के संबंध में यथोचित नीति-निर्णय

निजी, सामुदायिक एवं सार्वजनिक उद्योगों में किस प्रकार विभाजन किया जाए, इसके लिए किसी बने बनाए सूत्र की आवश्यकता नहीं है। राज्य पर उन उद्योगों के स्थापन और संचालन का दायित्व स्वभावतः आता है जो सार्वजनिक हित के तो होंगे लेकिन जिनमें लाभार्जन की दृष्टि उतनी न रखी जा सकेगी। वे जो आपसी सहयोग और उद्यम से बिठाए और चलाए जा सकें, वैसे उद्योगों में सरकार को पड़ने की आवश्यकता नहीं है। उनका स्वरूप सामुदायिक या सामूहिक सहयोग का होगा। ये सामूहिक संस्थाएं फिर अपनी ओर से कृषि को या कताई-बुनाई के गृह-उद्यम को अपने कब्जे में लेने की नहीं सोचेंगी, क्योंकि ये उद्यम ग्राम की इकाइयों द्वारा सहज उठाए और संभाले जा सकते हैं। यह दृष्टि उद्यम-उद्योग के तीनों आयामों में संतुलन रखने में समर्थ और उपयुक्त हो सकती है। इसमें केंद्रित अथवा विकेंद्रित जैसे शब्दों के मोह की आवश्यकता नहीं रहती।

हमारे शरीर के अवयव अपना-अपना काम करते दीखते हैं और उन पर एक दूसरे का कब्जा नहीं मालूम होता। लेकिन फिर भी हममें व्यक्तित्व की एकता है और शरीर के सभी अंगोपांग उस व्यक्तित्व के आशय को सिद्ध और संपन्न करने के काम आते हैं। यही स्थिति अहिंसक समाज की बननी चाहिए। प्रत्येक के पास अपनी-अपनी कार्यकारी स्वावलम्बिता हो, साथ ही हर अंग-प्रत्यंग अंतःकरण के अनुबद्ध भी हो। सारांश नैतिक केंद्र के दृढ़ और क्रियामाण होने के साथ-साथ कार्मिक स्वायत्तता की मात्रा उतनी ही बढ़ती चली जा सकती है। ग्राम की वह स्वायत्तावस्था, जहां वह पड़ौसी ग्राम से गर्वपूर्वक कट और टूट जाए, बल्कि प्रतिस्पर्धा में पड़ जाए, तो उसकी वह स्व-तुष्टि सही नहीं कही जा सकती। अर्थात् समुचित विकास नैतिक और कार्मिक इन दो आयामों की दिशा में क्रमशः और स्वभावतः केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण की आवश्यकताओं को स्वतः संपन्न करता जाएगा। शरीर के अवयव स्वतंत्र तो हैं, पर स्वच्छंद नहीं। जब वे स्वच्छंद हो जाते हैं या अंतःकरण से अनुबंध क्षीण होने के कारण अवसन्न पड़ जाते हैं, तो वह अवस्था रोग-विकार की होती है। स्वस्थता वह है जहां व्यक्तित्व के सब अवयव अपने कर्म और धर्म में नियुक्त और मुक्त होते हैं और सब मिलकर शरीर के अवधारण द्वारा व्यक्ति को एकात्मता प्रदान करते हैं।

व्यक्ति के और उसके शरीर के अंगोपांगों के उदाहरण को सामने रखकर हम अपने समाज-शरीर के संबंध में भी यथोपयुक्त नीति और निर्णय प्राप्त कर सकते हैं।

सरकारीकरण या राष्ट्रीयकरण में समस्या का हल कहाँ ?

यह सामूहिक उद्योग उत्पादन तो बढ़ाएगा, लेकिन इसमें एक कठिनाई यह सामने आती है कि उसी समूह के कुछ लोग अपने निजी स्वार्थ साधन में इतने प्रमत्त हो जाते हैं कि उन्हें सामूहिकता का ध्यान ही नहीं रहता और वे मनमानी कर निकलते हैं। यहां सामूहिक उद्योग में दरार पड़ती है। इस कठिनाई को कैसे दूर किया जा सकता है ?

—अभी तो कहा कि उद्योग सामूहिक, सार्वजनिक या निजी हो, उसके ऊपरी विधि-विधान द्वारा अपने आप में कोई समाधान प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। सोशलिज्म और कम्युनिज्म के नाम पर उद्योगों का सरकारीकरण या राष्ट्रीकरण हम पर स्वर्ग उतार लाएगा, यह हमारा सपना हो तो वह झूठा निकलेगा। सहकारी-कोऑपरेटिव की दुहाई पर हुए प्रयोगों का जो परिणाम दिखाई दे रहा है उस पर से शकलसूरत की सहकारिता के पक्ष में क्या कहिएगा ? निजी पूँजीवाद के अनिष्ट को तो दुहारने की आवश्यकता ही नहीं है। अर्थात् अपने आप में उद्योग का यह या वह रूप सही और निर्दोष हो जाएगा ऐसा मान लेने से नहीं चलेगा। वह तो अंत में ढांचा ही सिद्ध होने वाला है। प्रश्न इसके भीतर प्रतिष्ठित आत्मा का है, मन, प्रेरणा और चित्तवृत्ति का है। अर्थात् मुख्य प्रश्न यह बन

36 / गांधी और हमारा समय

आता है कि आपसी संबंधों को धारण करने वाली समाज की मूल आस्था क्या है, वे मूल्य क्या हैं जिन पर वह समाज आधारित है ? यहाँ हैं जहाँ आधारभूत जीवनदर्शन का प्रश्न उपस्थित हो आता है। उसके बिना सब लेखा-जोखा और कतर-ब्यौत बेकार है। यानी पहली चीज यह है कि अपरिग्रह और अहिंसा समाज-मूल्य के तौर पर स्वीकृत स्थापित हों। ऐसा अगर नहीं होता है तो मूल्य स्वार्थ का ही बना रहता है। फिर वह स्वार्थ सहकारिता या सरकारिता किसी का भी आवरण ओढ़ ले सकता है। कम्युनिस्ट क्रांति हुई तो है, किंतु उससे क्या सचमुच न्यस्त और स्थापित स्वार्थ की बाधा समाप्त हो गई है ? सोशलिज्म के नाम पर खड़े किये गए सम्मिलित सहकारिता के प्रयोग भी अपना दिवाला खोल बैठे दीखते हैं। नहीं, मूल्य पर ध्यान दिए बिना सतही रूपाकार की ठोक-पीट विशेष काम नहीं देगी। मानव अन्य जंतुओं की तरह मात्र शरीर जितना ही नहीं है, न कोरा पदार्थ है। उसके भीतर चित्त के साथ कुछ अंतस्तत्त्व भी है। उसमें विवेक है और आत्मचैतन्य है। उसके इस अंतश्चैतन्य को ध्यान में लिए बिना बनी हमारी योजनाएं इसीलिए सही फल नहीं ला पातीं। हिसाब में जैसे अंक सुनिश्चित होता है, वैसे मनुष्य सुनिश्चित अंक नहीं है। राजनीतिक मानस जो मानव-तत्त्व के साथ भी उसी आंकिक गणित के जोड़-तोड़ से काम निकाल लेना चाहता है, सो हिसाब सही हो नहीं पाता। मानव के अंतश्चित्त के आयाम को हिसाब से बाहर रखकर मानव समस्याओं पर यदि विचार किया जाए तो वह अधूरा क्यों न सिद्ध होगा। बल्कि मानव के संबंध में उसकी वह आंतरिकता ही है जो अधिक ध्यान के योग्य सिद्ध होगी। स्वार्थ से शून्य तो मनुष्य शायद कभी न हो पाएगा, किन्तु उसकी आस्था को वहाँ आबद्ध भी नहीं माना जा सकता। वहाँ निस्वार्थता के मूल्य को अवश्य सिंचित-फलित किया जा सकता है, निस्वार्थता के उस मूल्य पर फिर अपनी सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों को ढाला जा सकता है। यहाँ मानव-प्रकृति को एक साथ बदल देने की बात नहीं है, लेकिन उसकी आस्था को, जीवन के मूल्य को, सही दिशा की ओर अभिमुख और निर्दिष्ट अवश्य रखा जा सकता है। मनुष्य में आत्मा है और जैसे कुतुबनुमे की घड़ी सदा ध्रुव की दिशा में ही रहने को प्रतिबद्ध है, वैसे ही मनुष्य भी अपनी अंतःश्रद्धा से अमुक दिशा में बढ़ते जाने की बाध्य है। प्रभु, परमेश्वर आदि शब्द उसी आस्था की दिशा के परिचायक हैं। वह पदार्थ-विचार अथवा समाज-विचार जो इस अनिवार्यता के प्रति उपेक्षाशील हो जाता है, समस्या उपजा ही सकता है, समाधान कदापि नहीं ला सकता।

आध्यात्मिक आधार के बिना व्यवहार-दर्शन अधूरा

सहकारी प्रयोग, आप स्वयं कहते हैं कि, निज में अभीष्ट होकर भी अभीष्ट फल नहीं दे पाया। कैसे दे सकता था ? बीज और जड़ वही रहें तो फल उसमें से दूसरा कैसे होगा ? धरती के ऊपर तो वृक्ष है और फल देता वही दीखता है, लेकिन वह टिका उसी

के बल पर है जो धरती के नीचे अदृश्य है। उस जड़-मूल की प्रकृति से ऊपर का फूल-पत्ते वाला वृक्ष कुछ अलग फल दे सकेगा, यह सदा के लिए असंभव मान लेना चाहिए। इसीलिए कहता हूँ कि अध्यात्म के आधार के बिना व्यवहारदर्शन अधूरा रह जाने वाला है और मनुष्य का काम उतने मात्र से कभी न चलेगा। शाखों और पत्तों से ही उलझ कर और वहीं काट-छांट करके रह जाएगा, वह ऊपर सुघरता की सृष्टि कुछ भले करले उससे अधिक कुछ नहीं कर पाएगा। फल प्राप्ति के लिए पहले धरती के नीचे वाला काम करना होगा। फिर धरती के ऊपर आकर दीखने वाला अंकुर वहाँ से अपने आप फूटेगा और यही सिंचन पर समयानुसार वही सही फल देगा।

नयी सभ्यता का आह्वान

तो क्या यह नयी सभ्यता यंत्र-विहीन होगी? और क्या हम फिर पीछे की ओर लौटेंगे? अगर हाँ, तो फिर वह टिकेगी कैसे? अगर थोड़ी देर टिक भी गयी तो क्या वह स्थायी बन सकेगी?

—यंत्र-विहीन और यंत्राधीन यह दो अलग बातें हैं। अब जो हालत है उसमें आदमी यंत्र के नीचे आ गया है। वह खुद परिणामतः कल-पुर्जा अधिक बन गया है, आदमी उतना नहीं रह गया है।

मनुष्य सबुद्धि यंत्र

आदमी बुद्धि वाला यंत्र है। उस बुद्धि के कारण ही से वह अलग हुआ। शरीर की क्षमता में पशु से हीन, पर बुद्धि के कारण पशु से कहीं बलवान। पशु के पास नुकीली दाढ़ें थी और तीखे पंजे ही थे। मुकाबिले में मनुष्य ने पत्थरों को पैना किया, तीर बनाया और पशु को आधीन किया। तीर, भाले, बर्छी उसकी यंत्र-बुद्धि के ही आविष्कार थे। मनुष्य वह प्राणी है, जो अपने शरीर जितना ही नहीं है। बुद्धि के प्रयोग से वह अपनी क्षमता को बाहरी उपकरणों से बढ़ा कर अपरिसीम बना ले सका है। कभी वह लौटकर अपने शरीर जितना रह जाने वाला नहीं है। इसलिए यंत्रविहीनता और उस कारण आदिम बर्बरता में मनुष्य के जा पड़ने का भय सर्वथा निराधार है। मनुष्य के साथ ही यंत्र का निर्माण शुरू हो गया और उससे कभी छुटकारा भी होने वाला नहीं है। लेकिन बुद्धि उसकी शायद प्रमत्त हो आई है और यंत्र मनुष्य की सृष्टि होकर भी मनुष्य के ही समक्ष दानव बनकर खड़ा हो गया है। मनुष्य मशीन के नीचे आ गया है और स्वयं मनुष्यता उसकी खतरे में पड़े गई है। मनुष्य के पास आदि में पर्याप्त यंत्र-बुद्धि न थी तो पशु जैसा उसका जीवन था। पर जीवन की चुनौतियों में से उसने आस-पास का उपयोग साधना सीखा और अन्यो के साथ आपसी परस्पर्य और सहयोग-भाव से उसने परिवार और समाज का निर्माण किया। यह समाज संस्कृति-सभ्यता के निर्मित यंत्रों की बेतहाशा

38 / गांधी और हमारा समय

बढ़वारी से जोखम में आ गया है और मालूम होता है कि उस कारण संहार की वृत्ति सहयोग और संरचना पर हावी हो आई है। विज्ञान की चरम सार्थकता मानो अण्वस्त्र और प्रक्षेपणास्त्र आदि बनाने में निहित हो गई है। मनुष्य की श्रम-शक्ति का एक बड़ा भाग इस आपसी संहार की तैयारी में झुक और फुंक जाता है। यह स्थिति असह्य हो जानी चाहिए। मनुष्य दरिंद अगर नहीं रह गया है तो इसीलिए न कि वह एक दूसरे को फाड़े-खाएगा नहीं, बल्कि परस्पर साधक और सहायक सिद्ध होगा। पर उसके शस्त्रास्त्र मानो जानवर के नखों और दाढ़ों का असंख्य गुणित काम देने के लिए रह गए हैं और कहना चाहिए कि उनके द्वारा वह अपनी मनुष्यता से अपहृत होकर मानो लौटकर फिर वही दरिंद बना जा रहा है। यंत्र की दासता से छूटने की बात इसीलिए की जाती है कि मनुष्य अपनी मनुष्यता में निष्ठित हो। उसके टिकने की संभावना तो तभी हो सकेगी जब मानव-जाति अपनी मानवता में उत्कर्ष पाए, न कि वहां से टूट गिरने को मजबूर हो। यदि प्रगति उसे वापिस उसकी सहयोगिता और सद्भाविता में ही निष्ठित और प्रतिष्ठित नहीं करती है तो उस सभ्यता के फलने-फूलने की असंभावना ही वहां रह जाती है। शंका और आशंका तब तक है ही जब तक मानव जाति के सिर पर अणुबमों के ढेर का प्रलयासुर बैठा है। यांत्रिक भीमोद्योगों के ही परिणाम में वह आतंक जन्म ले उठा है। उन बमों के स्तूपों के विस्फोट के भय से त्राण अपेक्षित हो तो समय रहते हमें प्रगति की उस विध्वंसक दिशा से मुंह मोड़ लेना चाहिए, अन्यथा प्रलय से बचने का कोई मार्ग नहीं रह जाएगा।

कबीले से राष्ट्र तक, अब और आगे

लेकिन यंत्र का आविष्कार और निर्माण मनुष्य ने अपनी सहायता के लिए किया था। अब देखते हैं कि उसका रूप आगे जाकर संहारक और विनाशक बन गया। उसका विनाशक पहलू हमें सदा सशंकित और आतंकित किए रहता है। वह कौन-सी प्रेरणा है जो मनुष्य को विनाश के अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने को बाध्य करती है? और उस प्रेरणा का केन्द्र बिंदु क्या है और उसका स्रोत कटेगा कैसे?

दिल-दिमाग का तलाक आगे असम्भव

—मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य के भीतर कुछ-कुछ समानांतर दो तत्व या दो वृत्ति काम करती हैं। अक्सर दिल-दिमाग अथवा हृदय-मस्तिष्क जैसी संज्ञाओं से उन्हें जाना या बताया जाता है। मनुष्य की प्रगति के लिए दोनों अनिवार्य हैं। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि दोनों का संतुलित और समतुल्य ही विकास हो। लगता है कि इधर आकर हृदय के मूल्यों को कीमत में देकर हमने बौद्धिक प्रगति की है और संतुलन बिगाड़ गया है। हृदयता का जैसे हास हुआ है, आर्थिक बुद्धि और स्वार्थिक वृत्ति को तीखी धार मिल

आई है। यों तो मनुष्य के सर्वांगीण विकास का लक्षण ही मानना होगा इसे कि हम कबीले से राष्ट्रीयता तक उठ आए हैं। पर राष्ट्रीय तल पर आकर राष्ट्र-सीमाओं से आगे सद्भाव, सहयोग के विकास को हम संभव नहीं बना सके हैं। बल्कि वहां संशय, शंका, भय और प्रतिरक्षा का प्रश्न बना रहता और युद्ध की तैयारियों में ही राष्ट्र-सामर्थ्य को व्यय होना पड़ता है। यह विवशता और असमर्थता किसके खाते लिखी जाए? यह नहीं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच सहृदयता समाप्त हो गई है, बल्कि कहना होगा कि नागरिकता के तल पर मनुष्य ने अपना अतुल विकास किया है। करोड़ से भी ऊपर संख्या के नगर में इतनी सुव्यवस्था हम कर सके हैं कि व्यक्ति एक दूसरे की रगड़ में नहीं आते हैं और मानो उस समूचे विराट् नगर को एक सजीव व्यक्तित्व उपलब्ध हो आता है। यह सामाजिकता के विकास का प्रमाण और लक्षण ही माना जाना चाहिए। लेकिन यह एकता जिस आधार पर जुटती है उसमें अपनी सुरक्षा और प्रतिरक्षा की निषेधात्मक प्रेरणा भी गर्भित होती है। आखिर युद्ध में भी तो व्यूह-व्यवस्था दरकार है, किंतु वह व्यवस्था कौशल अन्त में निषेधात्मक ही सिद्ध होता है। अर्थात् फिर उससे परस्पर की हत्या इतने संकल्प-बद्ध सुनियोजित रूप से होती है कि हताहत लाखों में नहीं रह जाते, करोड़ों-करोड़ में उनकी संख्या जा पहुंचती है। इन युद्धों में कितना भी रण-कौशल दरकार होता हो, पर मानना होगा कि कुल मिला कर मनुष्यता खण्डित और मूर्छित ही बनती है। बुद्धि का अपरिमित विकास होता जाए और हृदय बीच में सूखा और कुण्ठित ही रह जाए तो उस विकास को श्रेयस्कर तो नहीं कहा जा सकता। अर्थात् हृदय-मस्तिष्क की समानांतरता को उस आत्म-स्पर्श से संपृक्त रखना होगा कि जहां दोनों का अंतर समाप्त होकर उनमें एकत्व और समत्व सिद्ध हो आता है। शायद वह आत्म-स्पर्श सभ्यता की आज की अवस्था में गायब हो गया है और दिल-दिमाग के दम्यान् मानो तलाक की नौबत आ गई है। पर विच्छेद पूरा संभव है नहीं और अन्ततः मानव को बिखर कर भंग भी होना नहीं है, उसे अखण्डता में बढ़ना और फलना है। इसलिए आगे-पीछे दिल-दिमाग में संतुलन होगा ही और वहीं से नई सभ्यता का मोड़ माना जाएगा।

प्रगति और विकास का द्वंद्वात्मक मंत्र

इसका अर्थ यह हुआ कि नई सभ्यता में बुद्धि और हृदय दोनों का समान रूप से विकास होगा। तब मनुष्य में परस्पर सहयोग और सद्भाव होगा। यह एक ऊंचा आदर्श है और इंसानियत को उस मंजिल तक पहुंचना चाहिए। पर हृदय में से ही तो प्रेम, घृणा, द्वेष, मोह आदि उपजते हैं। तो क्या हृदय के विकसित होने से मानव की वृत्तियां विकसित न होंगी? और जब विकसित होंगी तो परस्पर सहयोग और सद्भावना कैसे सुलभ है? फिर बुद्धि और हृदय का आपसी संघर्ष तीखा भी हो सकता है। क्योंकि दोनों का विकास हो रहा है। एक दूसरा किसी को दबा नहीं

सकेगा।

—विकास और वेग उन दोनों के असंतुलन और द्वंद्व में से ही पैदा होते हैं। दोनों में द्वैत और किंचित समानांतरता तो रहने ही वाली है। प्रगति और विकास का वही द्वन्द्वात्मक मंत्र है। लेकिन आत्म-संपृक्ति से वह प्रक्रिया रचनात्मक बनी रहती है, इसके बिना विकारात्मक और ध्वंसात्मक होने लगती है। धर्म की अथवा धर्मियों की उपयोगिता ठीक इसी जगह है। अंतस्तल की सजगता और सक्रियता का दायित्व मानो धर्म संभालता है। आधारभूत भूमिका में स्वार्थातीत आस्था रहे तो बुद्धि और हृदय का द्वैत और द्वंद्व संहार की जगह निर्माण ही करेगा। उसके अभाव में उस विधा के द्वारा मनुष्य ही समीचीन प्रगति में क्षति और बाधा ही पड़ने वाली है।

उत्पादन में प्रतिस्पर्धा का समर्थन

उत्पादकों को अपने उत्पादन की खपत के लिए बाजार खोजना पड़ता है। यह समस्या सभी उत्पादकों के सामने एक सी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनमें प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है और बाजार में आकर उत्पादक एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी बन जाता है। इस आपसी प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता की जड़ में अपने उत्पादन की खपत करना होता है। उत्पादकों का कहना है कि यह प्रतिस्पर्धा उत्पादन की क्वालिटी बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इससे उत्पादकों को कुछ कठिनाई तो जरूर होती है लेकिन उपभोक्ता फायदे में रहता है। किंतु देखने में यह आता है कि इस प्रतिस्पर्धा में उपभोक्ता ठगा जाता है। और कम कीमत के प्रलोभन में उसे अपेक्षाकृत घटिया माल मिलता है। आपकी सम्पत्ति में यह प्रतिस्पर्धा उत्पादक और उपभोक्ता के लिए कहां तक श्रेयस्कर है?

—प्रतिस्पर्धा एकदम गलत चीज़ तो है नहीं। उससे दोनों दिशाओं में लाभ हो सकता है। इधर चीज़ बढ़िया बने उधर दाम भी घट सकें। लेकिन उत्पादन आवश्यकता और खपत से सीधा यदि जुड़ा नहीं होता तो तरह-तरह की कृत्रिमताएं बीच में आ उपस्थित होती हैं और वस्तु से मूल्यवान विज्ञापन हो जाता है। ऐसे उदाहरण भी हैं यहां कुल इनवेस्टमेंट का पिचहत्तर प्रतिशत विज्ञापन पर लगाया जाता है और केवल पच्चीस प्रतिशत उत्पादन पर। मांग और बाजार पैदा करने के ये कृत्रिम साधन इसलिए आवश्यक होते और पनपते हैं कि उत्पादन के नीचे नीयत केवल लाभ की होती है और यथार्थ आवश्यकता से उसका विशेष योग नहीं रहता। आज के बाजार में कुछ यही धांधली चल रही है। हम अपनी रुचि और चुनाव पर नहीं जीते हैं, विज्ञापनों के इशारों पर जीने लगे हैं। विज्ञापन की कला सबसे ऊंचे स्तर की बन आई है। समाचार-पत्रों का व्यवसाय, जो बड़ी शक्ति है, विज्ञापनों के बलबूते चलता है। इस तरह नागरिक स्वतंत्र नहीं एक निर्दिष्ट जीवन जीने को बाध्य है और उस पद्धति से जनसमूह के मानस-नियंत्रण का एक नया

उपाय बन खड़ा हुआ है। संचार और प्रचार के साधनों के द्वारा उनके हाथ में लोक-जीवन की नस आ रहती है और एक नियंत्रित समाज का उद्भव होता है। जीवन की मुक्तता और नैतिकता पर इस प्रक्रिया का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा है। मानवता नीचे श्रम में खटती रहती है और धन और सत्ता रखने वाला वर्ग ऊपर सवार रहता है। जनसामान्य का जीवन यंत्र की भांति इतना नियुक्त और निर्भर हो जाता है कि जैसे अस्तित्व रख पाना ही उद्देश्य हो, उससे आगे जीने में विशेष अर्थ ही न हो!

उपभोक्ता का स्थान गौण

यह अमानवीय परिस्थिति इस मूल कारण में से जन्म पाती है कि उत्पादन केवल और शुद्ध मुनाफे की तबीयत से जुड़ जाता है और जीवन की यथार्थ आवश्यकताओं से युक्त और आश्रित नहीं रहता। इस प्रकार उत्पादन और खपत के बीच का संतुलन प्रकृत के बजाय अस्वाभाविक हो आता है और समूचे जीवन में फिर वह विद्रूपता व्याप्त होने लगती है। जीवन के लिए जरूरी और प्राथमिक वस्तु के केंद्रित उत्पादन की विधि से यह रोग बढ़ता ही जाता है। तब उत्पादन और खपत के बीच व्यवधान बढ़ जाने से उपभोक्ता का स्थान दोयम बनता है, मानो वह थोक उत्पादक या पूँजीपति के वशाधीन होने लगता है। तब कृषि का काम, जो धरती से जुड़ा होने के कारण अनिवार्यतया उतना यांत्रिक नहीं हो सकता, अपना मूल्य खो रहता है और श्रमवान मनुष्य धनवान व्यक्ति की दासता में आता जाता है। मुझे प्रतीत होता है कि यदि हमें आपस में युद्ध की संभावना को असंभव करना है, राष्ट्रीय अर्थ-नीतियों को स्वार्थों के जाल से मुक्त करके सुव्यवस्था लानी है तो आधारभूत प्रतियोगिता की जगह सहकारिता के भाव को स्थानापन्न करने की युक्ति पर गहरा विचार करना होगा। अपनी उद्यम-उद्योग नीति में राष्ट्रीय से अधिक मानवीय हित की बात सोचनी होगी।

मुद्रा बीच में न आए

अब तो यह प्रतिस्पर्धा इतनी आगे बढ़ चुकी है कि उत्पादक अपना सीधा संबंध राज्य से जोड़ने के यत्न में रहता है और इस प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने के लिए अपने सामने राजनेता को लेकर उसके माध्यम से राजकीय खरीद-फरोख्त में भी अपनी जुगत बिठा लेना चाहता है। वहां सवाल घटिया और बढ़िया माल का नहीं होता, सिर्फ संबंधों का होता है। ऐसी प्रतिस्पर्धाओं के कारण भ्रष्टाचार फैलता और ईमानदार और सही उत्पादक मारा जाता है। इन परिस्थितियों को देखते हुए कोई ऐसा मार्ग बताइए जिससे यह विनाशक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो सके और उत्पादक अपने उत्पादन की क्वालिटी के प्रति सजग रहे।

— एक शब्द गांधी जी ने चलाया था 'स्वदेशी'। उसको राष्ट्रीयवादी अर्थ में ले लिया

42 / गांधी और हमारा समय

गया, पर अभिप्राय उसका गहरा है। देश वहां भौगोलिक या राजनैतिक नहीं है, बल्कि उसका आरंभ पास-पड़ोस से हो जाता है। यदि हम स्वदेशी के सिद्धान्त को ध्यान में रखें तो रोग का निदान हाथ आ जाता और उसके उपचार का आरंभ भी होने लगता है। स्वदेशी के सूत्र को व्यवहार में लाने का आशय बनता है कि हम अपने शरीर-श्रम का दान आस-पास को दें और अपनी रहन-सहन संबंधी आवश्यकताएं यथाशक्य आपसी सहयोग और श्रमयोग से पूरी कर लें। उद्यम और उत्पादन की मानवीय पद्धति का यहां से आरंभ हो जाता है। यहीं से मानो समूची अर्थ-रचना को मानवीय मोड़ भी मिलना शुरू हो जाता है। इस पद्धति से यहां तक हो सकता है कि ग्रामतल पर मुद्रा बीच में आए ही नहीं और लोगों की आवश्यकताएं परस्परता में से सहज पूरी होती जाएं। अभी पच्चीस एक बरस पहले तक भारत की ग्रामीण अर्थ-संरचना कुछ वैसी ही थी। मानना होगा कि कहीं कुछ त्रुटि थी, जिससे वह ग्राम-विधि टूट गयी और नई व्यवस्था यहां से वहां तक छाती जा रही है।

अर्थ-वैभव की अतिसम्पन्नता से ऊब की प्रतिक्रिया : हिप्पी जन

उस त्रुटि को दूर कर सकें तो पहले जैसे ग्राम-स्वावलंबन और ग्राम-स्वराज्य का आदर्श प्रतिष्ठित हो सकता और विश्व-व्यवस्था के लिए नया मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है।

किंतु उसकी भी बुनियाद के लिए आज जो प्रचलित है उससे भिन्न जीवन-दर्शन को पहले स्वीकारना होगा। आवश्यकताएं बढ़ाते जाने के बजाय उन ऊपरी आवश्यकताओं को घटाने में जीवन की सार्थकता देखना सीख लेना होगा। जान लेना होगा कि लपेटों में कसने से जीवन समृद्ध नहीं होता है, खुलकर ही वह खिल सकता है। मुझे लगता है कि प्रचुरता और विपुलता की अति और ऊब में से यह जीवन-दर्शन अब भी बरबस फूटने लगा है। अत्यन्त संपन्न समाजों में नयी वय के प्राणवान युवक चीजों की बटोर से विरत और विमुख बन रहे हैं और हठात् वन्य और प्रकृत जीवन बिताने पर मानो आ तुले हैं। अर्थात् अपरिग्रह वाला वह जीवन-एवं-तत्त्व-दर्शन दैन्य-दारिद्र्य का नहीं है, बल्कि वह भीतरी भरपूरता का भी हो सकता है। अभी जो हिप्पी आदि उदाहरणों में घटित होता दीखता है, वह तो स्यात् प्रतिक्रिया है। वह शायद सच्चा अपरिग्रह नहीं, बल्कि अतिशयता का प्रतिफलन है। उस प्रतिक्रिया में अराजकता और असंयम के बीज रहने सहज हैं। किंतु स्पष्ट है कि प्राणों की भरपूरता और साध्य-लक्ष्य की संलग्नता में से उदित हुआ अपरिग्रह-भाव एक नए प्रकाश और आकर्षण का स्रोत बन सकता है। गांधी अपने युग में दुनिया की निगाह के केंद्र-पुरुष बन आए, इसका रहस्य सत्य-अहिंसा से उद्भूत उनका यह उद्दाम आकिंचन्य और ही है। बदन पर डालने को उनके पास एक-दो गज कपड़ा ही रहा होगा, फिर भी क्या एक अतुल ऐश्वर्य ही उनको सदा घेरे नहीं

रहता था? वह उनका आत्म-वैभव बाहरी टीम-टाम की तनिक अपेक्षा न रखता था। जेल में या कहीं भी वह प्रभा-मण्डल उनके व्यक्तित्व से अलग नहीं हो पाता था। अर्थात् बाह्य पदार्थ संबंधी आवश्यकताएं कम करने का परामर्श देने वाला तत्त्व-दर्शन या जीवन-दर्शन पराङ्मुखता का लक्षण नहीं है, बल्कि जीवन की सच्ची 'अंगीकारता' और सार्थकता का सूचक भी हो सकता है। उसके समर्थन के लिए एक गांधी का ही नहीं, सब देश और सब कालों के महापुरुषों के चरितों का उल्लेख हो सकता है। जिसने अपने को राजपाट और धन-दौलत से घेर लिया वह क्या कभी इतिहास में जी पाया? शायद मनोविज्ञान जताएगा कि ऐसे लोग कहीं अंदर से खोखले ही थे। इसीलिए वे सब बाहर से बटोरने की तृष्णा से दूर नहीं हो पाते थे। जो भीतर से भरा है और पूरा है, वह बाहरी ताम-झाम इकट्ठा करने में क्यों अपने को खोएगा? वह संग्रह कुछ साथ तो जाने वाला है नहीं, हां, अभिमान में डालकर व्यक्ति को बाकी दूसरों से काट और बांट कर अलग जरूर कर देता है।

स्वाश्रयी श्रमिक का महत्त्व

तो वह स्वदेशी की बात इस जीवन-दर्शन को अपनाने से अनायास मन में उतर सकती है। तब उत्पादन और उपभोग का प्रश्न कोई चक्कर पैदा नहीं करता। उनके बीच उतना व्यवधान ही नहीं पड़ता कि सिक्का उलझन पैदा कर सके। सबका ही श्रम उत्पादक बनता और आपसी उपभोग में आ जाता है। गांव को अपने खाने-पीने के लिए किसी का मुंह ताकना नहीं पड़ता। छाया-छप्पर भी वहीं बन जाता है और तन ढकने को कपड़ा भी हाथ से कत-बुनकर तैयार हो जाता है। इतना होने पर फिर मनुष्य का सिर क्यों झुकेगा, साहस क्यों टूटेगा? तब उसके पास का बचा-खुचा श्रम सबके काम आने को खुला और मुक्त होगा और सीधे-सादे ग्रामीण का मानस विश्व-नागरिकता के निमित्त सहज उपयुक्त हो आएगा। आज का राष्ट्रवाद भय और संशय की उपज है और हर राष्ट्र बेहद व्यय-वेतन देकर शस्त्रास्त्र और सैनिक बढ़ाए जाने को विवश रहता है। जब कि यह स्वाश्रयी, श्रमी ग्राम-नागरिक, निर्भीक और उद्यत, वैसी आवश्यकता पर सहज स्वेच्छित सैनिक राष्ट्र-सैनिक बन निकलेगा। वह अन्याय करेगा नहीं और अन्याय सहेगा नहीं। यह स्वाधीन चेता प्रकृत नागरिक अपने ग्राम, देश और दुनिया पर भारी नहीं होगा, बल्कि उसका प्रहरी और उपकारी होगा।

सेवा और स्नेह की भावना का विकास

आपने स्वयं उन अनिष्टों को गिनाया है जो आज के अर्थतंत्र में से फलित होते हुए दीखते हैं। मुद्रा और मुनाफे पर आश्रित अर्थ-संरचना में से उन तमाम अनिष्ट फलों को बचाया नहीं जा सकता। उससे बचने के लिए हमें श्रमाधारित और जनाधारित उत्पादन

और विनिमय-विनियोजन आदि की अर्थ-प्रणालियाँ निर्मित करनी होंगी। उसकी बुनियाद में यह स्वाश्रयी ग्राम और मनुष्य होगा और उसी नींव पर मानव-संरचना और सभ्यता का भवन खड़ा हो सकेगा। कारण, वहाँ प्रेरणा एक दूसरे में से लाभ उठाकर अपने पास संचय और संग्रह बढ़ा लेने की न होगी, बल्कि एक दूसरे के लिए काम आने और श्रम करने की प्रेरणा उन्हें चला रही होगी। अपने लिए थोड़ा रखकर उतने में संतोष और सुख अनुभव करने की क्षमता उस व्यक्ति में इसलिए आ जाएगी कि उसमें संशय की जगह स्नेह होगा और चिंता की जगह श्रद्धा होगी। अभी जो हर किसी को अपनी सुरक्षा की चिंता सताती है और इसलिए हर दूसरे के प्रति संशय की आवश्यकता रहती है, तो तब प्रतिस्पर्धात्मक के बजाय हमारे सह-जीवन का सहयोगात्मक आधार हो जाने से ईर्ष्या-द्वेष के विकारों के लिए विषमता की भूमि नहीं रहेगी। तब उद्यम और उद्योग ऊपर हमारे सिर पर लदे न होने के कारण हम पर भारी न होंगे बल्कि वे हमारे बीच से उठेंगे और सबके सहयोग और सद्भाव की पूंजी से निर्माण और उत्कर्ष पाते जाएंगे। मण्डियाँ खोजने और हथियाने जैसी समस्या उन उद्योगों के लिए इसलिए नहीं पैदा होगी कि मुनाफे की गरज के बजाय मनुष्य की सेवा और उपयोगिता उसका लक्ष्य होगा।

राष्ट्रीयकरण : एकाधिकार और प्रतिस्पर्धा

उद्योगों से प्रतिस्पर्धा के बाद की स्थिति एकाधिकार की होती है। यों तो हर उद्योगपति एकाधिकारी बनना चाहता है, क्योंकि इसमें प्रतिस्पर्धा की कोई गुंजाइश नहीं होती और वह जैसे चाहे वैसे अपने माल की खपत कर सकता है। इस अधिकार को आप कैसा समझते हैं? क्या यह राष्ट्रीय हित के अनुकूल है?

— इस सिमटते हुए एकाधिकार को समाप्त करने के लिए राष्ट्रीयकरण की पद्धति निकाली गयी है। किन्तु उसमें अमुक व्यक्ति, कम्पनी, फर्म या हाउस का एकाधिकार खत्म होता है तो उससे भी बड़ा एकाधिकार सत्ता का आरंभ होता है। रोग का उपचार वह नहीं है, बल्कि अमुक अपेक्षा से रोग का संवर्धन ही माना जा सकता है।

प्रतिस्पर्धा अगर आधार में रहती है तो मत्स्यन्याय काम करता है और बड़ी पूंजी छोटी को निगल नहीं जाती तो डसती तो रहती है। ऐसे आर्थिक साम्राज्य भी खड़े होने लग जाते हैं, जहाँ पहुंच कर द्रव्य और अर्थ पदार्थ का प्रतीक नहीं रह जाते, बल्कि प्रभाव और प्रभुता का माध्यम बन आते हैं। तब अर्थ-सम्पन्नता और प्रभुसत्ता, इन दोनों में विशेष दूरी भी नहीं रह जाती। डच और अंग्रेज भारत में और पूर्वी एशिया में आए वणिज बनकर ही थे। पर वाणिज्य-व्यवसाय से शासन-प्रभुता पर आ जाने में उन्हें देर नहीं लगी। इस प्रकार प्रतिस्पर्धात्मक व्यापारनीति और उद्योग नीति अंत में राजनीति से जा जुड़ती है और केन्द्रित शासन को मानो अनिवार्य बना देती है। लोकतन्त्र और अर्थ-छत्र-तंत्र आपस में असंगत और अनमिल हैं। यदि उद्योग-व्यवसाय का वही पूंजी-मूलक आधार रहता है,

तो साम्य के अथवा लोक कल्याण के नाम पर शासन का केन्द्रित और व्याप्त रूप बने बिना नहीं रहेगा। ऐसे शासन के अधीन समाज मुक्त न होगा, आवद्ध और जड़ित रहेगा।

वर्णाश्रम धर्म : परमार्थ और पराक्रम के बाद ही पैसा

उपाय क्या है ? उपाय शायद यही है कि द्रव्य के मूल्य को ही जीवन में सर्वोपरि न होने दिया जाय। शरीर से तो मनुष्य पशु से कम ही है, अधिक है तो अपनी बुद्धि, भावना और विचार के कारण। वह क्षमता शरीर से आगे या ऊपर की चीज है। द्रव्य शारीरिक आवश्यकताओं का माध्यम और पूरक है। शारीरिक से यदि मानसिक और सांस्कृतिक आवश्यकताएं ही उसमें प्रधान और प्रमुख नहीं हैं तो वह मनुष्य किस बात का है ? अर्थ-केन्द्रित सभ्यता को इसलिए यदि हम भौतिक और दैहिक कहकर अधूरी और उथली मानें तो इसमें अत्युक्ति क्या है ? आवश्यकताएं यदि सांस्कृतिक-परमार्थिक क्षेत्र की खुलेंगी, बढ़ेंगी तो मानव-समाज में द्रव्य का मूल्य सर्वोपरि नहीं रह जाएगा। भारत ने एक वर्णाश्रम धर्म का आविष्कार किया था। बहुत हद तक उसका चलन भी था। आश्रमों के अतिरिक्त चार वर्णों के क्रम द्वारा जैसे इस आर्य देश ने अपनी जीवन पद्धति में द्रव्य का स्थान यथायुक्त कर दिया था। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के लिए मूल्य द्रव्य नहीं था, उससे उत्तीर्ण था। वाणिज्य व्यवसाय में से धन और लक्ष्मी की उत्पत्ति तब भी होती थी, लेकिन समाज में इस वर्ग का स्थान तीसरे नम्बर पर ही आता था। चौथे में वह था जिसके पास धन की लालसा-पूर्ति के लिए सीधे श्रम का उपाय ही बच पाता था। मैं मानता हूँ कि इस क्रम में एक विवेक था और यदि उसी के अनुसार धन को हम परमार्थ और पराक्रम के बाद तीसरे दर्जे पर रखें तो शायद प्रश्न उतना जटिल नहीं रह जाएगा। अभी तो उद्योगवाद में पैसे को पराक्रम और परमार्थ से ऊपर आ जाने दिया गया है और परिणाम में एक चारित्रिक और नैतिक हास दिखाई देता है। जान पड़ता है कि मानव-मूल्य ही टूट रहा है और मनुष्य वह ऊपर आ रहा है जिसमें दाक्षिण्य तो नहीं है मात्र चातुर्य है।

वणिक्-सरकार

आर्थिक प्रतिस्पर्धा एक तरह से चीजों की बाजार दर को नियोजित और संतुलित रखती है। यह एक स्वाभाविक क्रम है और जीवन मूल्य अगर हमारे स्थिर हों तो इससे कोई अनिष्ट होने की संभावना भी नहीं है। वैसे अनिष्ट के किसी ओर से संकेत मिल आए तो पराक्रम जिसका मूल्य और प्रशासन जिसका धर्म है, ऐसा वर्ग नियमन-नियंत्रण के लिए उपस्थित रहेगा ही। तिस पर पारमार्थिक मूल्यों की लोक-व्याप्तता का प्रतीक-प्रहरी बने (ब्राह्मण) वर्ग का प्रभाव वैश्य को मर्यादा से इधर-उधर जाने से स्वभावतः रोकेंगा। अर्थात् व्यापार-व्यवसाय की आजादी किसी आपाधापी और शोषण आदि की आशंका पैदा नहीं करेगी बल्कि पदार्थ के उत्पादन में सहायक और उसके समीचीन

46 / गांधी और हमारा समय

वितरण में सहयोगी होगी। अभी तो स्वयं राज्य ही व्यवसायोन्मुख और व्यापार-परायण हुआ जा रहा है। उसकी वृत्ति के ही वणिकोचित बन जाने का खतरा है। हम देख रहे हैं कि राष्ट्रों की सरकारें अपने देश की धन-दौलत बढ़ाने की ओर सर्वोपरि ध्यान दे रही हैं। उससे ऊंचा जीवन-दर्शन शासन के तख्त पर मानो अव्यवहार्य माना जाता है और लोगों के शारीरिक जीवन-मान की बढ़ती-कमती के हिसाब से राष्ट्र की उन्नति का निर्धारण किया जाता है।

हमारे जीवन मूल्य यदि इसी तरह अधूरे और एकांगी बने रहते हैं तो समाजवाद अथवा साम्यवाद के उपायों से अर्थोद्योग और अर्थविनियोग का नियंत्रण पर्याप्त फल न ला सकेगा। और समाज का स्वास्थ्य पहले की ही भांति अस्वस्थ और स्खलित दिखाई देगा।

धन में सत्ता के आरोप से जीवन-मूल्यों का विपर्यय

तो क्या आप मानते हैं कि उद्योग-धन्धों को सरकार अपने हाथ में न लें और वे पूंजीपतियों के द्वारा ही संचालित हों? क्या सरकार का काम केवल इतना भर है कि वह राज्य की व्यवस्था ही करे? यदि ऐसा होता है तो इससे आर्थिक विषमता को बढ़ावा मिलेगा और सरकार पूंजीपतियों की कठपुतली बनकर न रह जाएगी?

—सरकार धनपति की कठपुतली बन सकती है तो वह वणिकों की है, क्षत्रियों की नहीं है। आज कुछ-कुछ यही हालत है स्थिति का यही संकट है। धन द्वारा क्षत्रिय एवं ब्राह्मण वृत्ति के पुरुषों का उपयोग साध लेने वाला चतुर, चौकन्ना, चालाक राजनीतिक शासन-सूत्रों को हाथ में लिए है और धनपति के साथ उसकी खासी सांठ-गांठ है। यदि शासक में वृत्ति शासनोचित हो, वणिक की न हो तो धन प्रभुता का दंभ नहीं कर सकता, न लोकमत पर उस प्रकार हावी हो सकता है। धन का प्रभाव बढ़ा है, धन-सत्ता जैसी चीज़ का निर्माण हुआ है तो यह जीवन-मूल्यों के विपर्यय के कारण। परमार्थ और पराक्रम जब अपने सत्य और ध्रुव से च्युत हो जाते हैं तभी सत्ता का रूप लेकर अर्थ ऊपर आ सकता है। अन्यथा इसकी विसात नहीं है कि वह उस पूरे पुरुष को काबू कर ले जो आत्मवान है और योद्धा है। जब योद्धा अपना धर्म छोड़ देता है और आत्मवान आत्मा के साथ छल और समझौता कर जाता है, तभी ऐसा होता है कि भौतिक पदार्थों के प्रतीक रूप धन की तृष्णा ऊपर आ जाए और समाज को ग्रस ले। तब सत्ता का आधार भी धन होने लगता है।

इसलिए कहता आ रहा हूँ कि आर्थिक सभ्यता को पारमार्थिक आधार देना और पारमार्थिक वृत्ति की दिशा में मोड़ना आवश्यक है।

प्रशासन से प्रबल जनमत का अंकुश

मान लीजिए कि वणिक वृत्ति और बुद्धि की प्रवीणता से कोई करोड़पति बन जाता है। तो इस करोड़ का वह क्या करेगा? ठाठ-बाट की दम रचता है, तो अगर सही मूल्यों का चलन हो, तो वह समाज की निगाह में चढ़ेगा नहीं बल्कि गिरेगा। पैसे का गर्व और मान करता है तो भी इज्जत उसकी बढ़ने वाली नहीं है। वैश्य होकर समाज के ऊपर नहीं, समाज के बीच में उसे रहना है, इसलिए लोकमत की अवहेलना वह कर नहीं सकता। सम्मान पाने के लिए इसके सिवा उसके पास कोई उपाय नहीं है कि इस करोड़ का वह अपने को मालिक न समझे, बल्कि सिर्फ वाहन और मुनीम समझे। अन्यथा आचरण करेगा तो लोगों की निगाहों में नीचे आयगा और महाजनी साख भी उसकी साख टूटने लग जाएगी। प्रशासन के नियन्त्रण से कहीं भारी जनमत का अंकुश हुआ करता है। कठिनाई यह है कि हम प्रशासन की ओर से समाजवादी आईन-कानून बनाना और पलवाना चाहते हैं, पर जनमत के वैसे अंकुश का निर्माण कर नहीं पाते। परिणाम होता है कि ऊपर से समाजवाद भी चलता है और नीचे से नक्सलवाद भी पनपने की सामग्री पा जाता है। हम देखें कि प्रमुख शक्ति यही मूल्यों पर आधारित दीक्षित-प्रशिक्षित लोकमत है। उस शक्ति के अभाव में तांत्रिक बनाव-सुधार या उलट-फेर से कुछ बड़ा काम बन जाने वाला नहीं है। साम्यवादी प्रशासन ही चाहे क्यों न लाइए, पर मुद्रा-धन को अपने सही स्थान पर नियुक्त करके उसको जीवन व्यवहार का केन्द्र मूल्य बनने से वंचित नहीं रखा जाएगा तब तक अभीष्ट फल नहीं प्राप्त हो सकता। करोड़ों-करोड़ के सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने और रखने के लिए आखिर कहीं तो धन-संग्रह होगा ही। अगर घर-घर में नल होते हैं तो कारपोरेशन की कहीं न कहीं बड़े जलाशय की व्यवस्था करनी ही होगी। कोटिपति न कहकर हम उस धनाशय पर बैठे व्यक्ति को कमीसार कह दें तो इतने मात्र से कुछ जनहित सध नहीं जाएगा। यह शब्द-परिवर्तन परिणाम केवल तभी ला सकता है, जब जनमत प्रबुद्ध हो और सजग प्रहरी का काम करे। प्रशासन एक बार दलगत न्यस्त स्वार्थ के कारण कुछ देखी-अनदेखी कर जाए तो भी लोकमत की निगाह से कोई बेईमानी और आपाधापी बच न सके। कुछ कीजिए, अन्तिम अंकुश और अंतिम शक्ति लोक-स्वीकृति और लोग-गर्भित मूल्य की ही है। वह लोक शक्ति बन आती है तो मैं कहना चाहता हूँ कि कमीसार बने बिना भी करोड़पति समाज का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। वह स्वार्थी बनकर सिर्फ अपने को और अपनी साख को ही तुड़वा ही सकता है। इससे अधिक उसमें कोई क्षमता इसलिए नहीं रह जाने वाली है कि प्रभुता की भाषा में पूँजी की सत्ता पहले ही टूट चुकी होती है।

48 / गांधी और हमारा समय

लोक-मानस में परमार्थ प्रतिष्ठा पाएं

यह सब कहना इसलिए आवश्यक हो रहा है कि आपके मन में शायद है कि ऊपर का राज-यंत्र-तंत्र बदलने से सब ठीक हो सकेगा। पर वैसा नहीं होगा। होगा तब जब समाजधर्मिता का मूल्य मानव-मन में और लोक-मानस में प्रतिष्ठित होगा। उसका उपाय प्रशासनिक आईन-कानून और दण्ड विधान नहीं है। उसका उपाय है कि समाज के श्रेष्ठ पुरुष पैसे से अधिक पुरुषार्थ को और पुरुषार्थ से ऊपर परमार्थ को प्रतिष्ठा दें। यह मूल्य-क्रम लोकमानस में बस जाता है तो अर्थसत्ता के ऊपर राज्य सत्ता और उसके ऊपर नीतिसत्ता का अधिष्ठान होता है और एक समीचीन समाज-व्यवस्था हमको प्राप्त हो जाती है।

असीम आवश्यकता नहीं, तृष्णा होती है

हमारे साधन सीमित हैं और आवश्यकताएं अनंत हैं। सीमित साधनों में असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे संभव है? अर्थशास्त्रियों के एक वर्ग का विचार है कि हमें अपनी आवश्यकताओं को घटाकर साधनों और आवश्यकताओं के बीच तालमेल बैठाना चाहिए। अगर ऐसी आवश्यकताएं हों जो घटाने से घटती ही न हों तब क्या हो? और इससे भी बड़ी कठिनाई यह है कि एक आदमी तो अपनी आवश्यकताएं कम करे और दूसरा बढ़ाता जाए। इससे सीमित साधनों में खींचतान बढ़ेगी। आज यही तो हो रहा है। इस समस्या से निबटने का मार्ग क्या है?

—ऐसी आवश्यकताएं जो घटाने से घट नहीं सकती सीमित ही हैं। असीम आवश्यकता नहीं होती, तृष्णा होती है। इसलिए तृष्णाओं में न बहकने का आदेश और उपदेश सब देशों और कालों के लिए उपयोगी है।

पर साधनों की सीमितता की अवस्था में भी एक देश के भीतर धन-संपन्नता की श्रेणियां देखी जा सकती हैं। यह विषमता थोड़ी बहुत सब जगह मिल जाएगी, भले पूंजीवादी कहे जाने वाले देशों में खाई अधिक ही चौड़ी हो। सवाल देश की आंतरिक व्यवस्था में इस विषमता के कारण पैदा होता है।

संपत्ति के साधन बढ़ाने की चेष्टा में देश की सरकार वे सब प्रयत्न करती हैं जिससे आयात से निर्यात बढ़ता जाए और देश की पूंजी में बढ़वारी हो। इसी यत्न में सब राष्ट्र उद्योग-प्रधान बनने की शीघ्रता कर रहे हैं।

उत्पादन-योजना देश की आवश्यकता से जुड़ी हो

जिन्होंने इस विषय में अनुपात से अधिक झुकाव रखा है, उन्हें बाद में अपनी नीति में संशोधन करके कृषि के विचार को उपयुक्त स्थान देना पड़ा है, या पड़ रहा है। किसी भी निर्यात के प्रयोजन के अधीन नहीं बल्कि उत्पादन-नीति देश की अपनी आवश्यकता

से जुड़ी हुई होनी चाहिए।

देश की दौलत बढ़े, यह अनभीष्ट नहीं है और न उसके लिए उद्योगों का बढ़ना अनभीष्ट कहा जा सकता है। किंतु इस निमित्त अपनाए गए उद्योगवाद में अक्सर बीच में उत्पन्न हो आने वाली आर्थिक विषमता की मानवीय समस्या को गौण मान लिया जाता है। माना जाता है कि किसी तरह उत्पादन तो पहले बढ़े, फिर वितरण की समस्या कठिन नहीं रह जाती। पर यह एकांगी नीति जब कि एक ओर आर्थिक उत्पादन बढ़ाती है तब दूसरी ओर उतनी ही राजनीतिक समस्या भी उत्पन्न करती जाती है। वामपक्षीय विचार इस विषमता की दुहाई पर पुष्ट बनता और अपने दल-बल को बढ़ा लेता है।

होड़ आवश्यक नहीं

मुझे प्रतीत होता है कि आर्थिक समृद्धि के लिए होड़ और दौड़ उतनी आवश्यक नहीं है और बचाई जा सकती है। यदि हमारा उत्पादन हमारी अपनी आवश्यकता से जुड़ा हुआ हो; और उत्पादन की विधि, विशेषकर जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन की, मशीनी न होकर मानवीय हो तो आर्थिक और राजनीतिक पहलू परस्पर संतुलित रह सकते हैं और अपेक्षाकृत कम में भी देश सुखी और संतुष्ट हो सकता है।

किंतु वर्तमान में हर देश के चित्त पर सुरक्षा का प्रश्न सवार है और उसकी अर्थ-व्यवस्था इस मद के व्यय के तले समीचीन रह नहीं पाती है। छोटे देश साधन में परिमित होते हैं लेकिन आत्मरक्षा की व्यग्रता में इधर-उधर से सहायता लेते रहने की जुगत में रहते हैं। इससे उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था समानुपातिक बनने में कभी आती ही नहीं।

'नेशनल' की जगह 'ह्यूमन इकोनॉमी' का आरंभ अथवा विकेंद्रीकरण

उपाय मैं यही देखता हूँ कि कोई देश इस दुश्चक्र में से निकले और स्वावलंबी मानवीय अर्थव्यवस्था का अपने देश में प्रचलन करे। इसमें देशवासी को अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना सीखना होगा और सुरक्षा के प्रश्न पर भी उसे बहुत भयभीत नहीं रहना होगा। गांधी जी का चर्खा और ग्रामोद्योग इसी अर्थ-व्यवस्था के आरंभ के प्रतीक थे। इसमें अपेक्षा थी कि आरंभिक आवश्यकताओं के संबंध में ग्राम की इकाई तक देश स्वावलंबी बन आएगा। फिर सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि मनुष्य की आवश्यकताओं-उपकरणों का उत्पादन-वितरण विशेष समस्या पैदा नहीं करेगा। इसको 'नेशनल' की जगह 'ह्यूमन' इकोनॉमी का आरंभ कहा जा सकता है? आज उसे विकेंद्रित विधि कहा जाता है। मुझे प्रतीत होता है कि वर्तमान में प्रचलित आर्थिक कार्यक्रम को कुछ इसी दिशा में मोड़ लेना होगा। नहीं तो युद्ध की स्थिति और मनोदशा से बचाव का कोई मार्ग नहीं रह जाता।

50 / गांधी और हमारा समय

शारीरिक श्रम की आवश्यकता

स्वदेशी की बात तो समझ में आती है लेकिन यह समझ में नहीं आता कि सब शारीरिक श्रम से अपनी आवश्यकता की चीजों का उत्पादन करें। जो आदमी जिस काम के योग्य है, उसे वही काम करना चाहिए और इसी में उसका और देश का कल्याण है। एक डाक्टर का एक-दो घंटे बैठकर चर्खा कातना क्या उसी समय में मरीज का इलाज कर लेने की अपेक्षा उचित होगा? इसी तरह अध्यापक, साहित्यकार, राजनेता आदि के मूल्यवान समय को कम पैसे वाले और कम उपयोगी कार्यों में जाया करना क्या उचित होगा?

—स्वास्थ्य और शिक्षण भी क्या मनुष्य की आवश्यकताएं नहीं हैं? इसलिए हर ग्राम में ये दोनों तद्ग्न व्यक्ति भी आवश्यक होंगे। लेकिन इन दोनों के भी पास शरीर और पेट तो होगा न। अर्थात् चिकित्सा और शिक्षा का काम करते हुए भी ये दोनों व्यक्ति यथोपयुक्त श्रम और व्यायाम शरीर को नहीं देंगे तो उनका स्वास्थ्य संभलेगा नहीं। मैं नहीं जानता कि वे सिर्फ ऐसे व्यायाम आदि का सहारा क्यों लें जो अनुत्पादक हो। आज यह संकट भी है कि शारीरिक और बौद्धिक नाम और काम के दो विभाग बन गए हैं और उनको लेकर दो वर्ग भी बनते जा रहे हैं। अनस्किल्ड लेबर अनस्किल्ड ही रहता है और स्किल वाला शनैः-शनैः लेबर से छूट जाता है। यह विच्छेद-विभाजन मानव-व्यक्तित्व और मानव-समाज में दरार डालता और वैषम्य तथा वैमनस्य का कारण बनता है।

सिक्के और श्रम की खींच-तान

एक खेत में काम करेगा, दूसरा शाला में काम करेगा, तीसरा दवाखाने में दीखेगा, इस सब विविधता का इन्कार ग्राम स्वावलंबन में नहीं आ जाता है। न यही आशय है कि ऐसा ग्राम अपने में कोई बंद इकाई होगा और बाहर के सम्पर्क अथवा आदान-प्रदान से सर्वथा निरपेक्ष हो रहेगा। प्राथमिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त शैक्षिक, सांस्कृतिक, पारमार्थिक आदि अन्य ऐसी आवश्यकताएं शेष रहेंगी और जीवन को वे प्रगति और पूर्णता की ओर ले जाएंगी। जीवन के अंतःस्रोत में ही विकास और प्रसार की यह अनिवार्यता पड़ी हुई है। विकास की यह प्रक्रिया मनुष्य के लिए स्वाभाविक होनी चाहिए थी। उस प्रक्रिया में बाधा उपस्थित होती है तो इस कारण कि हमारी व्यवस्था मनुष्य को परबस पराधीन और कुण्ठित बनाए हुए है। आरंभ से ही स्नेह की परंपरा के लिए अवकाश मानो नहीं है और चैतन्य अवरुद्ध हो आता है। आपसी संबंध स्नेहाधारित हो नहीं पाते, इतने अर्थाश्रित होते हैं। यह अर्थ का हिसाब-किताब बीच में आ जाने पर आपस का पारमार्थिक और हितैक्य भाव टूटने लगता है। यहां तक कि जहां नाता सगा था, वहां विग्रह-वैर भाव बन आता है। हमारी आरंभिक उत्पादन एवं विनियोजन की प्रणालियां अगर स्वार्थ और शोषण मूलक बन जाती हैं तो उसके ऊपर खड़ा समाज का

काया-कलेवर भी वैषम्यपूर्ण होता है। यदि शरीर-रक्षा की पहली और बुनियादी जरूरतें आपसीपन में से पूरी होने का ढंग बन जाए तो आज के आर्थिक शोषण-चक्र से बाहर आने का मार्ग कुछ-कुछ खुल सकता है। गांधीजी के चर्खें में यही सार था। चर्खा मानो उनके 'स्वदेशी' का केन्द्र बिंदु था। चर्खें में लकड़ी काम आती है, कुछ लोहे की भी जरूरत होती है। उसके उपयोग के लिए कपास चाहिए और उसके कते सूत का कपड़ा बनाने के लिए बुनकर की जरूरत है। अर्थात् चर्खें के आस-पास कपास बोने वाला किसान, लकड़ी के काम का जानकार बढ़ई, लुहार, कत्तिन, जुलाहा आदि अनायास संकलित हो आते हैं। यह तो वस्त्र की बात हुई। खाद्य के लिए आवश्यक अन्न, गन्ना, शाक-सब्जी, दूध आदि की भी गांव में ही व्यवस्था हो तो किसान, घोसी, चरवाहा, माली, तेली आदि को काम मिल जाता है। उसके साथ जो पदार्थ आसपास उपलब्ध हो, उसके हिसाब से दूसरे कुटीरोद्योग भी हो सकते हैं। खाने-पहनने, रहने की ये जरूरतें अगर गांव आपसदारी के जरिए पूरी कर लेता है तो फिर उसे परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं रहती। शिक्षा, शाला अथवा औषधालय, गांव के मसलों-मामलों को निबटाने के लिए पंचायत घर आदि सब आसानी से बन सकते और इस ग्राम घटक की आरंभिक आवश्यकताओं को निबटा ले सकते हैं। फिर भी आप देखें कि बहुत-सी बातें तो भी शेष रह जाती हैं। नमक मसालों को बाहर से लाना होगा। किताबें, पेंसिल, स्लेट, साईकिल आदि-आदि बहुत-सी चीजें गांव में ही नहीं बन जाएंगी। ऊंची शिक्षा की व्यवस्था के लिए भी ग्राम की इकाई पर्याप्त न होगी। फिर क्या हम यह नहीं चाहते कि हमारे बालक और नागरिक ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक जानकारी रखें ही नहीं, बल्कि कुछ दिशाओं में वे निष्णात भी हों। टेलिस्कोप, माइक्रोस्कोप और वैज्ञानिक लैब्स क्यों न गांव-गांव में हों। यह सब निर्माण गांव में ही नहीं हो सकेगा। किंतु यदि रहने, खाने और पहनने के बारे में ग्रामवासी आत्मनिर्भर और निश्चित हो जाता है तो आगे उन्नति करने से उसे कोई नहीं रोक सकता। तब कोई शक्ति ग्राम को विपन्न और अनुन्नत नहीं बना सकती। भूख और बेरोजगारी में ऐसा गांव कभी पड़ेगा ही नहीं। यह दुरवस्था तो उस अर्थ-प्रणाली के चलन से बनी है जहां उपयोग के लिए नहीं बल्कि मुनाफे की गर्ज से मूल खपत की चीजों का पारस्परिक की जगह औद्योगिक उत्पादन किया जाता है और उस एवज में सिक्के की कीमत पर गांव के जन-धन को चूस लिया जाता है। परचेजिंग पावर जिसमें निहित है ऐसा कागजी नोट सरकारी छापेखाने में छपता और सरकार के आस-पास के लोगों में ऐसे बिखर जाता है कि गांव-देहात के खेतों की सब उपज, फल-फूल, साग-सब्जी, दूध-घी की इफरात वहां हो आती है कि जहां न कुछ पैदा हो सकता है, न कुछ किया बताया ही जा सकता है। परिणाम में जहां यह सब उत्पादन होता है, वहीं उन चीजों का दृष्काल और अभाव बन आता है। किसान भूखा और अफसर भरा-पूरा दीखता है। श्रम से हटकर मूल्य यदि सिक्के में जा बैठे तो इसके सिवा दूसरा

52 / गांधी और हमारा समय

क्या फल आने वाला है। इसलिए आवश्यक है कि हम किसी ऐसी प्रणाली का आरंभ करें जहां श्रम में ही अपना मूल्य आ जाए और उसे पैसे का मुंह ताकना न पड़े। फिर यदि इस विकास में ऐसा हो आता है कि पैसा खुद अपने में गर्जी बने और मनुष्य उसके समक्ष स्वाधीन चेता और निस्पृह रहे, तो पूंजीवाद की ही नहीं राज्यवाद की भी शक्ति मानव-निरपेक्ष नहीं रह पाती, बल्कि मानव-निर्भर हो आती है।

ग्रामीण युवक और आज की चुनौती

आज गांव की आर्थिक प्रणालियां इतनी विकट बन गई हैं कि व्यक्ति को पैसे के लिए मुंहताज रहना पड़ता है। गांव का युवक शहर में शिक्षा प्राप्त करके शहरी जीवन का आदि बनता जा रहा है। शादी-ब्याह आदि की धूम-धाम में खूब कर्ज लिया जाता है। यह सब वे अपनी इज्जत और शान के नाम पर करते हैं। इस तरह ग्रामीण जीवन भी काफी खर्चीला हो चला है। उन्हें पैसे चाहिए। और पैसे के लिए उनका सारा का सारा उत्पादन मण्डियों में चला जाता है। तिस पर आप कहते हैं कि ग्रामीण पैसे के मुंहताज न बनें। आज की परिस्थिति में यह कैसे संभव है?

—तो क्या कहना ही संभव है? अगर ऐसा मानते हैं तो प्रश्न बेकार है। प्रश्न है, इसी में यह गर्भित है कि आप मानते हैं कुछ हो सकता है। जो हो रहा है वह गलत है, और कहीं न कहीं से सही का स्रोत खुलना ही चाहिए।

मूल प्रश्न मुद्रा और मनुष्य का संबंध

आज का कुछ पढ़ा-लिखा युवक जो आता गांव से है पर अब गांव जाना नहीं चाहता। उसी को दोष का केन्द्र बना दिया जाए तो यह पर्याप्त न होगा। दोष दूसरे पर डालने से टले या कटेगा नहीं। जिन्हें लगता है कि स्थिति दोषपूर्ण है, उन्हें स्वयं दोष को अपने प्रति अपनाकर उससे अपने भीतर लड़ना और बाहर व्यवस्था से असहयोग भी करना सीखना होगा। साथ ही जो सही लगे, उस राह कदम बढ़ाने का दायित्व भी अपने ऊपर लेना होगा। ग्रामीण युवक पर डालकर अगर आप और हम स्थिति की चुनौती से बच जाते हैं तो स्थिति को कोसते रहने और वहीं के वहीं बने रहने के अतिरिक्त दूसरा हमारे लिए चारा नहीं रह जाता। यह ठीक है कि पैसे की ताकत जबर्दस्त है। उसके सामने आज आदमी हीन बन आया है। पर पैसे की ताकत असल में उसकी अपनी नहीं है, न उसमें लगी धातु की है, न छपे नोट के कागज की है। वह कीमत तो सरकारी है और राज्य के दबदबे की है। उसके आगे आदमी दीन और साधनहीन बन गया है, तो यह प्रश्न छोटा नहीं है, उसके तल में जाना होगा। पूंजी की बढ़ती सत्ता के इलाज के तौर पर साम्य का एक वाद चलाया गया था। बताया जाता है कि यह साम्यवाद पूंजीवाद के दोषों को काट देगा और आदमी के बीच के परस्पर स्नेह के प्रवाह को खोल देगा। उस

सिद्धान्त ने और स्वप्न ने आदमी को उबारा। पर उस क्रांति पर यथार्थ में पूँजी की सत्ता राज्य की सत्ता में मिलकर और स्फीत हो आई और श्रमशील साधारण मनुष्य की बेबसी घटने के बजाय कुछ बढ़ती हुई सी ही दिखाई देने लगी। राज्य नाम के तंत्र और यंत्र के ऊपर शासक बन कर बैठे हुए लोग प्रचलित अर्थ में श्रमी जन नहीं होते। वे व्यवस्था का दायित्व ओढ़ते हैं तो अपने रौब-दौब और हुकूमत के माध्यम के तौर पर उनके पास हुकूम और नोट के सिवा दूसरा उपाय-उपकरण नहीं रहता। परिणाम वही कि मूल्य का स्थानांतरण सिक्के से श्रम में नहीं हो पाता और राज्य के संगठन के हाथों में मनुष्य सिर्फ अपदार्थ सा कलपुर्जा बन कर रह जाता है। राज्य मनुष्य के भरण-पोषण का दायित्व ले और इस लायक काम के एवज की मजूरी उसे जुटा दे, तो शायद हाथ-पेट और शरीर रखने वाला मनुष्य सुरक्षित और आरक्षित हो जाता है। पर उतने से विवेक, अंतःकरण, कल्पना, भावना और स्वप्न रखने वाला पुरुष अतृप्त और अवगुण्ठित बना रह जाता है। अतः साम्यवादी प्रयोग मनुष्य की आवश्यकता की दृष्टि से सर्वथा ओछा और अधूरा सिद्ध हो आया है। राज्य-तंत्र उससे परिपुष्ट और बलिष्ठ हुआ है अवश्य और तदनुरूप कुछ लाभ भी इससे हुआ होगा। पर औसत प्रजाजन के मान में उससे तनिक भी अभिवृद्धि हुई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य उससे ऊँचा नहीं उठा बल्कि मनुष्यता के आदर्श की मांग में किंचित हीन ही हुआ हो सकता है।

पैसा का आकर्षण युवक को गांव से उखाड़ कर शहर में ला सकता है, तो सिद्ध यही तो हुआ कि सार्थकता का केन्द्र पैसा बना हुआ है। पैसे की सत्ता को हम पूँजीपति सेठ से जोतकर रह जाते हैं तो अधूरे दर्शन से काम लेते हैं। दूर-दृष्टि बतायेगी कि अर्थसत्ता स्वयं राज्य-सत्ता और दण्ड-सत्ता से स्वतंत्र होकर काम कर नहीं सकती। इसलिए पूँजी के वितरण की विषमता से विच्छिन्न और व्यथित लोगों की समस्या को अमुक राज्यवाद के रूप से हल किया जा सके यह दुराशा मात्र है। ऐसा दावा यदि राजनेता करता है तो जनहित से अधिक उसके मन में अपने नेतृत्व का ध्यान ही मानना चाहिए।

सिक्का मात्र श्रम का प्रतीक

मूल प्रश्न तो मनुष्य और मुद्रा के बीच है। महत्त्व मुद्रा में रहेगा तो मनुष्य गौण बने बिना न रहेगा। मनुष्य को महत्त्व मिलने का आशय उस महत्त्व का मुद्रा से स्थानांतरित होना है। मनुष्य के पास श्रम की क्षमता है और स्नेह की स्फूर्ति। उसमें प्रेम है और वह पत्नी और परिवार का दायित्व उठाता और उसमें स्वयं खपने और खटने में अपनी सार्थकता अनुभव करता है। प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर की ओर से मिली हुई यह प्रेम की पूँजी उसकी सबसे मूल्यवान निधि है।

समाज व्यवस्था वह अंधी और अंधी है जिसने इस संपदा को मूल्यहीन ठहराकर

मनुष्य को अपदार्थ बना डाला है। यह केवल अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का प्रश्न नहीं है। यह समूची सभ्यता की बुनियाद का प्रश्न है। क्या हम मानवीय सभ्यता को मानवीय मूल्य पर ही खड़ा करना नहीं चाहते हैं? तो कुछ वहां, और उस दृष्टि से, आरंभ करना होगा जहां केन्द्र में मनुष्य हो और सिक्का उसके श्रम का प्रतीक मात्र हो, कदापि उसके लक्ष्य का ध्रुव नहीं। मनुष्य की उस प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए स्वदेशी का व्यवहार और अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के संबंध में स्वावलंबी ग्राम का निर्माण, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय मैं नहीं देखता।

हृदय और बुद्धि के सहयोग का भी सवाल

यदि कोई आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा हो तो क्या उसकी सहायता नहीं करनी चाहिए? साम्यवादियों का कहना है कि नहीं करनी चाहिए? क्योंकि उसकी तथाकथित सहायता उसके आर्थिक संकट का इलाज नहीं है। इससे आर्थिक विषमता के कारण उठा हुआ उसका असंतोष दब जाता है और फिर वह इन्हीं सहायता के तरीकों से काम लेने का आदी हो जाता है। इसलिए यह सुधारवाद का तरीका समाजवाद के मार्ग में एक बड़ी बाधा है। इससे न तो व्यक्ति की समस्या सुलझ सकती है और न राष्ट्र की। उनका मानना है कि गहरे असंतोष में से ही समस्या का हल निकल सकता है। इसलिए जो लोग किसी के असंतोष को गहरा नहीं होने देते, वे समाजवाद के शत्रु हैं।

—असंतोष अवश्य एक प्रेरणा देता है। लेकिन असंतोष का स्रोत मानसिकता में है। भूख जब तक शारीरिक रहेगी, उसको प्रेरक मानसिकता का स्पर्श नहीं मिल सकेगा। भूखे को और भूखा रखकर जो पीड़ा उपजाई और बढ़ाई जाती है, वह अवश्य क्रांतिवादियों के प्रचार में काम आती है। उससे क्रांति को लाभ होता हो, लेकिन वह दीन-हीन की भूख की कीमत पर ही हो पाता है। भूखे आदमी की समस्या एक-एक की है, भूख की समस्या सब भूखों की एक साथ है। अर्थात् पहली जन-जन की और दूसरी जनता की है। इसमें जन-जन की भूख पर दयावान होकर जो हर मंगल को मंदिर के आगे भूखों की कतार बिठाकर सबेरे ही सबेरे उन्हें रोटी बांटता है और फिर दिन भर के लिए अपने बड़े-चढ़े व्यापार की कमाई में मग्न रहने के लिए पर्याप्त पुण्यार्जन करके संतुष्ट हो रहता है, वह प्रश्न के 'छोर' को एकदम अछूता छोड़ देता है। उसी तरह जो जनता की भूख को निरे अपने झण्डों और नारों पर उठाकर केवल क्रांति में व्यतीत होता और करता रहता है, वह भी प्रश्न के इधर के प्रत्यक्ष सिरे को अपने विचार में छोड़ जाता है। व्यवहारवादी अमुक की प्रत्यक्ष भूख पर अटक कर रह जाता है, तब आदर्शवादी समस्त की अव्यस्त शाब्दिक और नकली भूख की ही डुगडुगी बजाता रहता है। संसारवादी और क्रांतिवादी इन दो पक्षों में बांट देने से जीवन-धर्म खण्डित होता है। इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों

और व्यवहारों में तब तनाव आ जाता है और स्थिति और गति के प्रतिनिधि-तत्त्व परस्पर पूरक न रहकर विपरीत बन आते हैं। इस तरह नागरिक-धर्म टूटता है। मुझे लगता है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष में भेद नहीं है। प्रत्यक्ष को हृदय लेता है तो परोक्ष को बुद्धि सँभालती है। अतः आवश्यक नहीं है कि जनता के निमित्त जन-जन के प्रश्न के प्रति विमुख और उदासीन ही रह जाया जाए। इसी तरह न यह आवश्यक है कि एक-एक की भूख पर ध्यान देकर सबकी भूख के प्रश्न के प्रति अनजान और अंधा बन जाया जाए। इसलिए यदि कम्युनिज्म भूखे को नहीं केवल भूख को ही विचार में लेता और इस तरह भूखे को अमुक क्रांति का निमित्त बना लेता है तो वैसा कम्युनिज्म यथेष्ट नहीं हो सकता। न व्यापारी की वह दान-दया यथेष्ट हो सकती है जिससे दीन-हीन के अभाव को सीधे 'उपकार' द्वारा दूर किया जाता है। इन विरोधी दिशाओं में ऐकांतिक भाव से चलने में हृदय और बुद्धि के दोनों पक्षों में से किसी एक को दुर्बल होकर मुरझा आना पड़ता है। जीवन की सार्थकता में ये दोनों ही एकांगिताएं काम नहीं देंगी। व्यवहारवाद और आदर्शवाद दोनों यदि वाद हैं तो इनमें आपस में दूरी ही रहेगी, जीवन-सिद्धि न होगी। व्यवहार और आदर्श, स्थिति और गति, दोनों ही तटों के साथ जो न्याय करता हुआ चलता है, वही सच्चा संस्कार और विकास है। अर्थात् क्रांति के अंतरंग में प्रत्यक्ष रचनात्मकता न हो तो वह क्रांति समाधान नहीं दे सकती। भूखे को भूख से अलग करके प्रश्न को तात्कालिक से दूर हम मानसिक बना देते हैं। उस पद्धति से प्रश्न जीवंत और ज्वलंत रहने के बजाय धारणात्मक स्वरूप ले लेता है। उसकी सत्यता अर्द्धसत्य में परिणत हो जाती है। राजनीतिक मतवादों और मतवादियों के हाथ में आकर प्रश्न की समग्रता के साथ अधिकांश यही घटित होता है। इसलिए भूख के प्रश्न के लिए भूखे को किारा देकर चलने को मैं पर्याप्त नहीं कह सकता। जाने-अनजाने इसमें हम उस भूख के लिए काम करने लग जाते हैं जो किसी भूखे की नहीं, सिर्फ हमारी ही अपनी कोई गहरी भूख होती है। यही आदर्शवाद है जिसमें से हृदयहीन और आततायी शासक निकल आता है।

भूखे को पर का उपकार नहीं, निज का अधिकार मिले

भूखे की भूख भीख देकर मिटा दी जाती है तो आप कहते हैं कि इससे उसमें भिखारीपन की आदत पड़ने लगेगी। ऐसे उसमें इंसानियत और नागरिकता पनपने की संभावना सो जाएगी। यह भूखे के साथ न्याय नहीं, अन्याय करना होगा, ऐसे उपकार भी उसके लिए अपकार बन जाएगा। तो मैं आपकी बात से काफी सहमत हूँ। इसलिए दान दया की प्रेरणाओं का मैं एक मात्र तक ही समर्थक हूँ। अर्थात् भूखे को भोजन बतौर हक मिले तो ही वह श्रेयस्कर है, उपकार का और कृपा का खाना उस भूखे को मनुष्यता के विचार में और भी गिरा दे सकता है। यानी हर किसी को काम मिलना चाहिए, और काम

के एवज में अगर भूख मिटाने जितना भी दाम नहीं मिलता है तो ऐसे समाज-शासन को उलट देना चाहिए। भूखा या तो बीमार है या बेकाम है; बीमार है तो उसका हर पथ्य पर अधिकार हो आता है। बेकाम है तो उसका हक है कि काम मिले। काम पर भी योग्य दाम अगर नहीं मिलता है तो कसूर वहां है जहां दाम रहता है। इसका आशय कि हर एक को इसी समय काम मिलना चाहिए और इसको क्रांति के होने तक टलना नहीं चाहिये। यहीं क्रांति के विचार में अनिवार्य रचनात्मकता की आवश्यकता गर्भित हो आती है। उसके बिना तो क्रांति वह अंत में राजनीतिक चालबाजों के हाथ में आकर रह जाती है। तदनंतर शासन और भी दुर्दांत हो आता है।

हमारा ऐश दूसरे की भूख का कारण

किंतु वैश्य-धर्मी दान-दया के राहत के उपायों पर भी नहीं टिक रहना है। भूखे की भूख पर दया करने का हक हमें इसलिये नहीं आता कि पहले उसके लिए हममें से हर एक को प्रायश्चित्त करना है। उसकी भूख में कारण हम हैं, हमारी संपन्नता है। प्रायश्चित्त की यह भावना प्रश्न के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, ओर-छोर दोनों सिरों को एक सूत में ला सकती है। कारण, इसमें हृदय और बुद्धि दोनों की संयुक्त सार्थकता का पूरा-पूरा अवकाश मिलता है।

भावुकता का सहृदयता में संस्कार

आपने अभी कहा कि मैं दान-दया की प्रेरणाओं का एक सीमा तक समर्थक हूं। तो वह सीमा क्या है?

—उस प्रेरणा का समर्थक कुछ दूर तक इसलिए हूं कि संग्रह-वृत्ति दान-दया से ऊंची नहीं जा सकती है। संग्रह-वृत्ति अपने आप में संपूर्ण तथा सामाजिक तो नहीं है, तो भी आदमी में है और रहती है। समाजवाद कितनी भी ऊपर से चेष्टा करे, वह वृत्ति समाप्त हो जाने वाली नहीं है। इसलिए आपस में दान-भावना का अवकाश बचा ही रह जाएगा। समाज होते-होते इतना उन्नत हो सकता है कि दयनीय कोई रह ही नहीं आए और दान की अपेक्षा भी समाप्त हो जाए। वहां तो प्रश्न स्वयं समाप्त हो जाता है। अन्यथा दया-दान की प्रेरणा के लिए समाज में अवकाश रहे तो उन प्रेरणाओं को निषिद्ध नहीं ठहराना होगा। हां, बुद्धि द्वारा इतना संस्कार होते रहने की आवश्यकता है कि भावुकता वहां सहृदयता बन जाए और उपकार जैसे भाव के लिए स्थान न रह जाए। इतना पर्याप्त है। इससे आगे यदि बौद्धिकता अपने ताप और वेग में सहृदयता को ही सुखा देती है तो यह इष्ट नहीं है। मुझे भय है कि क्रांतिवादी और क्रांतिकारी में अक्सर यह घटित हो जाया करता है। हृदय-पक्ष निरंतर सक्रिय रहे और उस प्रक्रिया में उत्तरोत्तर उनका उदात्तीकरण होता जाए, इसके लिए आवश्यक है कि दान-दया की प्रणालियां सहसा

अवरुद्ध न हों। समाज-धर्म के संस्कार जैसे-जैसे दृढ़ होंगे वैसे-वैसे व्यक्ति का स्वत्व-भाव हलका और उदात्त बनेगा। उच्च भावापन्न व्यक्ति आज भी मन में उपकार का भाव नहीं रख पाता है। उस प्रकार का सहज विकास ऊपरी नियंत्रण से नहीं होगा, हृदय और बुद्धि के सामंजस्य से वह आप ही घटित होता आयेगा।

अध्यात्म चेतना कर्तृत्व और उपकार के अहं-विकार से मुक्त

जो मनुष्य को दुःख-अभाव मिला है वह उसके कर्मों का परिणाम है। धार्मिकों का विश्वास है कि ईश्वर न्यायप्रिय और सर्वान्तर्यामी है। इसलिए वह हर एक आदमी को उसके कर्मों का ठीक-ठीक फल देता है। दुःख या अभाव ईश्वर के दण्ड विधान के अनुसार है। तो क्या हम दान-दया की इन प्रणालियों से ईश्वर के दण्ड विधान के प्रतिकूल आचरण करते हैं।

—दुःख का मैं क्या करूँ? या कोई क्या करे? एक तो यह कर सकता है कि सहने से ज्यादा चीखे, कसूर अपनी तरफ न देखकर बाहर सब पर डाले और शिकायतों से भरें रहें। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि चीख कर क्यों सहे, कष्ट सहना ही है तो धीरज के साथ क्यों न सहा जाए? कष्ट पड़ा है तो दूसरों को बुरा-भला कहने के बजाए देखें कि कहीं कष्ट के लिए उसका अपना किया-धरा ही तो कारण नहीं है। तो मैं मानता हूँ कि दुःख के साथ निबटने की यह दूसरी पद्धति अधिक सहकारी हो सकती है। इसमें थोड़ा बहुत पूर्व-कर्म या भाग्य या ईश्वर जैसे तत्व का स्वीकार आ जाता है। यह तत्व वैज्ञानिक तो नहीं है, बौद्धिक भी नहीं है। इसलिए अक्सर दुःख कष्टों को सहसा दूसरों के दोषों पर तोड़ने की चेष्टा चला करती है। उस चेष्टा में से निकले हुए कृत्यों को प्रतिक्रियात्मक ही मानना चाहिए। उसके तल में स्व-अर्थ रहता ही है, और सच्ची सामाजिकता नहीं जागती। इसलिए पूर्वार्जित कर्म या भाग्य या ईश्वर जैसी धारणा को बीच में लाने से यदि जीवन में धैर्य, स्थैर्य और सामंजस्य आता हो तो उन धारणाओं से भय खाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

हां, हम किसी दूसरे के दुःख या अभाव को दूर करने क्यों चलते हैं? क्या किसी उपकार के भाव से? तो उपकार की नीयत से किया गया काम उल्टा फल ला सकता है। अर्थात् उस प्रकार के लोक-सेवा के कामों में पड़ते समय भी अनासक्ति का भाव होना आवश्यक है। इस अनासक्ति में ऊपर की धारणाएं काफी मदद करती हैं। तब अहं-कर्तृत्व का या पर-उपकार का भाव समाप्त हो जाता है, बाहरी दुःख-दैन्य दूसरे का होकर मेरे लिए समाप्त हो जाता है, वह मेरा अपना ही दुःख कष्ट बन आता और मुझे प्रवृत्त रखता है। अर्थात् उस प्रकार पारमार्थिक आधार सामाजिक प्रयत्न-पुरुषार्थ को क्षीण नहीं करता, बल्कि शुद्ध और तीक्ष्ण ही करता है, समाज परिवर्तन या समाज क्रांति आदि की प्रेरणाएं उतनी दूर तक नहीं जातीं, जितनी आध्यात्मिक प्रेरणा जा सकती है।

आध्यात्मिक चेतना शुद्ध संवेदनात्मक होती है और अहं कर्तृत्व का विकार वहां नहीं रह जाता। इस प्रकार वहां प्रतिक्रिया या प्रतिस्पर्धा का भी भय नहीं रहता, न वह प्रक्रिया बाहर विभेद या विग्रह ही उत्पन्न करती है।

संक्षेप में कहना चाहिए कि बाह्य कर्म का अभ्यंतर यदि अकर्म हो तो ही श्रेय है। इस आकर्षक अथवा मुक्त मनोदशा की प्राप्ति के लिए सर्वान्तर्व्याप्त विधान अथवा विधाता के प्रति स्वयं अर्पित हो रहना बहुत सहायक होता है। दूसरी लौकिक प्रेरणाओं को लेकर ही हम चलते हैं तो कर्म स्वच्छ सत्कार न रह कर उपकार हो जाता है। उपकार ही कैसे फिर अपकार बनता है इसके उदारहण देने की आवश्यकता नहीं, उसके प्रमाण तो हर कहीं साफ और आम हैं। उस अनिवार्यता का तर्क भी स्पष्ट है।

सृष्टा की अभिमुखता में सृष्टि की पराङ्मुखता नहीं

सब जो होता है यदि विधानाधीन ही होता है तो क्या आदमी का हर कर्म ही विधाता के काम में दखल देने जैसा नहीं हो जाएगा? इस विश्वास और सिद्धांत के अधीन सर्वथा ज्ञानी और अभ्यासी पुरुष निष्क्रिय और जड़ तक बनते देखे गए हैं। कारण, तब उनके निकट प्रतिरोध के लिए कुछ शेष ही नहीं बच पाता है। अर्थात्, निरी कर्महीनता ही तब ज्ञान और मुक्ति का लक्षण बन आती है। यह खतरा है और बहुत बड़ा है। भारत देश वैसी आध्यात्मिक जड़ता का शिकार नहीं बना, यह कहना कठिन है। इसलिए स्रष्टा की ऐसी अभिमुखता जिसमें से सृष्टि की पराङ्मुखता निकले न्याय्य और श्रेय नहीं मानी जा सकती है। इसी से मानव व्यक्ति में संवेदन के तत्व और तार गर्भित रहते हैं। बुद्धि ज्ञान को कितना भी परिपक्व और परिपूर्ण क्यों न बना दे, इन संवेदन सूत्रों को सर्वथा सुखा नहीं दे सकती। यहां ही है जहां 'होने' की पीड़ा रहती है। दुःख दर्द के अनुभव का यही केंद्र है। यहीं सहानुभूतिपरक संवेदनाओं के सूत्र एक जुट हो आते हैं। यहीं से पूरे व्यक्तित्व को, बिछोह का, अपनी अपूर्णता का, अकिंचनता और अनित्यता का बोध फूटता है। यहीं से भक्ति आती है और धर्म-कर्म फलित होता है।

अभी हृदय और बुद्धि के समीचीन सामंजस्य की बात कही गई थी। वही यहां भी उपयुक्त माननी चाहिए। जैसे क्रांति के बाद की प्रखरता में जनता के पीछे हम जन को खो सकते हैं, वही स्थिति ईश्वर के बाद में भी प्रगट होती है। यहां भी घट-घट वासी परमेश्वर को अपनी बुद्धि के घट में बंद मान लिया जाता और उससे उसकी सर्वव्यापकता मानो छीन ली जाती है! इस अवस्था को ईश्वर की आस्था से अधिक उसकी मतवादिता कहा जा सकता है। मतवादिता, वह फिर किसी उपलक्ष्य से क्यों न हो, अंतरंग की संवेदनाओं के व्यापार को जड़ीभूत कर देती है। इसी से वे आवेश अपने उताप से अंतस्संवेदनाओं के सूत्रों को झुलसा रहते हैं। तब परोक्ष पर प्रत्यक्ष को बलि दे रहना सुगम हो आता है। यह स्वलन एकांगी कर्म में अथवा एकांगी ज्ञान में सहज संभाव्य है।

विवेक और वेदना के संगम में ही संभव है कि कर्म की क्षति न हो और उस कर्म में अहं का विकार भी न ही रह जाए।

पैसा भोग का ही नहीं, अब प्रभाव और अधिकार का भी माध्यम

आज जीविका का प्रश्न अत्यन्त जटिल बन गया है। ज्ञान-विज्ञान में उन्नति और विकास के साथ यह प्रश्न जटिल से जटिलतर बनता जा रहा है। यह देखकर मन में प्रश्न होता है कि ज्ञान और विज्ञान की अन्तिम परिणति क्या यही है? और क्या ताज्जुब कि भविष्य में जीविका का यह प्रश्न विनाशक रूप न ले ले। तो फिर मनुष्य और मनुष्यता का क्या होगा?

—जीविका का प्रश्न औसत आदमी के साथ पहला और अन्तिम बना हुआ है। इस स्थिति के साथ ज्ञान-विज्ञान का सम्बन्ध यद्यपि सीधा नहीं है, फिर भी उनमें कुछ अनुबन्ध तो देखा ही जा सकता है। इसलिए अन्य सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों के साथ ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के आधारों की भी पड़ताल होनी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उन आधारों में मौलिक संशोधन करने में भी झिझकना नहीं चाहिए।

प्रश्न सीधा तो आर्थिक सामाजिक है, तनिक आगे चलकर वह राजकीय भी हो जाता है। नये उद्योगों के बल पर अब अर्थ-संचरण का केन्द्र कृषि से हटकर कारखाने पर आ गया है। पहले का वणिक अब कुछ भिन्न बन रहा है। उसे प्रभुता और सत्ता का चस्का छू गया है। दान-दया की वृत्ति की जगह कुछ शिकारी वृत्ति उसमें उत्पन्न हो रही है। पैसा अब भोग नहीं, प्रभाव और अधिकार का आयुध भी होता जा रहा है।

प्राण-त्राण की स्थिति में मर्यादाएं स्थगित

ऐसी स्थिति में विषम बनती जाती हुई जीविका की समस्या विस्फोटक होती दीखे तो विस्मय नहीं है। अस्तित्व ही यदि प्रश्न बन जाता है तो किन्हीं मर्यादाओं का सवाल नहीं रह जाता। मर्यादाएं परस्पर संबंधों को अनुबन्ध में रखती हैं। अर्थ और काम की शक्तियां इन मर्यादाओं में रहकर रचनात्मक बनती हैं। मगर अगर जीने के लाले ही पड़ जाएं तो फिर मर्यादाएं भंग हो आती हैं और स्थिति विकट बनती है।

सम्पन्न-विपन्न के बीच की खाई और रचनात्मक नेतृत्व की अनिवार्यता

आर्थिक विषमता के उत्कट हो आने पर आशा करना कि जीवन व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहेगी, दुराशा मात्र है। इसलिए जहां-तहां विस्फोट होते भी दीखते हैं। नक्सलवाद का पुलिस की शक्ति से सामना किया जा रहा है और इस पंथ के अनुयायियों के प्रति शासन का दमन बढ़ता ही जा रहा है। फिर भी उस पंथ का जो प्रसार ही होते जाना काफी सूचक है। यदि रोजी-रोटी की समस्या इसी भांति उत्तरोत्तर कसती गयी तो

एक बड़ी उथल-पुथल को बचाया नहीं जा सकेगा। वर्तमान के व्यवस्थापकगण इस ओर पूरे सावधान नहीं मालूम होते। वे आईन-कानून से काम लेते हैं और अपनी सुख-सुविधा बढ़ाते जाते हैं। मुंह में उनके फिर चाहे जो शब्द रहें, लेकिन ऐसे उन्हें सहा नहीं जायेगा और अधिक समभावी समाज को लाने की कोशिशें नीचे से बंद नहीं होंगी। कोई ऐसा नेतृत्व नहीं है जो शासक और शासित, सम्पन्न और विपन्न के बीच की इस बढ़ती हुई खाई में से उत्पन्न दुर्भावपूर्ण प्रेरणा को सत्-संकल्प का स्पर्श देकर रचनात्मक दिशा में मोड़ दे सके। उस नेतृत्व के अभाव में वह दुर्भाव ध्वंस के रास्ते पर बढ़ने को विवश होगा। अन्य विकल्प दीखता नहीं। यह दूसरी बात है कि ध्वंस की इस प्रक्रिया में से जो व्यवस्था आए वह उत्तमतर तो क्या, अधिक जकड़-बंद ही हो, लेकिन उपायहीनता में दूसरा कुछ संभव नहीं रह जाता है। मनुष्य यदि रोटी-रोजी पहले मांगे और एक बार मनुष्यता के दूसरे मूल्यों की चिन्ता न करे तो उसे दोष भी कैसे दिया जा सकता है। यह स्फोटवादी ध्वंसक क्रांति की प्रक्रिया इस समय भी समाज में चलती देखी जाती है। समय रहते यदि रचनात्मक नेतृत्व प्रगट न हुआ तो उस प्रक्रिया को अपने तर्कान्त तक जाने से रोक पाना कठिन होगा।

हमारी औंधी व्यवस्था में नीचे मेहनत कश, ऊपर सफेद पोश

तो क्या स्थिति की जटिलता में से जीविका की समस्या का समाधान आ सकेगा? क्योंकि जीविका की चाह हर एक आदमी की है। उसी को पाने का संघर्ष है। चूंकि जीवन-रक्षा के निमित्त जीविका आवश्यक है इसलिए इसकी चाह कभी खत्म नहीं हो सकती। फिर समस्या जहां की तहां रह जाएगी।

—जीविका के साधन अर्थात् अन्न, वस्तु, वास तथा दूसरी अपरिहार्य आवश्यकताएं श्रम से उत्पन्न होती हैं। इन श्रमी जनों के सिर पर अगर निरुद्यमी लोगों का बोझ बढ़ता ही चला जाए तो क्या होगा? वही हो रहा है। हमारी व्यवस्था औंधी है। नीचे मेहनतकश, ऊपर सफेदपोश। इन सफेदपोशों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। मेहनतकश को अपने ऊपर इन्हें भी पालना है। यह उपजीवी वर्ग जितना बढ़ेगा और जितना इसका महत्त्व बढ़ेगा, समस्या उतनी ही जटिल बनेगी। राज्य-केन्द्रित समाज में इस उपजीवी वर्ग का बढ़ते जाना अवश्यभावी है। आज की सभ्यता की गत उसी ओर है। यंत्रवाद और उद्योगवाद के अधीन सिर्फ पैसा कमाने की गर्ज से अनावश्यक शौक और सुविधा की चीजें बेतहाशा पैदा की जा रही हैं। इस प्रकार किया गया अर्थ-संचय समाज में गहरा वैषम्य और वैमनस्य उत्पन्न करता है। नकद-प्रधान सभ्यता मूलोत्पादन को गौण बना देती है और अपने व्यापार-व्यवसाय की प्रक्रिया में भांति-भांति के राजनीतिक प्रश्न खड़े करती चली जाती है। सबसे बड़ा प्रश्न प्रतिरक्षा और सुरक्षा का हो आता है। इस मद पर बेहद ध्यान देना पड़ता है और लाखों-लाख आदमियों को सैनिक के रूप में रोक रखना

लाजमी होता है। उत्पादन भी शस्त्रास्त्र केन्द्रित हो जाता है। कुल का कुल समाज मानो युद्ध की तैयारी में जीता है और युद्ध ही मानव जाति के लिए सबसे अनिवार्य उद्योग बन आता है। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था में जीविका का प्रश्न दुर्गम ही बनता चला जाएगा, कुछेक वर्गों के लिए सुविधा जुटाने में नीचे का बड़ा भाग हीन और वंचित रहता जायगा। सम्पन्नता यदि किसी देश में होगी तो किसी दूसरे की विपन्नता के आधार पर ही हो सकेगी। मानव सभ्यता की यह गति स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा को बढ़ाती जाएगी और अन्ततः जीवन को अत्यन्त विषम बना देगी।

मशीन के नीचे दबा आदमी

सोचना होगा कि बीच से युद्ध की आवश्यकता को कैसे खतम किया जाय। युद्ध शीत ही सही, उसके अधीन जो हमारा उत्पादन का कार्यक्रम चलता है सो मूलोद्योग पिछड़ जाते हैं, भीमोद्योग सिर आ चढ़ते हैं, और मालूम होता है कि आदमी मशीन के नीचे आ गया है। मशीन काम करती है और आदमी को या तो अनावश्यक बना देती है या अपना पुर्जा बना छोड़ती है। उत्पादन के इस क्रम में अन्तर लाना होगा। इसके लिए पहले तो राष्ट्रों में आपसी जो संशय और भय है उसको लोगों के मनों से दूर करना होगा। वह भय संशय रहते क्रम बदला नहीं जा सकता। वर्तमान जीवन पद्धति और कार्य पद्धति से ऊब कर खासे लोग सर्वथा नियम-मर्यादाहीन जीवन में उतरे आ रहे हैं। उनको उस प्रचलित जीवन-क्रम में कोई अर्थ ही नहीं मिलता है कि जहां हम सुविधा के लिए जीते और सैनिक को सर्वावश्यक प्राणी बना डालते हैं। उनकी वृत्ति में पलायन हो, लेकिन काफी सूचक लक्षण भी वहां हैं। सभ्यता वह सच्ची होगी जहां जीविका का प्रश्न जटिल होगा ही नहीं। अस्तित्व सब का परस्परता के क्रम में से सहज साध्य और सिद्ध होता जाएगा। प्राथमिक आवश्यकताएं आपसीपन में से पूरी होंगी और इस तरह आदमी अस्तित्व के सवाल से ऊपर आ जाएगा। वह जीवन की आस्था और सार्थकता खोजने और पाने की दिशा में ऊपर उठेगा।

सरकारी नौकरी से बेरोजगारी को बढ़ावा

बेरोजगारी के प्रश्न को नौकरियां पैदा करने के जरिये सरकार हल करने की बात सोचा करती है। पर नौकरी रोजगार नहीं है और उस तरह तो बेरोजगारी ही बढ़ाई जा सकती है। क्योंकि कुल मिलाकर सरकार नाम की संस्था उत्पादक नहीं होती, उपभोक्ता होती है। उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ाने से प्रश्न जटिल ही होगा, खुलेगा नहीं।

मैं तो मानता हूं कि जीवन को आज बढ़ती जाती हुई ग्रन्थियों की दिशा से मोड़ कर जटिल से सरल बनाना हो, तो उस सभ्यता का पल्ला हमें छोड़ना और नये आधारों का निर्माण करना होगा।

बेरोजगारी का हल — समाज-रचना की भूमिका प्रतियोगी में उठकर सहयोगी बनें

अगर युद्ध की आवश्यकता खतम भी हो जाए तो जीविका का प्रश्न हल नहीं हो सकता। क्योंकि जिन फौजियों को इस नौकरी से बर्खास्त करेंगे तो उन्हें कहीं और नौकरी देनी होगी। इस तरह इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। तो सोचना होगा कि इसका हल क्या हो ?

—नौकरी में हल नहीं है, यह तो स्पष्ट हो ही जाता है न ? नौकरी अर्थात् सरकारी नौकरी। सरकार का लवाजमा जितना बढ़ता है, उतना ही उत्पादक पर उपभोक्ता का भार बढ़ता जाता है। युद्ध बीच से हट जाता है तो सरकार नाम की बेहद बोझिल और भारी भरकम संस्था का भार उत्पादक पर हल्का होने में आता है। ऐसे श्रमी उत्पादक व्यक्ति व्यवस्था के अपेक्षाकृत केन्द्र में आता और उसका मान-मूल्य बढ़ता है। यहां से नागरिक सूझ-बूझ और अभिक्रम जागने के अवसर निकलेंगे और मूलोत्पादन गौण या नगण्य न रह जाएगा। व्यक्ति इस तरह सरकार की ओर न ताकेगा और स्वयं करने-धरने की दिशा में सोचने को समर्थ होगा। युद्धोद्योगों का दबाव घटते ही मनुष्य प्रकृत जीवन की ओर लौटेगा और उसमें हर आदमी हर दूसरे का प्रतियोगी नहीं बल्कि सहयोगी होगा। मैं मानता हूं कि प्रतिस्पर्धा से यदि समाज-रचना की भूमिका सहयोगी हो आये तो जीविका की समस्या की जटिलता अपेक्षाकृत कम होती जाएगी।

उद्योगों के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन

हां, रोजगार और कुटीर-उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिले तो यह समस्या हल हो सकती है। लेकिन इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बड़े उद्योग धंधों की प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाता और कुटीर-उद्योग-धंधों में लगे लोगों को भारी निराशा होती है। तो यहीं समस्या खड़ी हो जाती है और हम सोचने लगते हैं कि इस यंत्र-युग ने मनुष्य की कीमत घटा दी और उसे बेकार कर दिया। ऐसी स्थिति में कुटीर-उद्योगों का क्या होगा और उनका क्या होगा जो इसमें लगे हैं ?

—अन्याय केन्द्रित भारी उद्योग युद्धोद्योग के अंगांग के रूप में चलते हैं। उनसे कुटीरोद्योग दब और बुझ जाते हैं। युद्ध का उद्योग बीच से निकल जाता है तो दूसरे बड़े-बड़े उद्योगों के रूप के बारे में मौलिक परिवर्तन का आ जाना अवश्यम्भावी है। अभी तो आर्थिक मुनाफे की प्रेरणा है जिसमें से ऐसे उद्योग खड़े होते हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तल पर भी युद्ध के वातावरण में हम प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर जीते हैं। हर देश आयात से निर्यात को बढ़ाकर स्वयं मुनाफे में रहना चाहता है। राष्ट्रों की यह प्रतियोगिता यदि अनावश्यक हो जाती है तो बड़े-बड़े उद्योगों की प्रेरणा अपने आप ही नीचे से शिथिल होने लगती है। कुटीरोद्योगों पर का दबाव भी तब कम हो जाएगा। नगरों का केन्द्रीकरण

तब इतना अनिवार्य न रहेगा और लोग एक दूसरे के ऊपर घने-घने न बसेंगे, बल्कि वे फैलेंगे और लोगों का जीवन उनके अपने हाथों में आता जाएगा।

युद्ध के बीच से हट जाने पर मशीन और मनुष्य की सहयोगिता संभव

वह स्थिति, जहां तक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का संबंध है, कुटीरोद्योगों के सहज पक्ष में होगी और केन्द्रित उत्पादन से उनकी टक्कर का प्रश्न उतना न रह जाएगा। राज्य-संस्था यदि अपने में उतनी केन्द्रित नहीं रहती है, यदि उसके कर्तृत्व के लिए क्षेत्र उत्तरोत्तर मात्र कानूनी और नैतिक रह जाता और जीवन अधिकाधिक स्वायत्त बनता है, तो अन्न-वस्त्र के मामले में उत्पादक-उपभोक्ता के बीच व्यवधान पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। तब कुटीरोद्योग तब मजे में पनप सकते हैं। अभी तो वैसी हालत नहीं है। बड़ा मिल खड़ा करके यहां बेहद कपड़ा पैदा किया जा सकता और देश के दूर-दूर कोने तक भेजा जा सकता है। यह कपड़ा हाथ कते, बुने या हाथ-कर्घे के कपड़े को जमने नहीं देता, उखाड़ देता है। लेकिन वस्त्र का यह केन्द्रित उत्पादन, अन्न में क्या केन्द्रित राज्य से जुड़ा हुआ नहीं है? और केन्द्रित राज्य प्रतिरक्षा के प्रश्न के नीचे दबा हुआ नहीं है? यह एक लंबी कड़ी है और युद्ध बीच से हट जाता है तो प्राथमिक आवश्यकताओं के केन्द्रित उत्पादन की आवश्यकता भी उतनी अनिवार्य नहीं रह जाती और तब कुटीरोद्योग या अन्य विकेन्द्रित उद्योगों की प्रेरणा खुल आती है। न केन्द्रित उत्पादन के माल की प्रतिस्पर्धा का प्रश्न उतना विकट रह जाता है। मशीन बहुत कुछ अपनी जगह पर आ जाती है और मनुष्य की सहायक बनती है, मनुष्य पर हावी होने की क्षमता उसमें नहीं रहती। मनुष्य अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में उनकी निर्भरता से काफी मुक्त हो जाता है। मशीन तब मनुष्य के अस्तित्व को खतरे में नहीं डालती बल्कि उसके जीवन की सम्पन्नता को बढ़ाने के काम आती है। जीविका मशीन की अधीनता से मुक्त हो जाती है और इसलिए वह मशीन मनुष्य की क्षमता को बढ़ाती ही है, घटा नहीं पाती। अभी तो मशीन और मनुष्य परस्पर प्रतियोगी हैं। युद्ध के बीच में से उठ जाने पर उनमें सहयोगिता की संभावना बढ़ जाती है। मनुष्य के नैतिक हास में आज मशीन योग दे रही है, उस स्थिति में वह मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का उपकरण बन चलेगी।

आयात-निर्यात की भूमिका

अभी आपने आयात-निर्यात की चर्चा की। हमारी सरकार इस समय आयात घटाने और निर्यात बढ़ाने पर जोर दे रही है। उसका सोचना है कि इस तरह हमें वैदेशिक मुद्रा पर्याप्त मात्रा में मिल सकेगी और देश समृद्धिशाली बनेगा। कुछ लोगों का विचार है कि बिना खेतीबाड़ी में स्वावलम्बी बने देश की समृद्धि सम्भव नहीं। उनका तर्क है कि कृषि प्रधान भारत देश खाद्यान्न का आयात करे और इंजीनियरिंग

64 / गांधी और हमारा समय

सामानों का निर्यात करे, यह विडम्बना नहीं तो और क्या है ?

—हां, मैं उस नीति से सहमत नहीं हूँ जहां उत्पादन को आवश्यकता से तोड़ा और विदेशी मुद्रा के अर्जन से जोड़ा जाता है। जरूरत हमें खाद्यान्न की है, लेकिन जमीन में बोया जाता है तम्बाकू। तम्बाकू का निर्यात करेंगे, एवज में गेहूँ का आयात। इस नीति के अपनाने के पीछे खाद्यान्न को उधार लेना पड़ा और अन्त में ध्यान में आया कि कृषि के प्रति हमारा गौण भाव सही नहीं था।

शीत युद्ध के निर्माण के चरण

इस प्रश्न का एक और भी पक्ष है। स्वतंत्रता की लड़ाई के समय गांधी जी के नेतृत्व में विदेशी कपड़े का बहिष्कार ही नहीं किया गया था, बल्कि उसकी होली तक जलाई गई थी। हमने माना था कि मैनचेस्टर-लंकाशायर से आये कपड़े की निर्भरता भारत को पराधीन और दीन-हीन ही रखेगी। भारत अब अपने यहां मिलों से बना कपड़ा भारी मात्रा में बाहर भेजकर विदेशी मुद्रा कमा रहा है। क्या यह नहीं हो सकता कि जो देश हमसे कपड़ा लेने को बाध्य हैं वे स्वयं इस ढंग से पराश्रित बन रहे हैं। असल में राष्ट्रीय स्वार्थों की अपेक्षा से चलने वाली अर्थ-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता जगाये रखती है। फिर उस क्षेत्र में आर्थिक कूटनीति और राजनीति का बोलबाला होता और उसके साथ और पीछे शीतयुद्ध का वातावरण बन आता है।

उत्पादन आवश्यकता से जुड़ा हो

विश्व की अर्थ-व्यवस्था इसी तौर-तरीके पर चल रही है और भारत भी उस पटरी पर पड़ गया है। भारत विकसित देशों की श्रेणी में नहीं है, विकासमान ही उसे कहा जा सकता है। आत्मरक्षा का प्रश्न भी उसके सिर पर है। इस तरह बड़ी शक्तियों के बीच उसकी स्वाधीनता और पक्षमुक्तता सुरक्षित नहीं मानी जा सकती। हम देख रहे हैं कि भारत के सिक्के का अवमूल्यन हुआ है। तिस पर अवस्था यह है कि आगे भी अवमूल्यन की स्थिति आ सकती है। रुपया दुनिया की मंडी में काफी कमजोर सिक्का है। उसकी साख नहीं मानी जाती। भारत पर भारी कर्ज है और राजनीतिक और आर्थिक गति यही रही तो भारत की स्थिति सँभलेगी नहीं। जिस तरीके को हम अब तक अपना रहे हैं उससे मशीन तो बढ़ती और मनुष्य खाली रहता है। बेरोजगारी फैलती और बढ़ती गयी तो कानून और व्यवस्था की स्थिति अधिक ही चिन्तनीय बनेगी। उद्योग-व्यवस्था की और अर्थ-संचारण की नीति को कुछ इस प्रकार का मोड़ देना होगा कि हर आदमी को काम मिले और अपन अस्तित्व की प्राथमिक आवश्यकताओं के लिये फिर उसे दूसरों का मुंह न ताकना पड़े, अन्याय उत्पादन के लिये चाहे तो मशीनों-कारखानों के विषय में कितना भी सोचा और किया क्यों न जाय। मशीन

मनुष्य को अगर पीछे डाल देगी और खुद ऊपर आ जायेगी तो इस प्रकार बढ़ाया-चढ़ाया गया उत्पादन भीतरी व्यवस्था में अनेक सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं उत्पन्न करेगा और कुल मिलाकर वह देश की आर्थिक, राष्ट्रीय अथवा सामरिक सामर्थ्य बढ़ाने वाला नहीं हो सकेगा।

मैं मानता हूँ कि उत्पादन को अपनी आवश्यकता से प्रथमतः जुड़ा रहना चाहिए और यांत्रिक से मानवीय दृष्टि को प्रधानता मिलनी चाहिए।

स्वावलम्बन के लिये कर्ज

देश को स्वावलम्बी बनाने के नाम पर विदेशों से भारी मात्रा में कर्ज लिया जा रहा है। आज भारत करीब 60 अरब रुपये का कर्जदार बन चुका था। जरा सोचिये तो सही तीन-तीन पंचवर्षीय योजनायें हमने खतम कर लीं लेकिन कोई अभीष्ट परिणाम नहीं निकला। इन योजनाओं में विदेशी कर्ज का भारी हिस्सा था। किन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना शुरू करने के लिए विदेशी कर्ज नहीं मिल सका इसलिए वह तीन साल तक खटाई में पड़ी रही। इन परिस्थितियों को देखते हुए लगता कि कर्ज लेकर स्वावलम्बी बनना संभव नहीं और इस तरह कर्ज लेते रहने से भारत का स्वाभिमान कैसे टिका रह सकेगा?

—यह तो आपने ठीक ही कहा।

बाजार का मनोविज्ञान और कर्ज देने की अनिवार्यता

जो देश कर्ज देते जा रहे हैं उनका लक्ष्य भारत को सहायता देना है या कि उसे अपने प्रभाव में रखना है? अगर प्रभाव में रखने की बात है तो यह कर्ज महंगा पड़ सकता है। इसमें आपका क्या विचार है?

—सहायता देने का हेतु जो भी हो, उस राह प्रभाव का आना अनिवार्य है। बाजार का मनोविज्ञान विचित्र होता है। क्रेता और विक्रेता के बीच गर्ज और आवश्यकता में हर क्षण तुलन-संतुलन होता रहता है। वहीं से भाव-ताव में घटा-बढ़ी हुआ करती है। भारत और एशिया के दूसरे देश, अथवा कि अफ्रीका के देश, अगर गर्जी नहीं रह जाते, इतने आत्म-निर्भर हो आते हैं, तो उन्नत समझे जाने वाले देशों की अर्थव्यवस्था निश्चय ही डाँवाडोल हो आयेगी। जिनके पास अधिक है उनको उस अधिक को देने-निबटाने की समस्या भी है! नहीं तो वह उन्हीं पर भारी पड़ता जायेगा। माल जमा ही होता चला जाये, बाहर ग्राहक न हो तो वह ठप हो जायेगा। मुझे लगता है कि उन्नत मानी जाने वाली सभ्यता तभी तक जगमगा सकती है जब तक उनकी आडम्बर की चीजों के लिये बाहर भूख और गर्ज मौजूद हो। वैसे गर्ज न रह जाने पर जगमगाहट ढह जायेगी और आडम्बर भार बन आयेगा।

इसलिये कर्ज देना एक दृष्टि से सम्पन्न देशों के लिए भी एक अनिवार्यता ही है। पर

66 / गांधी और हमारा समय

अन्य देश यदि अपने को विपन्न न मानें, अनुन्नत न समझें और प्रार्थी न बने, तो ऋण के साथ शायद प्रभाव का प्रश्न न भी जुड़ा रहे। अभी तो वह स्थिति नहीं है। राष्ट्र-जीवन में तब अपने आप वह स्थिति आने लगेगी और आज के प्रमाद की जगह श्रमशीलता दिखाई देगी।

कानून से आर्थिक विषमता की जड़ें कट या सूख नहीं सकेंगी

इस देश में एक आदमी साठ रुपये महीना पाता है और दूसरा पांच हजार पाने वाला बहुत फिजूल खर्च होता है क्योंकि उसके पास फिजूल रुपया पहुंचता है। एक वर्ग के लिये इस गरीब देश में भी विभिन्न प्रकार की विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है। दूसरी तरफ एक आदमी को भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता इस असमानता को कानून द्वारा क्यों नहीं तोड़ा जा सकता? बिना इसके, उत्पादन और राष्ट्रीय आय बढ़ाने पर भी श्रमिक और गरीब की हालत नहीं सुधारी जा सकती।

—कानून द्वारा आर्थिक विषमता को हटाने के लिये जितना किया जा सकता है, उतना अवश्य किया जाना चाहिए। पर उस तरीके से विषमता से मुक्ति मिल जायेगी, यह भ्रम ही सिद्ध होगा। एक हद तक ही उससे रोकथाम होगी, पर रोग की जड़ें हरी बनी रहेंगी और वे कटेंगी नहीं।

वैषम्य की यह दरार कैसे पटे?

कानून बनते ही दो पक्ष खड़े हो जाते हैं। एक जिसको कानून पालना होता है, उसको प्रजा कहिये। दूसरा जिसको कानून पालना नहीं, पलवाना होता है, उस वर्ग को सामान्य के विपक्ष में राजन्य वर्ग कहा जा सकता है। कानून इस राजन्य वर्ग के ऊपर नहीं आता, बल्कि उसके तले रह जाता है। नतीजा यह कि विषमता यदि अमीर और गरीब की ऊपर से कम होती दीखती है तो वह विषमता सामान्य और राजन्य वर्ग के बीच उतनी ही गहरी और चौड़ी हो जाती है। विषमता को दूर करने के कानूनी उपाय की निर्भरता से अन्त में यही परिणाम आता है। पूंजीवाद जिस क्रान्ति द्वारा मिटा डाला माना गया, वह क्रान्ति ही पीछे राजकीय पूंजीवाद में परिणत होती दीख आई। वहां सत्तापति ही पूंजीपति हो बैठा। इस व्यवस्था में श्रेणीगत विषमता दूर हो गयी, यह कहना इतना सीधा है कि सही नहीं है।

कानून नहीं, जनमत की प्रबुद्धता आवश्यक

अगर संचय की तृष्णा का बीज विद्यमान रह जाता है तो वह वर्ग जो कानून के नीचे नहीं ऊपर है खुली छूट पा जाता है। इस प्रकार की अपकर्म की घटनाएं साम्यवादी रुस में कम नहीं सुनी जातीं। उसके अतिरिक्त वह चतुर वर्ग भी है जो कानून से आंख बचाने में कुशल है। कोरे कानून से उसका भी इलाज नहीं होता। इसलिए सिर्फ कानून का भरोसा

काफी नहीं है, जन्मत का प्रबुद्ध रहना आवश्यक है। प्रबुद्ध जनमत का लक्षण होगा कि उसकी निगाह में मूल्य अपरिग्रह का होगा और संग्रह-संचय की उतनी प्रतिष्ठा न रह जायेगी। अगर पूँजी या पैसे की प्रतिष्ठा उतनी नहीं रह जाती है तो उसके संचय के प्रति न लोगों के मनों में ईर्ष्या होगी, न कोई खास इज्जत। तब प्रश्न भी इतना तीखा न रह जायेगा। आयु की दृष्टि से बाबा साठ वर्ष का है तो पोता छः वर्ष का, लेकिन इस विषमता पर क्या किसी को शिकायत होती है? बल्कि छः और साठ की आयु-विषमता के कारण उनमें आपस में और भी प्यार देखा जाता है। यही हाल स्वस्थ समाज में पैसे को लेकर हो सकता है। असल में पैसे और पूँजी को आवश्यकता से अधिक महत्व मिल गया है। मार्क्स के कम्युनिस्ट विचार ने मानो सत्य की जगह द्रव्य और अर्थ को ही बिठा दिया है। उससे सारा जीवन-विचार और समाज-विचार अर्थ-केन्द्रित बना जा रहा है। आज की सभ्यता का मंत्र मुनाफा है, और विज्ञापन-विक्रय सबसे ऊँचा हुनर है। पूँजी का वाद बना, वहीं गलती थी। उस वाद को फिर प्रतिवादों के प्रहार से दैत्यकार रूप दे दिया गया। उस दैत्य को ललकार देने वाला मानो इधर से डबल दैत्य खड़ा हो गया। इस राजनीतिक दुर्धर्षता और छलना से जीवन-दृष्टि को धुंधला बना दिया है। अर्थ के पार भी कोई सत्य है, इस दर्शन को दुर्लभ ही कर दिया गया है।

मूल्य को सिक्के में से गायब करके मनुष्य में बिठाना होगा

अक्सर देखा जाता है कि चौथी आयु में मनुष्य धन-दौलत का अधिकार पुत्र-पौत्र पर छोड़कर स्वयं विश्रान्ति में रहना पसंद कर आता है। दुनिया के दंद-फंद में उसे रुचि नहीं रहती। मनुष्य के सामने अर्थ से बड़ा कुछ हो आता है और उसमें उस सूक्ष्मतर के प्रति लगन जग आती है। जीवन की यह सहज प्रक्रिया है। लेकिन पैसे को जीवन का केन्द्रीय सत्य बना देने से मानो सभ्यता विकराल रूप ले उठी है। मुनाफा जो मंत्र बन गया है, उससे मानव संबंधों में गर्भित-हिंसा का भाव व्याप्त हो गया है। वही अन्तर्व्याप्त हिंसा रह-रहकर रुद्ररूप में फूट आया करती है। मुझे नहीं लगता कि नये, पुराने या अत्याधुनिक किसी मतवाद के पास इसका इलाज है। इलाज है तो वहां है जहां मूल्य सिक्के में रहता ही नहीं, मनुष्य में हो आता है। राजनीतिक विचार हिसाबी और आंकिक होते-होते मानव-निरपेक्ष बन गया देखा जाता है। आवश्यकता उस दर्शन की है जिसके केन्द्र में ज्योति स्वरूप दिव्यात्मा है। यही क्रान्ति है जो अपेक्षित है और उसको आर्थिक नहीं, पारमार्थिक क्रान्ति कहना होगा।

आत्मिक क्रान्ति और आर्थिक समस्यायें

यह आत्मिक क्रान्ति हमारी आर्थिक समस्याओं को हल कर सकेगी मुझे उसमें संदेह है। क्योंकि भारत अति प्राचीन काल से आत्मिक क्रान्ति करता चला आ रहा

68 / गांधी और हमारा समय

है। उसने अर्थ को गौण माना था, धर्म को प्राथमिकता दी थी। उससे क्या हुआ? आर्थिक समस्याएं जटिल बनीं और आज अर्थ ही सबसे प्रधान बना हुआ है।

—बुद्ध के बाद और गांधी से पहले किसी आत्मिक क्रान्ति की घटना का मुझे पता नहीं है। धर्मों का आधार, हां, आत्मिक रहा और उस संस्था में आगे जाकर तब सड़ांध आ गई जब उसका रूप आर्थिक बन चला। आर्थिक स्वार्थों से घिर जाने पर समस्याएं बनीं और मानव इतिहास की परम विराट दो घटनाएं, ईसाईयत और इस्लाम के उदय की दर्शाती हैं कि ऐसी दुरवस्था में भी आत्मशक्ति समाज और जगत का क्या कायापलट कर सकती है। ध्वंस की कहानियां मिलती होंगी, लेकिन इन दो धर्म-सत्ताओं के अभ्युदय से बड़ा रचनात्मक इतिहास क्या मनुष्य के पास है? इस धर्मोत्थान में कौन सा आर्थिक विचार काम कर रहा था? क्या उसमें आर्थिक से कहीं गहरी आत्मिक प्रेरणा का ही प्रकाश न था। आर्थिक स्थूल और प्रगट है इसी से उसे सत्यतर मान लेना धोखा खाना है। न यह मानना मानव के साथ न्याय करना होगा कि अर्थाभिलाषा से बड़ी उसके पास कोई प्रेरणा नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक विचार, अथवा उस प्रकार की क्रान्ति की बातें, मनुष्य के निम्न अर्धांश को लेती हैं, उस उत्तरार्द्ध को छोड़ देती हैं जहां मानव का गूढ़तर सत्य निहित माना जा सकता है। सभ्यता और संस्कृति उसी गहन स्तर से निर्माण पाती हैं, जबकि सत्ता एवं धनाकांक्षा के पीछे वह मौलिक प्रेरणा नहीं होती, प्रतिक्रियात्मक और प्रतिघातात्मक वासना होती है। अतः वह उतना स्थायी और प्रत्याशित परिणाम भी नहीं छोड़ती।



2. क्रांति और शांति

- क्रांति की आवश्यकता
- क्रांति के विभिन्न रूप
- संघर्ष की अनिवार्यता
- हम और विश्व शांति
- क्रांतिकारी कौन
- शांति के लिए क्रांति
- आध्यात्मिक शांति का स्रोत

क्रांति, सतत क्रांति, अहिंसक क्रांति

आपकी दृष्टि में क्रांति क्या है ? क्या सतत क्रांति संभव है ?

—सतत शब्द में बोध लगातारपन का है। जैसे चर्खे का सूत कहीं बीच से अनजुड़ा नहीं होता, कुछ वैसी ही युक्तता का बोध सतत के भाव में व्याप्त है। क्रान्ति के बारे में लगता है कि उससे फिर दूसरी क्रांति के बीच में कुछ शांति का व्यवधान होना चाहिए। इसलिए साधारणतया सतत क्रान्ति का कुछ अर्थ नहीं बनता। फिर भी मेरे मन में उस शब्द की गहरी सार्थकता है। क्रान्ति जो विप्लवी होती है, रक्त क्रांति होती है, जिसमें हाय-हत्या है, वह तो सतत हो ही नहीं सकती। यद्यपि वही है जो प्रतिक्रान्ति का बीज बो जाती है ! शस्त्रास्त्र के बल हथियाई गई हुकूमत फिर उन्हीं हथियारों से टूटती भी है। तलवार से जीने और जीतने वाला उसी से मरता है। राज्य सत्ता के क्षेत्र में जो क्रांतियां की जाती हैं, वे ऐसे ही द्वेष और हिंसा के आधार पर होती हैं। उनके फिर सातत्य का प्रश्न नहीं रहता, प्रश्न प्रतिक्रांति का हो आता है। प्रत्येक क्रांति शासनाधिकार को व्यापक बनाने के भाव से हुई, किन्तु परिसमाप्ति पर उस शासन को सदा और केन्द्रस्थ कर गई। क्रान्ति के अन्त और शीर्ष पर डिक्टेटर जम जाया करते हैं। ऐसा क्यों होता है, इसके कारण विशेष दुर्बोध्य नहीं हैं। हिंसा के तर्क में ही वे अंतर्भूत हैं। हिंसा द्वारा की गयी क्रान्ति के बाद जो शांति आयेगी, वह फिर हिंसा की छत्रछाया में ही निभ पायेगी। किन्तु मानव प्रकृति सदा हिंसा के दबदबे में रह नहीं सकती। इसलिए क्रांति के फल में हुए डिक्टेटरशिप को उखाड़ने के लिए फिर क्रांति को होना पड़ता है। इस प्रक्रिया को आप सतत कहना चाहें तो बात दूसरी है। अन्यथा यह क्रांति के विकास का क्रम नहीं हो सकता। सहज विकास का वह क्रम जिसमें से आज का सभ्य मानव संभव हुआ है वैसा

क्रांति-कोलाहलशीलता का नहीं है, वह क्रम तो प्राण प्रक्रिया में अन्तर्गर्भित है और निरंतर मौन एवं अव्याहत भाव से अपने को निष्पन्न करता रहता है। शब्द के सच्चे अर्थ में सातत्य का दर्शन तो इस क्रम में ही माना जा सकता है।

अर्थात् क्रांति यदि और कोई सतत है कि जिसका क्रम भंग होता ही नहीं, जिसमें बलिदान मृत्यु द्वारा पूरा नहीं किया जाता, परन्तु क्षण-क्षण वह बलिदान जिया जाता है, तो वह प्रेम की अहिंसात्मक क्रांति ही है। वहां बलि का मार्ग जीवन-मार्ग बनता है और वही धर्म होता है। वहां मरण दिया नहीं जाता है, उसका स्वयं ग्रहण और वरण किया जाता है। इससे अन्यथा जो क्रांतियां सोची जाती हैं, वे खण्डित भर हो सकती हैं।

क्रांति की आवश्यकता

यह सतत क्रांति क्यों आवश्यक है? और इस क्रांति में कौन हिस्सा लेता है?

—क्रांति को अगर आप बाहर देखें तो सातत्य आपको नहीं दीखेगा। कारण, उस परिवर्तन को आप क्रांति नहीं समझेंगे जिसमें उथल-पुथल नहीं होती है। सामान्य भाषा में ऐसे संयोगों को, यहां घोरता हो, दुर्घटना कहा करते हैं। बाढ़ आई, भूकंप हो गया, सूखा पड़ गया, तो इन्हें क्रांति न कह कर संकट कहा जाता है। किंतु बाहर जो क्रमिक परिवर्तन होता ही रहता है वह सब भीतर होती हुई क्रांति का परिणाम हुआ करता है। जिस परिवर्तन में हम सीधे कार्य-कारण का योग न बिठा सकें, फिर भी जो भीतर से दुर्निवार्य हो आए, उसको क्रांति से कम हम कहें भी क्या? वह सब क्रांति शांतिमयता में ही घटित होती रहती है। सामने यह गेहूं का पौधा लहलहाता दीखता है। बीज वहां हमने एक ही डाला था, बाकी तो ऊपर से वहां सब मैला ही मैला डाला है। पर वही कैसे एक बीज के सैकड़ों गेहूं के दाने बनने के काम आ गया? खाद ही अन्न कैसे बन गया? इस कीमिया को बताइए क्रांति से कम क्या कहा जाए? अपने भीतर ही देखें, जो कुछ प्रतिक्षण हमारे अंदर हो रहा है क्या कम आश्चर्यजनक है? खाते हम अन्न हैं, वही शक्ति में परिणत कैसे हो गया? नित्य होते हुए भी ये परिणमन क्रांतिकारी हमें नहीं दीखते तो इसीलिए न कि वे सहज घटित होते रहते हैं। हमारा शरीर भीतर की क्षमता से बाहर की बाध्यता के साथ सदा लड़ता रहता है। बाहर के दोष और भीतर के स्वास्थ्य में युद्ध कब बंद हो पाता है। सत्-असत्, धर्म-अधर्म का संग्राम क्या अंतरंग में बराबर चलता ही नहीं रहता? इस सारी प्रक्रिया में क्या कहीं तोड़ पड़ती है? सातत्य में क्या तनिक भंग आता है? किंतु उस सारी युद्धात्मक प्रक्रिया को क्रांति के नाम से याद करने की आवश्यकता क्या हमें प्रतीत होती है? इसलिए कहता हूं कि सच्ची क्रांति और सतत क्रांति घमसान और हल-चल उतना नहीं मांगती। वह भीतर स्वीकृत हुए मूल्य-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन से संबंध रखती है। मैं आज धन की लालसा रखता और उसी प्रेरणा से काम करता हूं। कल समझ में जग उठता है कि धन से तो चिंता बढ़ रही और आजादी

घुट रही है। परस्पर का विश्वास खोया जा रहा है और भय-संशय की कुतरन मन के अंदर बढ़ रही है। ऐसा देखकर मैं पैसे से अधिक प्यार का भरोसा कर आता हूँ और हर मनुष्य का विश्वास करने और उसके काम आने की चेष्टा करता हूँ। ऐसा अगर होता है तो मुझमें क्या एक क्रांति ही नहीं हो आती है? और सच मानिए कि बाहर होने वाली क्रांति, सामाजिक और राजनीतिक, अपने में खरी और स्थायी उतनी ही मात्रा में होती है जितनी उसकी नींव में इस मूल-क्रांति का तत्व रहता है। अन्यथा केवल उथल-पुथल में कुछ विशेष सार नहीं है। गोरे की जगह गेहुएं रंग का आदमी ऊपर आ गया तो इसमें कौन बड़ी क्रांति हो गई? कल अंग्रेज साम्राज्य था, आज रूसी कम्युनिज्म के नाम पर दूसरा कुछ छा जाए और फिर अगले कल माओइज्म की रंगत फैल जाए, तो इस कोरे अदल-बदल में से अपने आप में क्या मानव हित संपादन हो जाएगा? इससे कुछ लाभ होगा तो तभी न, जब उस परिवर्तन के द्वारा साथ-साथ मूल्य-परिवर्तन, मन-परिवर्तन भी होता दीखेगा। जर्मनी के दो भागों में एक फेडरल रिपब्लिक है, दूसरा डेमोक्रेटिक रिपब्लिक। फेडरल और डेमोक्रेटिक विशेषणों के उच्चारण मात्र से जर्मनों के दो अलग-अलग चित्र उपस्थित हो आते हैं! तात्कालिक शक्ति की राजनीति के खण्डों-प्रखण्डों को चीन्हने-पहचानने के ये शब्द भले काम आते हों, पर इनके कारण क्या कोई गुणात्मक भेद भी लोगों में नजर आ सकता है? निश्चय रखिए कि आकार-प्रकार के फरक से आदमी के सुख-चैन या कि सृजन-शांति के भाव या भोग में कोई अंतर नहीं आ जाता है। राज्य-विचार में किसी 'क्रेसी' पर अपने आप में बल देने के बजाए गांधी ने इसलिए अपनी राम-राज्य की रट को ही कायम रखा। राम-राज्य का रूपाकार तो किसी के आगे स्पष्ट हो नहीं सकता। राजा दशरथ के जाए होने से राम राजा बन गए थे। रनवास के षड्यंत्र के कारण राज से पहले ही उनको वनवास भोगना पड़ा। पर रामराज्य में व्यक्ति राम मानो गायब ही हो जाते हैं, उनका राज्य जैसे वह कसौटी बन आता है कि जिस पर हर राज को कस कर देखा जा सकता है। देखा जायगा कि कोई वहां दीन-दुखारी तो नहीं है? वहां शोषण-दोहन तो नहीं है? सब सुख-सहयोग और स्नेह से रहते हैं न? यह फल यदि नहीं प्राप्त होता है तो फेडरल डेमोक्रेटिक आदि शब्दों के बिल्ले से आदमी का मन कैसे भर जाएगा? नहीं भरेगा तो वह इधर-उधर की तोड़-फोड़ में क्यों न लग चलेगा? पर क्या इस प्रतिक्रिया में से उपजी तोड़-फोड़ और हत्या-हड़प को क्रांति कहना होगा? स्पष्ट है कि इस चीज में ध्वंस-संहार खूब है, पर वह सतत क्रांति नहीं है जिस पर जीवन टिकता और बढ़ता है।

क्रांतिकारी कौन मजदूर या किसान ?

क्रांतिकारी कौन होता है—मजदूर या किसान ? और इन मजदूर या किसानों की क्रांति क्या हिंसात्मक ही न होगी ? तो क्या हिंसात्मक क्रांति झूठी है ?

—क्रांतिकारी वह होगा जो होने की हिम्मत रखेगा। मजदूर होने से ही कोई क्रांतिकारी हो जाता हो तो क्रांति फिर सस्ती और बिल्ले की ही हो गयी। न क्रांति किसान के हक के अंदर बंद है। ये विशेषण क्रांति की रूसी और माओ धारणाओं के प्रतीक हो गए हैं और उसी संदर्भ तक उनकी सार्थकता मानी जा सकती है, उससे इधर-उधर नहीं। मजदूर के पास कुछ नहीं होता, सिर्फ हाथ की मेहनत होती है। इस तरह के मजदूरों का वर्ग, जिसे सर्वहारा कहा गया है, 'क्रांति' के लिए अच्छा और उद्यत साधन सिद्ध हो सकेगा, ऐसा अनुभव किया गया। किसान के पास अपनी धरती होती है, उस ममता में लिपटा होने से हलचल की संभावनाएं उसमें कम रह जाती हैं। मजदूर के पास खोने को हैं तो उसकी अपनी बेड़ियां हैं, किसान के पास खेत और हल-बैल भी खोने को है, जिनको कभी वह खोना नहीं चाहेगा। रूसी-क्रांति के नेता ने मजदूर में क्रांति की संभावना देखी और किसान में प्रतिक्रांति का अन्देश देख लिया। चीन में माओ ने किसी सिद्धांत-सूत्र की कसम न ली और किसान को साथ लिया। उसने माना कि इसके पास भूमि खोने को है, इसीलिए उस भूमि की रक्षा में यह जी जान से जुट और जूझ सकेगा। मजदूर असामाजिक और अनुत्तरदायी इसलिए भी हो सकता है कि समाज में उसकी जड़ें नहीं होती हैं। इत्यादि मानकर किसान के बल उसने चीनी क्रांति को सफल बनाया और इस भेद के आधार पर आपने अपना प्रश्न बना डाला है।

इन दोनों क्रांतियों को राज्य-क्रांति ही कहना पड़ता है। यदि वे इससे अधिक कुछ सिद्ध हो सकीं तो इतिहास बताएगा। रूस वाली क्रांति तो अभी ही बीत सी गयी है। अब तो रूस देश के नेतागण शक्ति की भाषा में ही सोचते और चलते हैं। देश की अंतरंग व्यवस्था उसी विचार से नियत-नियुक्त होती है। वैदेशिक संबंध उसी के अधीन बनते और चलते हैं। सामाजिक (सोशलिस्टिक) आदर्श प्रचार के आयुध से अधिक या अन्य उपयोग में आता नहीं देखा जाता। चीन अभी विश्व की राजनीति के पट पर उतना उधड़ा और प्रगट नहीं है। दुनिया इतना जानती है कि वहां हाल में सांस्कृतिक उत्क्रांति होकर चुकी है। राजनीति की भाषा में कहते हैं कि वह शक्ति-सत्ता का परीक्षण और संघर्ष था। जो हो, अभी उस क्रांति को विश्व स्थिति के समक्ष और कसौटी की परख पर आना है। भारत में नया-नया फूटा नक्सलपंथ वहीं से प्राप्त प्रेरणा में से उपजा बताया जाता है। वह पंथ निपट नंगी क्रांति का है, अब तक की कथा से तो यही लगता है। आज अखबार में सूचना है कि स्वीकार किया गया है कि नेतृत्व से चूक हुई है और अब—अर्थात् उसमें कुछ संशोधन आ रहा है और हत्या के कार्यक्रम में आगे निरर्थकता को कम किया जाएगा और कुल आन्दोलन को रचनात्मक मोड़ दिया जाएगा। भारत में फूटे फल की अपेक्षा से चीनी क्रांति के संबंध में कुछ कहा जाए तो मानव-हित या मानवमूल्य की भाषा में उसे कोई बड़ा कारनामा कहना कठिन होगा।

अखण्ड और समग्र क्रांति

रूसी क्रांति मजदूर और चीनी क्रांति किसान को लेकर खड़ी हुई हो सकती है, पर असल क्रांति क्या वही न होगी जो आदमी, और हर आदमी, को लेकर खड़ी हो, सिर्फ मजदूर या किसान में ही रुकना स्वीकार न करे? जिस क्रांति के लिए वर्गीकृत और इस तरह खण्डित होना अनिवार्य हो, उसको मानव क्रांति मानने में समर्थ न हो पाऊं तो मैं क्या क्षम्य नहीं हो सकता? मैं मानना चाहता हूँ कि एक अखण्ड और समग्र क्रांति भी है, जिसकी मांग से कोई बाहर नहीं होगा और जिसकी पुकार-ललकार सबके और हर एक के प्रति होगी। समाज नहीं है वह, न कभी हो सकता है, जिसमें सिर्फ मजदूर या किसान ही हों। न उस समाज को कोई आदर्श कह सकेगा जिसमें हकूमत सिर्फ इस या उस वर्ग के हाथ हो, शेष सिर्फ अधीन होने के लिए रह जाएं। 'डिक्टेटोरशिप आफ दा प्रोलेतारियत' शब्द यदि सार्थक है तो तभी तक जब तक वह शासनहीन समाज की ओर उन्मुख रहता है। शासन-मुक्त समाज का आशय है कि सब अपनी-अपनी जगह श्रमशील एवं अनुशासित होंगे। प्रोलेतारियत ही वह सारा समाज होगा और फिर डिक्टेटोरशिप जैसी चीज की जरूरत न रह जाएगी। अर्थात् श्रम का कोई वर्ग न रहेगा, वह हर आदमी का लक्षण बन जाएगा। यही किसानों के संबंध में हो सकता और होना चाहिए। तब कृषक का वर्ग न होगा बल्कि हर आदमी और परिवार के जीवन में थोड़ा बहुत कृषक-धर्म समा जाएगा। क्यों न हर आदमी अपना मजदूर और थोड़ा बहुत अपना किसान भी हो? श्रम से कोई क्यों विहीन रह जाए? क्यों कोई ऐसा अभाग बने कि वनस्पति के हरित जगत के प्रति के प्रति अंधा और मूढ़ ही रह जाए? लेकिन उस हालत में क्रांति रूसी और चीनी नमूने की न होगी जो राज्य-क्रांति भर रह जाए, जिसमें वर्ग विशेष के आधार पर हिंसा को उभारा जाए और उस नाम पर दलबद्ध शासन की जड़ें डाली जाएं। यह तो मजदूर के श्रम और किसान के सृजन के मूल्यों को समा कर वह समूल, समग्र मानव क्रांति होगी, जिसमें आयुध हिंसा का और मार्ग ध्वंस का न होगा, बल्कि हथियार अहिंसात्मक वर्ग-सहयोगिता का और मार्ग निरंतर रचनात्मकता का ही होगा। उसके लिए मजदूर को और किसान को यह कहकर उभारने की आवश्यकता न रहेगी कि वह दीन, दलित और शोषित है, बल्कि उजागर इस सत्य को किया जाएगा कि समाज का वही बुनियादी और सच्चा सदस्य है। हर किसी को आवाहन और आमंत्रण होगा कि वह इस भ्रमयोगी मनुष्य से मनुष्यता का लक्षण पहचाने और अपनाए। उच्चवर्गीय जिनको माना जाता है उनके सिर नहीं काटे जाएंगे, बल्कि उनको समझने और शर्म खाने का अवसर मिलेगा कि वे उन्हीं के सिर चढ़े रहे हैं जिनके श्रम और उपकार पर वे पले हैं। समाज के हित में ऐसे सब लोगों को बदलने का मौका देना होगा, उनकी संभावनाओं को खिलाने और फलने देना होगा। उन संभावनाओं को सदा के लिए समाप्त करके समाज की हानि और अहित करने की मूढ़ता में नहीं पड़ना होगा।

सच्चा नेता ?

यह झूठ है कि उच्चवर्गीय संचमुच उच्च है। यह भाषा का धोखा है और राजनीति का ढकोसला। सच्चा नेता, सच्ची और समूची क्रांति का, वह होगा जो अपने चरित से और उदारहण से दिखा देगा कि, असली और मौलिक मनुष्य वह नहीं है जिसके नीचे कुर्सी है, पास में पद है और हाथ में कलम; वह तो वह है जो खेत में बीज रोप रहा है या पसीना डालता हुआ लोहे पर हथौड़ा चला रहा है। इतना काफी नहीं है कि झण्डे पर श्रम के प्रतीकों को हम जड़ दें और उसके नीचे अपने आराम के आसन जमा लें। जिन्हें श्रम में सच्चाई दीखेगी वह भला ऐसा कर ही कैसे सकेगा। किंतु जो श्रम से शासन को महत्व देता और सिर्फ शासक के अदल-बदल में ही क्रांति को मान लेता है वह, भला सोचिए, क्रांति के क-ख को भी जानता कहा जा सकता है ?

इसलिए मैं मानता हूँ कि प्रश्न हर एक से मांग करता है कि वह क्रांति की चुनौती को किसी मजदूर या किसान पर न सरका दे, बल्कि उसका पूरा सामना लेकर सोचे कि वह यांत्रिक या उत्पादक श्रम को किस प्रकार अपने जीवन में रचा-रमा सकता है। तब क्रांति उससे भाग कर कहीं दूर नहीं जाएगी, मालूम होगा कि वह उसके अपने स्वत्व में ही उतरी आ रही है।

झूठी क्रांति

अभी आपने सच्ची क्रांति और सच्चा क्रांतिकारी शब्द का इस्तेमाल किया है। इसका क्या अर्थ है। क्या कोई झूठी क्रांति और झूठा क्रांतिकारी भी है ?

—क्रांति को जो मूल्य में नहीं, बाहर रूप में ही मान कर रह जाता है, उसे खरा क्रांतिकारी कहना मेरे लिए मुश्किल है। नकली न सही तो उसे सतही कह लीजिए।

सैनिक क्रांति

आजकल मजदूर या किसान से अधिक क्रांतिकारी तो सैनिक है। जगह-जगह सैनिक क्रांति हो रही है और उसकी सफलता पर सैनिक शासन स्थापित होता जा रहा है। तो क्या सैनिक को सबसे बड़ा क्रांतिकारी नहीं कहा जा सकता ? शायद इसलिए माओ ने अपने देश में सैनिक प्रशिक्षण सबके लिए अनिवार्य बना दिया है।

—सैनिक के सामने सेनापति का सिर्फ आदेश होता है, या क्रांति के ध्येय रूप समाज का कोई चित्र भी होता है ? इस पर निर्णय निर्भर होगा कि उसे क्रांति कहा जाय, या क्या। अधिकांश संभव यह है कि औसत सैनिक किसी ध्येय आदि की इल्लत से बरी हो और उसे उतने आगे की सोचने की सुध ही न हो।

सांस्कृतिक क्रांति

क्रांति के परिणाम को पुष्ट और दुरुस्त रखने के लिए चीन में सांस्कृतिक क्रांति

हुई है। क्या इस सांस्कृतिक क्रांति से सचमुच जनता को संस्कृत बनाया जा सकता है? और क्या सांस्कृतिक क्रांति ही देश के लिए अनिवार्य नहीं है?

—चीन में जो हुआ है उसका ठीक-ठीक पता मुझे नहीं है। उसमें अवश्य कुछ तत्त्वनीति भी गर्भित रही होगी। पर प्रतीत होता है कि मुख्यता से शक्ति-परीक्षण की राजनीति ही वहां थी। क्रांति जो असली हो उसका परिणाम राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक भी होना चाहिए। राजन्य पुरुषों की अदल-बदल तक ही रह जाने वाली मात्र राजकीय क्रांति को सच्चा कैसे कह दिया जाए? क्रांति से सामाजिक सम्बंधों में परिवर्तन आना चाहिए, सामाजिक न्याय की पहले से अधिक प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष में देखनी चाहिए। यह फल यदि नहीं है तो राजनीतिक उथल-पुथल से अधिक उसे क्या कहा जाएगा?

क्रांतिकारी संस्कृति

सांस्कृतिक क्रांति में यह गर्भित है कि क्रांतिकारी संस्कृति भी एक चीज है। माओ ने एक स्थल पर लिखा है कि क्रांतिकारी संस्कृति ही वह आयुध है जो क्रांति के लिए भूमिका तैयार करती है।

—“क्रांतिकारी संस्कृति” शब्द में मुझे विशेष आशय नहीं मिल पाता। माओ का इससे क्या अभीष्ट है सो जानने के लिए माओ के ग्रन्थों को पढ़ना होगा। संस्कृति की व्याप्ति बहुत अधिक है और वह इतिहास के अनेकानेक युगों को एक धारा में जोड़े रख सकती है। क्रांति इतिहास में घटित होकर जल्दी ही चुक जाने वाली एक घटना हुआ करती है। इसलिए वह जो इस प्रकार के घटना संयोग तक ही सीमित और जड़ित रह जा सकती है, कैसी संस्कृति है, मुझे समझ नहीं आता है। क्रांति के शब्दाशय को अगर हम उतना व्यापक बना दें, अर्थात् वह कुछ दिनों ही नहीं बल्कि तमाम जीवन में व्याप्त और गर्भित पुरुषार्थ का नाम हो, तो बात दूसरी है। लेकिन तब उसका रूप अहिंसक हो जाएगा और ध्वंस-संहार के कार्यक्रम का उससे कोई संबंध न रहेगा। वह उत्कर्षोन्मुखी नैसर्गिक प्रक्रिया होगी जिसमें मानव-प्रकृति अपने निकृष्ट को उत्कृष्ट से परास्त और पराभूत न करेगी वरन् उसे आकलित और आत्मसात् करके प्रशस्त होती जाएगी। मानव-अन्तरात्म में सतत चलने वाला यह संधि-विग्रह का क्रम हिंसा के उपाय से आगे तो बढ़ता ही नहीं है, बल्कि हिंसा का ढंग मानव संभावनाओं को कुण्ठित करता और मानव-चैतन्य को क्षत और क्षुब्ध कर डालता है।

शब्दों की खींच-तान

क्रांति और संस्कृति, इन शब्दों को सामान्य भाषा से तोड़कर उपयोग में लाने से विभ्रम पैदा होगा। क्रांति का ध्वनि-संदर्भ राजनीतिक है। संस्कृति राजकीय नहीं होती उसका संबंध व्यापक लोक-जीवन से होता है। संस्कृति को संकर और संकीर्ण करके

राजकीय क्रांति को पीन-स्फीत बनाते जाने में मैं बड़ा खतरा देखता हूँ। उसमें भाषा टूटती और उस आधार के विचलित होने से जीवन स्वयं विघटित और विच्छिन्न होने लगता है। आज शब्द और भाषा के साथ जो यह मनमानापन चल पड़ा है, उससे बड़ी विशृंखलता आ गयी है। परस्पर संवाद क्लिष्ट और संशयास्पद हो गया है। वचन का मूल्य खोया जा रहा है और लोग वचन के बजाय उसके पीछे के गुह्य भाव के अध्ययन का विज्ञान खड़ा कर रहे हैं। इसको बहुत ऊंची विद्या माना जा रहा और उस पर अपार खर्च किया जा रहा है। कूटनीति का यह प्रमुख अंग हो गया है। इस प्रकार भाषा और वचन के टूटने से सारा मानव व्यापार खतरे में पड़ा जा रहा है। मूल्य खो गये हैं और उस मानक का पता नहीं है जिसके सहारे हम व्यवस्था रख सकते या सुरक्षा पा सकते हैं।

इसलिए भाषा के सामान्य और स्पष्ट अर्थ के साथ बहुत अधिक खींचतान करना ठीक न होगा। अभिप्राय यह कि संस्कृति को क्रांति से पृथक ही रहने दिया जाए यही सामान्य जन के लिए अधिक संगत है।

शान्ति के लिए क्रांति ?

क्या क्रांति में शान्ति गर्भित होती है ? और क्या शान्ति में क्रांति के बीज विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा है तो क्या स्थायी शान्ति संभव हो सकती है ?

—शान्ति और क्रांति से एकाएक दो परस्पर विरोधी चित्र मन में बनते हैं। शान्ति बाहरी उथल-पुथल से संगत भला कैसे दीखगी ? और बिना उथल-पुथल क्रांति क्या ? इसलिए यदि उनमें समन्वय होना हो तो क्रांति को बाहर व्यवस्था और परिस्थिति पर स्थगित रहना होगा, और शान्ति को मन के भीतर अविचल रखना होगा। मैं समझता हूँ कि ठन्डे और शांत चित्त से जो काम किया जाएगा, वही अधिक परिणाम लाने वाला होगा। आवेश और उत्ताप की प्रेरणा में हुआ कार्यकलाप ऊपर खटपट तो पैदा करेगा पर मानव-व्यापारों और संबंधों में व्याप्त स्वार्थ के तन्तु-वाय में कोई अभीष्ट परिवर्तन नहीं ला सकेगा। वर्ग-स्वार्थ अथवा श्रेणी-विद्वेष दलगत हित या दलगत कलह के द्वारा जो उलट फेर सिद्ध किया जाता है वह अ की जगह ब को बिठा कर मानो चुक जाता है। राज्य-क्रांति अधिकांश एक गुट के लोगों को गिराकर दूसरे गिरोह के लोगों के शासन पदों पर जा चढ़ने जितनी ही रह जाती है। क्रांति के फल में हां इतना अवश्य होता है कि राज्यासनों पर आया दल पहले से अधिक गठित और निर्मम होने के लिए विवश होता है। हिंस्र भाव और उपाय द्वारा हुई क्रांति के नाम पर घटित उलट-फेर अन्त में यदि व्यवस्था का रूप लेगा, तो वह व्यवस्था पहले से अधिक संगठित और सशस्त्र होकर ही सुरक्षित बन सकेगी। यह क्रांति शान्ति के इष्ट से उल्टी होगी यद्यपि शान्ति-व्यवस्था 'ला एन्ड आर्डर' की सुरक्षा के लिए फौज और पुलिस के गठन को बेहद मजबूत बनाना आवश्यक मानेगी। इस क्रांति की छत्रछाया में पली शान्ति निरी चाकरी की होगी और

उसमें किसी प्रकार की सृजनात्मकता के लिए अवकाश न रहेगा। यह वह शान्ति है जो कर्महीन हो जाती है और आदमी आत्महीन होकर वहां अंकवत्, यंत्रवत् हो जाता है। कर्म से विमुख बनकर वह शान्ति ज्ञान-ध्यान में सिमट सकती और स्वाध्याय-रचचिन्तन के चक्र में फंसकर स्थापित स्वार्थ के भीतर की सुरक्षा में तुष्ट हो सकती है। क्रांति और शान्ति एवं हिंसा और अहिंसा की ऐसी संधि तो अब भी देखी जा सकती है। ऊपर से सैन्य सुरक्षा आदि की छाया में धर्मोपदेशकों की शान्ति और अहिंसा उनके नित्य के प्रवचनों में आज भी मुखरित होती और प्रजा-जन को चुप और बन्द रखने के काम आती है।

ऊपर के शासनतंत्र की कृपा के नीचे धर्मीजन आराम से शान्ति-सेवन किया करते हैं। शान्ति और क्रांति के बीच इस सस्ते समझौते के दृश्य तो हर कहीं मिल जाते हैं। इसमें इन दोनों का विरोध भी सध जाता और मेल भी दीख आता है। पर मालिक-चाकर वाला संबंध कभी स्थाई शान्ति का नहीं होता, उसमें द्रोह और विस्फोट के बीज रहते हैं और समन्वय उसे नहीं कह सकते।

अखण्ड और शान्त क्रांति

फिर भी समन्वय है। सच्ची क्रांति के लिए सच्ची शान्ति की संगति ही नहीं, आवश्यकता भी है। अन्यथा जो घटित कर ली जाती है वह क्रांति सच्ची नहीं होती। यों तो भाव-विभोरता में भी एक शान्ति का अनुभव पा लिया जाता है। भक्त जन उसी की घूंट पिया करते हैं। किन्तु विस्मय है कि भक्ति जिनकी होती है उन अवतारी पुरुषों का चरित अद्भुत पराक्रमी और पुरुषार्थी रहा होता है। राम और कृष्ण की भक्ति ने कितनों को शान्ति नहीं पहुंचाई? पर वे आप्तजन समस्याएं समक्ष पाते गए और उनसे जूझने में ही अन्त तक प्रवृत्त रहे। भीतर अपने सिमटे नहीं, पराडमुख नहीं हुए। लेकिन उन सब समस्याओं और संग्रामों में जूझते हुए क्या वे व्यग्र हुए, विमनस्क हुए, विमुख या विक्षुब्ध हुए? नहीं, उनके भीतर की शान्ति अडिग-अटूट रही। कारण, शत्रु भी उन्हें शत्रु न थे और अपने को कभी निमित्त से अन्य या अधिक उन्होंने माना नहीं। और ईसाइयों के प्रभु ईशु को लीजिए। वेध-स्थल तक अपने कंधों अपने ही सलीब को वह खुद ले गये और सूली के साथ मिली अन्य सब यन्त्रणाओं को प्रार्थना पूर्वक कृतार्थ चित्त से स्वीकार करते गए। वह सब होता रहा, लेकिन धर्मगुरुओं और राज्य-प्रभुओं की दण्ड की धमकी के समक्ष वह अपनी आत्मध्वनि से, अपने परमपिता के संदेश-आदेश से, मुकर नहीं सके। इस क्रांति को किसने समझा? क्या वहां क्रांति का उद्घोष था, जयोल्लास था? क्या संगठन था, सेना थी? शस्त्र या शोर था? नहीं, वह कुछ भी नहीं था, केवल एक अगाध आस्था, परम गहन शान्ति कि विषाद की जिसमें सब तरंगें डूबी रहती हैं और चित्त को नितान्त निःस्तब्धता प्राप्त हो जाती है। और अपने गांधी! उनकी छाती में जिसने एक-

78 / गांधी और हमारा समय

एक कर तीन गोलियां दागीं, सो क्या इसीलिए नहीं कि गांधी के द्वारा हो रही भाव-क्रांति और प्रेम-क्रांति उस बेचारे हत्यारे को असह्य हो आई थी? प्रहार खाते-खाते, गिरते-गिरते भी अगर उस गांधी के मुंह से निकला तो था वह 'हे राम'। और कुछ नहीं, 'हे राम'। सोचिए, इससे बड़ी शांति और क्या हो सकती है।

हम अपने गहरे से गहरे में उतरते जाएं तो उस तल पर जा पहुंचते हैं, जहां हमसे हमारा पन छूट जाता है, सारी स्वार्थलिप्सा अलग उतर रहती है और इधर-उधर भागने वाली कामनायें सब व्यर्थ हो जाती हैं। स्वार्थों और इच्छाओं के व्यूहों-आर्वतों के ऊपर ही तो यह दुनिया बनी है। इसलिए उस परम शांति को उपलब्ध हुआ पुरुष अपने अस्तित्व मात्र से दुनियावी बल से बलिष्ठ, ऐश्वर्य-प्राप्त और भोग-प्राप्त वर्ग के लिए मानो एक विपदा और चुनौती बन आता है! अतः इस शांति के दूत को दुनिया के हाथों शहीद बनना होता है। कालान्तर में इसी शहादत में से क्रांति फलित होती है। सत् क्रांति का नया इतिहास वहां से आरम्भ होता है।

ऐतिहासिक विवरण-विवेचन में से स्पष्ट हो आना चाहिए कि जिस क्रान्ति का शान्ति के साथ योग संभव है, जो इस शांति के आशय से सही तौर पर संगत हो सकती है, वह क्रांति हिंसक न हो पायेगी। बलिदान उसमें भी होगा, पर दूसरे का नहीं अपना ही, और उस बलिदान में अपेक्षा भी न होगी, कारण उसमें हेतु फल कामना का न होगी, वह सृष्टि में गर्भित यथार्थ का होगा। उस स्व की उसमें आहुति होगी जो आत्म लाभ में बाधा बनता है। अतः उसमें परम शांतता का अधिष्ठान रहेगा।

स्पष्ट है कि यहां किसी खण्ड क्रान्ति की बात नहीं कही जा रही है, जो फुलझड़ी सी दो रोज के लिये जलती और फिर अंधेरा कर आती है। न उस क्रान्ति को ध्यान में लिया जा रहा है, जो अधीनता काटने के लिए होती है पर अन्त में उससे कहीं कड़ी पराधीनता विवश पैदा हो आती है।

शांति : धर्म के साथ अर्थ और काम से भी युक्त

ऐसी क्रांति सध सके तो मानव जीवन धारण करना सार्थक ही समझिये, पर कठिनाई तो यह है कि वह शांति दुर्लभ है। मानव-मन में इतनी समस्यायें, इतनी उलझनें भरी पड़ी होती हैं कि शांति के लिए जगह ही नहीं है। अगर कोई समस्या कुछ हल होती है तो थोड़ा स्पेस खाली होता है, और आदमी थोड़ी देर के लिये शांति का आनन्द पा जाता है। मन में अशांति बने रहने के कारण वह दत्तचित्त होकर काम ही नहीं कर पाता, अशांति में उसकी शक्ति खो सी जाती है। वह शांति चाहता है, लेकिन शांति के लिए स्पेस नहीं है। फिर बताइये वह शांति कैसे प्राप्त हो? और क्या हर कोई प्राप्त करना चाहे तो प्राप्त कर सकता है?

—आदमी को जीने के लिए चीजों की जरूरत है, जो बाजार में पैसों के मोल बिका

करती हैं। अगर जीने की प्राथमिक आवश्यकताएं भी न प्राप्त हों तो आदमी के चित्त में शान्ति होने का सवाल कहां रह जाता है। यों शान्ति का प्रश्न नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र का मान लिया जाता है और उस प्रयोजन से संयम, इच्छा-निरोध, स्वल्प-सन्तोष, अपरिग्रह, अहिंसा आदि का अभ्यास सुझाया जाता है। धर्म उन व्रतों की बात करता ही है, लेकिन इस किनारे वह प्रश्न अर्थ से भी जुड़ा है। धर्म के द्वार से मोक्ष की सही राह पर आकर मुक्ति तक पहुंचना हो, तो बीच में अर्थ और काम की समस्याओं से निबटे बिना काम नहीं चलेगा। इस तरह शान्ति के प्रश्न को अर्थ-कर्म व्यवस्था का संदर्भ प्राप्त हो जाता है। वहीं से फिर उस राज्य और राजनीति के विचार की संगति बन आती है जिसके आदेश पर नोट छपता और जिसकी सील-मोहर पर कोरा कागज नकद नोट बन आता है।

120517

शांति सिर्फ आंतरिक-नैतिक अभ्यास से नहीं पा ली जायेगी। आदमी नहीं रहता अकेले में, रहता कुटुम्ब परिवार में है। आस-पास उसके पड़ोसी भी होते हैं, अन्यान्य के साथ भी संबंध आता है। ऐसे सब संबंध पैसे के आधार पर निभते चलते हैं। पैसे में क्रय-शक्ति (परचेजिंग पावर) है और उसके समवितरण की समस्या बनी रहती है, निबट नहीं पाती। आगे भी वह पूरी तरह कट नहीं सकेगी। जिनके हुकम पर नोट बनते हैं, उनके आस-पास ही वे सुगमता से बंट और निबट रहते हैं। दूर देहात के खेतिहर या बुनकर के पास पहुंचने में उन्हें बेहद मोड़ और फासले तय करने होते हैं। कितना भी उपाय कर लीजिये, यह व्यवधान किसी तरह पूरा पट नहीं सकता। इसलिए पैसे पर आश्रित होकर चलने वाले समाज के लिए शांति अत्यंत दुर्लभ बनी रहने वाली है। लोग हैं जो पैसे के अभाव में ही अशांति का कारण देखते हैं, इसलिए विपन्नता बचाने के लिए वे सम्पन्नता के पीछे पड़ते हैं। इसमें कुछ पैसे की अतिशयता अपने पास बटोरने में सफल भी हो जाते हैं, लेकिन क्या वे शान्ति पाते हैं? सच यह है कि अर्थ-समस्या से अवश्य ही शांति का प्रश्न जुड़ा है, फिर भी सीधे पैसे से नहीं जुड़ा है, पैसे के कारण आदमी-आदमी के बीच जो विषमता चल और फल रही है, उससे जुड़ा है। सामाजिक अन्याय और शोषण अधिकांश अर्थ-विनियोग की प्रणालियों के आधार पर टिकता है। जैसे-जैसे जागृति होती और शिक्षा बढ़ती है, वैसे-वैसे उन विधाओं-पद्धतियों में भी परिवर्तन किया और सुझाया जाता है, कानून नये-नये बनते हैं। पश्चिम में इस क्षेत्र के शास्त्रीय विश्लेषण का जोर है और वहाँ समाधान के नये से नये इज़्म चालू होते हैं। प्रयोग और परीक्षण वहां के व्युत्पन्न लोगों के स्वभाव में है और उन वादों की लीक पर यह समाजार्थिक परीक्षण आगे गया भी है। लेकिन लगता है कि उस राह शांति आई नहीं है और मुझे भय है कि आएगी भी नहीं। इसलिए नहीं कि उस चिन्तन में कोई तर्क-दोष है, बल्कि इसलिए कि उसके केन्द्र में ही अतथ्य है। विचार वहां पूंजी, उसके स्वत्व और समवितरण के गिर्द घूमता रहता है। अर्थात् वह विचार पदार्थ विषयक होकर रह जाता

80 / गांधी और हमारा समय

है। उस विचार में अन्ततः आदमी साधन और पदार्थ साध्य बनता है। किन्तु यदि समस्या को मानव-समस्या के रूप में देखें तो स्थिति बदली हुई दीखेगी। पदार्थ तब साधन से अधिक महत्व नहीं पाएगा और मनुष्य ध्रुव साध्य रहेगा। आंकिक चिन्तन धन और उत्पादन के आंकड़ों को ऊंचा चढ़ा पाने में अपने को सफल और चिरतार्थ समझ लेता है। तर्क होता है कि अधिक होगा ही नहीं, तो वितरण न्याय का होगा क्या खाक? वितरण दीनता का तो नहीं करना है न? इस प्रकार धड़ाधड़ उत्पादन की होड़ है और उसके लिए मशीनों, फिर बड़ी मशीनों, की भरमार करते जाने की चेष्टा है। कर्ज से मिले तो कर्ज से भी सही। आखिर उत्पादन बढ़ेगा तो निर्यात बढ़ सकेगा और उसमें से कर्ज अदा कर दिया जाएगा। इस चक्कर में उद्यम-उद्योग अपना विस्तार कर रहा है, साथ सुना जाता है कि बेरोजगारी उतनी बढ़ रही है। मामूली आदमी इसमें भूखा-नंगा रह लेता या मर मरा भी लेता हो, पर पढ़-लिखकर इस हालत को कोई चैन से क्यों सहता ही जाएगा? शान्ति की कसम वह क्यों अपने सिर-माथे लेगा और क्यों न शान्ति वालों की शान्ति को भंग करना अपना हक मानेगा? आराम उसके लिए अगर है नहीं, तो हर किसी के आराम को हराम कर डालने का नारा वह क्यों न उठायेगा?

संघर्ष की अनिवार्यता

तो ऐसे समाज में शान्ति का न उपाय है, न संभावना। अध्यात्म की गलियां बतायी जाती हैं जो शान्ति तक पहुंचा देती है। होंगी, पर शान्ति वह सामाजिक शान्ति नहीं हो पाती। वैसी कोई एकाकी शान्ति होती भी हो तो परस्परता में उसकी व्याप्ति नहीं होती। इसमें संदेह है कि परस्परता से अलग बनी कोई शान्ति सचमुच शान्ति कहने योग्य होगी भी कि नहीं।

इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि शान्ति की उपलब्धि की राह में संघर्ष आए बिना न रहेगा। संबंधों की परस्परता विकृत और विषाक्त बन गई है। उन संबंध-सूत्रों में जो रक्त संचार है, वह रुग्ण है, वहां विकार के कीटाणु हैं। समाज-शरीर में रोग व्यापा है और रक्तचाप वहां सम पर नहीं है। ऐसे में शान्ति का प्रश्न अगर एकदम थोथा और व्यर्थ दीखे तो क्या व्यग्रता की बात है?

वैषम्य है, वैमनस्य है, स्वार्थों का संघर्ष है। ऐसे में शान्ति का उपाय करना ही हो तो क्या हो सकता है? मैं तो मानता हूं कि उपाय एक ही हो सकता है। संयम और साधना का जो अभ्यास बताया जाता है, मैं कहूंगा कि वह स्वेच्छित श्रम और उत्पादन के संग-साथ हो। इस विधायक श्रम और उत्पादन को, परस्पर जीवन-निर्वाह की तात्कालिक और प्राथमिक आवश्यकताओं से योग-युक्त रखा जाए, तब उत्पादक श्रमिक का श्रम और फल बाजार के नाते लुट नहीं जायेगा, वह आस-पास के उपभोग एवं भरण-पोषण में काम आयेगा। इस उपाय से श्रम को चूस लेने की शक्ति कुंठित रह जायेगी और श्रम

अपनी जगह पर स्वाधीन बनेगा।

अर्थ-व्यवस्था और अर्थ-व्यवहार का यह मानवीयकरण होना शुरू होगा तब मुझे आशा है कि शांति का सवाल नोट की ओट और उपस्थिति से छूट कर अपेक्षाकृत आदमी के अपने हाथ में आने लगेगा। अभी तो पैसे के तर्क ने जीवन-यापन को ऐसा चकरीला बना दिया है कि किसान खाता अन्न है, बोता तम्बाकू है। तम्बाकू से पैसा बचाता और पैसे से अनाज जुटाता है। उसे नहीं मालूम होता, लेकिन ऐसे वह बाजार के हाथों दोहरा लुटता है। पैसे की भाषा में उसे समझा दिया जा सकता है कि तम्बाकू 'कैश-क्राप' है, फायदा उसी के बोनो में है। पर फायदा दोनों तरफ बाजार को संभालने वाले बनिये का होता है और कीमतों हेर-फेर के अन्त में किसान अनुभव करता है कि वह गहरे टोटे और घाटे में है और जाने कैसे आंकड़ों के हिसाब में वह ठगा रह गया था!

पर शायद आपके प्रश्न से मैं दूर भटक आया हूँ। सिर्फ आशय इतना है, और वह अनिवार्य और अकाट्य भी है, कि परस्परता से निरपेक्ष होकर शान्ति के सवाल का हल संभव नहीं है। और परस्परता जहां पैसे पर आश्रित हो, वहां शान्ति किसी ओर से भी फलने वाली नहीं है।

आध्यात्मिक शान्ति का स्रोत

अभी आपने जो कहा उससे लगता है कि बिना आर्थिक और सामाजिक विषमता दूर किए शान्ति असंभव है। किन्तु इसी विषमता में ही शांति की अधिक आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि जितनी विषमता घनी होती जा रही है, अशांति बढ़ रही है और मनुष्य घबड़ाता जा रहा है। क्या अध्यात्म शांति का कोई मार्ग नहीं सुझा सकता? वैदिक प्रार्थना के मंत्रों में एक शांति का ही मंत्र है जिसके अंत में 'शांतिः शांतिः शांतिः', तीन बार दुहराया गया है। इससे संकेत हो आता है कि अध्यात्म में अवश्य कहीं कुछ है जो त्रस्त मानव को शांति प्रदान कर सकता है।

—अध्यात्म स्रोत है जहां से मनुष्य को प्रेरणा प्राप्त होती है। किन्तु चित्त में जागृत हुई वह स्फूर्ति और प्रेरणा अगर लौटकर फिर उसी चित्त में समा जाती है, तो वह अपना वृत्त पूरा नहीं करती और अपनी ही चरितार्थता में विफल रहती है। एक चित्त में उदित हुई प्रेरणा का लक्ष्य निश्चय ही अन्य की ओर है। निज से पर की दिशा में जो चलता है उसको कर्म कहना चाहिए। भावना भी चलती है, किन्तु वह अभिव्यक्ति के लिए वाणी और कर्म की अवलम्बनी और संवाहिका होती है। निज से पर की ओर हर प्रेरणा और भावना में गति होना अनिवार्य है तो इसलिए कि निज और पर के दित्व का बोध आनुषंगिक मात्र है, मूल में एकत्व है। इसलिए दोनों के बीच संवादित और संचारिता के तार निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं। अध्यात्म के तल से प्रस्फुटित प्रेरणा स्व-पर में परस्पर हितैक्य और उत्सर्ग-भाव की सृष्टि करती है, तो ऊपर स्वार्थ की सतह से उछल पड़ी

82 / गांधी और हमारा समय

इच्छायें विग्रह और वैमनस्य उपजाती हैं। इस तरह अध्यात्म कोई गुह्य निजीय तत्त्व मात्र नहीं है, बल्कि हर नैतिकता और सामाजिकता का बुनियादी स्रोत भी है। यद अध्यात्म-साधना में से ऐसा प्रगट फल प्राप्त होता नहीं दीखता है तो संशय का अवकाश रहता है कि उस अभ्यास में अध्यात्म की सत्यता और समग्रता है भी कि नहीं? क्या कारण था कि अनेकानेक विरागी-तपस्वी, ऋषि-महात्माओं के रहते उनके आराध्य वे राम और कृष्ण बन आए जो अभी निरे दीक्षाहीन युवक थे! समस्त हिन्दू संस्कृति इन दो नामों को अपनी उपासना के परमशीर्ष पर रखकर कराल काल को जीतती हुई अब तक जीवित चली आयी है। कारण यही हो सकता है कि इन दोनों प्रबल पराक्रमी पुरुषों का कर्मक्षेत्र यद्यपि युद्ध क्षेत्र रहा, किन्तु वह तमाम प्रखर कर्म भीतर की धर्म-प्रेरणा से संयुक्त रहा। ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक घटक अपने अंतःकेन्द्र से युक्त हो और साथ ही वह बाहर परिधि की ओर भी युक्त न होता जाए। कारण, जो घट-घट के भीतर से भीतर के मर्म में अवस्थित है, वह तो वही अखंड है जो बाहर ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। पिण्ड ब्रह्माण्ड से भिन्न तो है नहीं, और सबको यह एक, अद्वितीय, अव्याहत ब्रह्म ही धारण कर रहा है।

मन की शांति

इसलिए यदि मन की शांति किसी के पास है तो उसकी सुवास आसपास फैलनी ही चाहिए। किन्तु यह अर्न्तमन की शान्त निःस्वता बाहर फिर प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करेगी। प्रतिक्रिया इसलिए कि बाहर की विषमता और अशांतिमयता से कुछ का स्वार्थ लाभ सधा रहता है। उसका आधार विचलित होगा और उन वर्गों और तत्वों के रोष और क्षोभ का वह कारण होगा। इस प्रकार शांति के मनुष्य के आस-पास विरोध और युद्ध की परिस्थिति बने बिना न रहेगी। परन्तु वह धमकी और चुनौती शांति के पुरुष को निस्तेज, निर्वाक और निश्चेष्ट नहीं कर पाएगी। मालूम होगा कि अशांति, उत्पात और हिंसा में मानने वालों के लिए शांति का पुरुष, अपने बावजूद संकट और खतरा बन आता है। सुख-भोग-प्राप्त जन अनायास उस उपस्थिति से चलित और क्षुब्ध होते और इसको अपना वैरी मान उठते हैं। स्वयं उस व्यक्ति के लिए शत्रुता का कुछ अर्थ होता नहीं, इसलिए सामने से आने वाली शत्रुता को वह स्वीकार ही नहीं कर पाता। उसकी इस दृढ़ता और अडिगता को दूसरा पक्ष अपना असह्य अपमान मान कर और भी क्रूरता पर उतारू होता है। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानव-इतिहास के अंतरंग में निरंतर काम करती देखी जा सकती है। सृष्टि का यही विरोधाभास है कि युद्धों में से मानव-संस्कृति की विकास-साधना सध सकी है।

इसलिए आर्थिक और जागतिक को आध्यात्मिक और नैतिक आयाम से सर्वथा विमुख और विलग नहीं मान लेना है। भावना और चेतना में यदि हेतु और लक्ष्य की अवस्थिति है, तो उसकी चरितार्थता के लिए बाहर फैला यह विस्तृत प्रवृत्तिमय वस्तु

जगत है। इन दोनों के बीच के सतत संवादी प्राण-प्रवाह को जो सघन और सतेज नहीं करता है, वह कैसा अध्यात्म है? भगवान कृष्ण ने हाथ में हथियार नहीं लिया, अर्जुन के रथ की रास थामी, पर तमाम महाभारत के विभु और प्रभु क्या वही नहीं थे? राम ने भी युद्ध में बलात ही आयुध का उपयोग किया तो किया, अन्यथा उनका अनुरोध सदा शम-शांति के पक्ष में ही रहा।

अतीत-युग के युद्ध अधिकाँश शस्त्रास्त्र से लड़े जाते थे। अब जीवन की जटिलता बढ़ गई है और जगत छोटा पड़ आया है। शस्त्र इतने भीषण और प्रचंड बन गये हैं कि उसी कारण वे मानो अनुपयोगी हो आने को विवश हैं। शस्त्र के शास्त्र में ही अब फेर-बदल हुई जा रही है। पहले उनके आधार पर साम्राज्य बनाने की आकाँक्षा हो सकती थी, पर अब वह अनावश्यक हुई है। साम्राज्य की अपेक्षा प्रभाव क्षेत्र का विस्तार मात्र ही अब अधिक लाभप्रद हो गया है। वैचारिक और आर्थिक सूत्रों के नियमन-विनियोजन से ही महाफल प्राप्त कर लिया जा सकता है। उपनिवेशों के लिए फौजें नहीं भेजनी पड़ती, आइडियोलोजी का निर्यात काफी हो जाता है। उसके बाद अनुकूल मानस के तैयार हुए वर्ग अनायास उस क्षेत्र के आर्थिक शोषण द्वारा दूरस्थ प्रभावी-प्रभु के स्वार्थ-पोषण के निमित्त बन आते हैं।

अर्थ-युद्ध

अतः अध्यात्म-मंथन के लिए युद्ध, पाण्डव-कौरव अथवा राम-रावण जैसा समक्ष उपस्थित हो यह संगत या आवश्यक नहीं है। शस्त्र-युद्ध नहीं, अब असल अर्थ-युद्ध है। इसलिए जो कुरुक्षेत्र आज के आध्यात्मिक पुरुष के लिए युद्ध-क्षेत्र है, जहाँ धर्म-मूल्य की स्थापना और प्रस्थापना की उसे चुनौती है, वह यथार्थ में अर्थ-क्षेत्र ही है। शस्त्रास्त्र आज बड़े पैमाने पर काम आने के अयोग्य बन गए हैं, तैयार वे फिर किसी भी मात्रा में चाहे क्यों न होते रहें? संहार-संघात की जो क्षमता उन्होंने प्राप्त कर ली है, उसी के कारण व्यावहारिक राजनीति में वे असंगत हो आये हैं। सूम का धन जैसे गड़ा रह कर सिर्फ उसे धनिक बनाए रहता है, काम नहीं आता, कुछ वही हाल अणु-स्फोट-सज्ज शक्तियों का मान लेना चाहिए। अणुबम बैठे रहेंगे, ढेर के ढेर चिने भी जाते रहेंगे और युद्ध उनके बावजूद, बल्कि उनकी सुरक्षा में होता रहेगा। वह युद्ध अपने-अपने सिक्कों के हथियार से और भी गहराई पर और नृशंसता से जारी रखा जाएगा। डालर और स्टर्लिंग के साथ रुबल और मार्क और येन का घमासान आंखों आगे चलता रहा है, जो आगे और भी उत्कट हो सकता है!

इन सब विषमताओं के विवर्त के बीच यदि कोई औपनिषदिक व्यक्ति है जो उन मंत्रों और ऋचाओं के सहारे सचमुच मन में शांति सिद्ध कर आता है, तो वही है जो इस रण की विकटता को समझेगा और उसकी व्यर्थता को भी समझ लेगा। उस व्यर्थता को

84 / गांधी और हमारा समय

वह अपने जीवन और आचरण द्वारा सबके समक्ष ऐसे उघाड़ कर रख देगा कि उस कारोबार में लगे और लाभ लेने वाले खुल आएंगे और सच्चे की जगह मिथ्या नेता दीख आएंगे! अपनी रक्षा में वे राजनेता फिर उसे शांत मूर्ति को बागी घोषित करेंगे और उसकी बात की सचाई के प्रभाव की रोकथाम दमन और दण्ड के उपाय से कर लेना चाहेंगे।

संक्षेप में शांति के पुरुष को जागतिक-व्यवस्था के कर्ता-धर्ता जन अपनी ओर से शांति से नहीं रहने देंगे। किंतु उस ऊपरी समूची अशांति के मोर्चे के बीच वह भागवदपुरुष अपनी आंतरिक शांति में अडिग रहेगा। उसकी अपनी ओर से जो भी व्यवहार होगा, वाणी का उच्चार या कर्म का प्रचार होगा, सर्वथा शांतिमय और सत्यमय ही हो सकेगा। वह शांति जो भीतर गड़ कर सो जाती और ऊपर अंकुर देकर पनपती फैलती नहीं है, तो कहना होगा कि शांति का बीज वहां था भी तो मर गया है, अपनी सार्थकता पा नहीं सका है। अन्यथा असंभव है कि शांति के पुरुषार्थ में से पराक्रम न फूटे जो अशांति की चंडता और मतता को निस्तेज कर दे।

हम और विश्वशांति

हम विश्व में शांति स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिए कितने ही संगठन और संघ बनाए गए हैं। समय-समय पर विश्व-शांति सम्मेलन भी होते हैं, किंतु युद्ध पास सरकता आ रहा है। तो क्यों ये विश्व-शांति के प्रयास असफल हो रहे हैं? क्या विश्व-शांति संघ, संगठन और सम्मेलन के आयोजकों ने स्वयं में शांति का मार्ग पा लिया है जो विश्व में शांति स्थापित करने चले हैं? मैं समझता हूं, जब तक मनुष्य अपने अंदर शांति स्थापित नहीं कर लेगा, तब तक विश्व-शांति असंभव है। क्योंकि बाहर वह वही बिखरेगा जो अंदर है। अगर अंदर अशांति है तो बाहर वह शांति कैसे स्थापित कर सकेगा? तो क्या विश्व-शांति संघ और सम्मेलन निरर्थक हैं?

—आपका प्रश्न क्या स्वयं यह समाधान देता नहीं मालूम होता कि आयोजकों और व्यवस्थापकों को अपना अंतर टटोलने की आवश्यकता है। वे देखें कि उनके भीतर द्वेष-विद्वेष तो काम नहीं कर रहा है। जिस शांति को वे बाहर चाहते हैं, भीतर क्या उसे उन्होंने प्राप्त किया है?

वस्तुतः जिस शांति के प्रयास होते हैं, जिसके लिए सम्मेलन आदि हुआ करते हैं, वह युद्ध-विराम और युद्ध-विरोध तक ही संगत होती है। इस प्रकार यह केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित हो रहती है, उसमें सृजनात्मक क्षमता होने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसलिए वे प्रयत्न यत्किंचित् सफल भी होते हैं, तो भी मानव-जाति के आश्वासन का निमित्त तनिक नहीं बन पाते।

युद्ध और हिंसा की विवशता

सच यह कि शांति सिर्फ चाहने की चीज नहीं है। भीतर से हमारी कुछ विवशताएं काम करती और शांति को असंभव बनाए रखती हैं। इसलिए जब कि विवाद-विग्रह, झगड़ा-बिखेड़ा, युद्ध-संग्राम आदि अनिवार्य मालूम होते हैं तो शांति के लिए लगता है कि मानो अलौकिक पुरुषार्थ की अपेक्षा हो। सच ही, शांति की उपलब्धि के लिए अपने साथ एक सतत युद्ध और सतत यत्न की आवश्यकता रहती है। पुरुषार्थ नाम ही उस युद्ध के स्वरूप का है, जिसमें योद्धा असत् से मोर्चा लेता और सत् के प्रण से च्युत नहीं होता है। इस रण में वह सहर्ष आत्माहुति को आवाहन दे आता है।

निश्चय ही कुछ विवशताएं हैं जिनके कारण हर प्रयास होने पर भी शांति हाथ नहीं आती है, बल्कि परिणाम उल्टा दीखता है। प्रगततः युद्ध जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अशक्य हो गया है तब वे हिंस्र वृत्तियां मानव-समाज की परस्परता में और भी बल से व्याप्त हो आयी हैं। अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा की अनुपयोगिता के प्रमाण के साथ उस पद्धति का विश्वास घटने के बजाए और बढ़ता ही जा रहा है।

एक नये जन-मानस का उदय

इन कारणों के निदान में जाने की आवश्यकता है। राजनीतिक शीर्ष पर से ही उस प्रच्छन्न हिंसा का उपाय करने से नहीं चलेगा। सच यह कि राजनीति कुछ कर भी सकती है तो तब जब राज्य की सत्ता अमुक राष्ट्र में पूरी तरह अबाधित हो, उसकी अपनी अंतरंग समस्याएं नहीं के समान हों। पर यह स्थिति किसी भी राष्ट्र-राज्य की आज नहीं है। सब जगह अस्थिरता और विचलन है। इस कारण राजनेताओं का वर्ग जुट कर किसी एक परिणाम पर आ भी पाएं तो जान पड़ेगा कि उसका अमल कठिन है। अर्थात् जनता का मानस राजनेताओं के वश का अब नहीं रह गया है। जन-सागर के भीतर से उठी मांगों को ऊपर से पूरा करना अब संभव नहीं दीखता है। अब वहां निबंध-निर्बाध जीवन की ऐसी मांग उठ आई है कि पैसे की संस्था हठात् जिस व्यस्तता, व्यवस्था और शील-संभ्रम का निर्माण करती थी, वह सब टूट गया है। उसका मूल्य शून्यवत् हो गया है। पैसे की जरूरत पैदा करके राज्य अपने को आवश्यक और सुरक्षित किये रहता था। वह माध्यम था जिससे आपसी संबंध बनते और निभते थे और उसके सूत्र राज्य के हाथ में रहते थे। लेकिन अब दल के दल लोग हर कहीं हो गए और होते जा रहे हैं जो पैसे को लतियाते और हर तरह के मनमानेपन को अपनाते का आग्रह रखते हैं। ये लोग किसी राष्ट्रीयता को मान नहीं देते। इसलिए अमुक राज्य के संरक्षण के लिए भी अपने को मोहताज नहीं मानते। यह एक नयी चीज अब पैदा हो रही है। पहले देश, विदेश और अंतर्देश के विचार से काम चल जाता था। राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय विचार राजनेताओं में से अपना प्रतिनिधित्व अथवा प्रत्याख्यान पा जाता था। वही पर्याप्त होता था और व्यवस्था

मानो निभती चली जाती थी। पर ज्ञान-विज्ञान के विस्तार और संचार से दूर-दूर देशों के लोग आस-पास आ गए हैं और उस संघनन और मंथन में से एक मानव-परिस्थिति जैसी वास्तविकता पैदा हो रही है। विश्व-मानस और विश्व-मानव पहले कल्पना में चाहे रहा हो, अब वह यथार्थ में उदय में आ रहा है। वह देशों की सीमा-रेखाओं की मर्यादा के भीतर ही घिरा-समाया रहना नहीं चाहता। यह आक्रोश सब जगह है। उस विद्रोह के लक्षण भी सब जगह हैं जो इस समूची सभ्यता को ही जड़ से इंकार करता है। उस विश्व-जन-मानस के उभार के अनुपात में ये राजनेताओं के सम्मेलन आदि और भी निष्प्रमाण-निष्प्राण होते जाएंगे। वस्तुतः उस राजनीतिक पद्धति और परंपरा वाला विचार ही मानो स्थिति-परिस्थिति के प्रति अपर्याप्त सिद्ध हो आया।

विधायक आधार की आवश्यकता

किंतु यह आंतरिक अभियान अभी विधायक आधार नहीं पा सका है। अभी उसके तल में निषेध और नकार विशेष है, कुछ प्रतिषेध और प्रतीकार भी है। किंतु रचनात्मक दिशा का प्रादुर्भाव नहीं दीखता, कुछ वह कि जो प्रवर्तमान राजनीतिक व्यवस्था-विचार का स्थान ले सके। संक्षेप में, राजकीय और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की जगह लेने को किसी अर्थ-समाज-रचना का विकल्प, या कल्प-चित्र, अभी नहीं उग रहा है। पश्चिम आदि में कुछ गिनती के नाम हैं जिनका चितन अग्रगामी कहा जाता है। उन सभी में आज की व्यवस्था की समीक्षा है, अपर्याप्तता का प्रतिपादन है, उसके प्रति विद्रोह आदि का समर्थन है। वह सब होने पर भी किसी मानवीय अर्थ-रचना का प्रस्ताव या सुझाव वहां नहीं है। साझे-बाजार और विश्व-बैंक आदि की योजनाएं राजकीय स्तर की हैं, किंतु उनसे मानवीय प्रयोजन सच में सिद्ध नहीं हो पाता है। इसीसे जिस स्तर पर राजकीय-जन मानस-हित-निमित्त विराट योजनाओं का विधान और व्याख्यान करते हैं, उस ओर इस नये असंतुष्ट स्वतंत्र युवा वर्ग की ओर से मात्र उपहास जा पाता है।

इसलिए ऊपर-ऊपर चलने वाले राजनेताओं के प्रयास जागतिक-मानस से अछूते रह जाते और अंततः विफल होते हैं। धरती की ओर से किसी रचनात्मक आधार को आना होगा जिसमें से मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा उदित हो और नये प्रकार की मानवोचित व्यवहार-व्यवसाय की रीति-नीति और तत्व-दर्शन प्राप्त हो। शायद सृजनात्मक क्रांति आए तो इसी राह से उसकी संभावना हो सकती है।

चर्खा और खहर : मानवीय आधार

इस संदर्भ में गांधी जी के चर्खे और खहर की बात मुझे सबसे संगत जान पड़ती है। वे मानवीय अर्थ-रचना के आरंभ के प्रतीक हैं। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवहार आयात-निर्यात की भाषा में चला करता है। हर राज्य को आयात पर निर्यात बढ़ाने की चिंता है। इसमें मनुष्य

बीच में से छूटा रह जाता है और राष्ट्र को संपन्न बनाने की योजनाएं ऊपर-ऊपर बुनी जाती रहती हैं। परिणाम होता है कि राष्ट्र की दौलत के साथ आदमी की कंगाली बढ़ती है। पैसे का परिमाण बढ़ता, मूल्य घटता है। चीजों के दाम उठते चले जाते हैं और अमीर की अमीरी आसमान को छूती तो उधर कंगाली पाताल के भी नीचे धंसती है। यह नतीजा है उस व्यवस्था-विचार का जो राजनीतिक-राष्ट्रीय आदि तो है, मानवीय नहीं है।

किंतु अब मानवता एक होकर जागती दीखती है। इसलिए उसकी व्यवस्था के निमित्त भी मानव-मूल्य और तदाधारित मानव-विचार ही संगत हो सकेगा। वह विचार आंकड़ों पर नहीं चलेगा बल्कि हर मनुष्य की सभावनाओं का ध्यान रखेगा। आर्थिक की जगह यह विधि हार्दिक होगी। तब उत्पादन विदेशी मुद्रा की कमाई के खातिर न होगा, पारस्परिक और पड़ौसी-हित को वह ध्यान में लेगा। श्रम का फल बिकने के लिए दूर-दराज नहीं जाएगा, बल्कि प्रथमतः आपसी उपयोग में वह आएगा। इस पद्धति के चलन पर राज्य की या किसी की यह शक्ति नहीं रह जाएगी कि अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं से आदमी को वंचित कर दे, या उनके लिए किन्हीं को मुहताज बना दे। मजदूरी के नाम पर बाजार में बिकने को फिर कोई मजबूर न हो जाएगा।

मुझे नहीं लगता कि अपनी रहन-सहन और व्यापार-व्यवस्था की विधि में ऐसा कोई मौलिक परिवर्तन लाए बिना उस शांति का सूत्रपात हो सकता है जो बचाव की नहीं प्रत्युत फैलाव की हो, जो अपने में जीवंत और तेजस्वी हो।



3. चीन और पाकिस्तान

- नीति और शक्ति ● विमान-अपहरण ● शस्त्र बल का विकल्प
- झगड़े की जड़ ● कश्मीर

शक्ति और न्याय

चीन ने भारत के एक बड़े भू-भाग पर कब्जा कर रखा है और उसे अपना बता रहा है। इसके लिये हमें एक युद्ध से भी गुजरना पड़ा है। हम इसे बातचीत से सुलझाना चाहते हैं पर चीन इसके लिये तैयार नहीं है। अब हमें क्या करना चाहिए ?

—मैं इस प्रश्न के ब्योरे में गया नहीं हूँ। चीन के पास भी अपना केस हो सकता है। बल्कि स्वर्गीय श्री बट्रेण्ड रसेल युद्ध के प्रश्न पर चीन के पक्ष के अधिक समर्थन में थे।

राजनीति में शक्ति की जय

पर एक बात साफ है कि भारत शक्ति में चीन से हेठा सिद्ध हुआ है। न्याय का प्रश्न अलग, शक्ति के तल पर भारत को निष्क्रिय और पराजित होना पड़ा है। राजनीति में शक्ति की ही जय है। स्पष्ट है कि यदि भारत को राज-प्रकरण के क्षेत्र में जय की आवश्यकता हो तो उसे अपनी सैन्य और सामरिक शक्ति को बढ़ाना चाहिये।

पर वह बात होने वाली दीखती नहीं है। चीन की जनसंख्या उससे बहुत अधिक है। सत्ता वहां इतनी पंचमेल और डगमग भी नहीं है। चीन के पास अणुबम हैं और वह राष्ट्र कहीं अधिक सुगठित है। यह तो विश्व के शक्ति-संतुलन के व्यूह के कारण है कि चीन-पाकिस्तान एकाएक भारत पर भारी पड़ने की नहीं सोचते हैं। पर राजकीय तल पर भारत निश्चय ही कमजोर है और इसलिये उसका कुछ भू-भाग उसके हाथ से निकल भी गया है।

इसीलिये कहता हूँ कि राजनीति के भरोसे से न चलेगा। दूसरी भी नीति है जहाँ पराजय है ही नहीं, मरण भले हो। राजनीति में विश्वास डालकर उस ऊंची न्याय-नीति, जीवन-नीति या धर्म-नीति का सहारा थामना कठिन होता है। गांधी नीति का आधार वही था।

यदि भारत के अन्तःकरण में यह निश्चय था, और निश्चय है, कि अकसाई चीन पर बलात् कब्जा कर लिया गया है, तो भारत को शस्त्रपूर्वक या निःशस्त्र भी वहां डट जाना चाहिए था। फिर होता जो हो लेता। संहार ही तो होता, अपमान न हो पाता।

देश की अन्तर्बाह्य शक्ति के लिये एक 'विज्ञान' की आवश्यकता

न्याय को और हक को छोड़ा कैसे जा सकता है ? इसमें मृत्यु आये तो उसका वरण भी श्रेयस्कर है। यह नीति भौतिक-शक्ति के भरोसे नहीं चलती। उस राजकीय तल पर तो न्याय-नीति स्वयं शक्ति के अधीन हो आती है। वहां लाठी के हाथ निर्णय होता है और वही हुआ है। जवाहरलाल जी राजनेता थे, आत्मचेता पुरुष नहीं थे, पर गांधी जी के सम्पर्क से वह आदर्शवादी अवश्य बन गए थे। परिणाम हुआ कि कूटनीति में चाऊ-एन-लाई की चल गई, नेहरू आदर्श की मीनार पर कोरे रह गए। फिर तो शस्त्र की बदाबदी में उन्हें मुंह की खानी पड़ी। कहां है अब तिब्बत ? वह तो नक्शे से ही साफ हो गया है, पर कौन उस बात को उठाने वाला है ? विजयी शक्ति को शुद्ध न्याय-नीति की ओर से चुनौती देने वाली मानवान्तःकरण की आवाज है कहां ? राजनीतिक और राजनेता व्यक्ति को अपने राज्यास्तित्व की चिन्ता प्रथम होती है, सत्य और न्याय उसके लिए दोयम हो जाते हैं। गांधी के बाद नेहरू के भारत की यही स्थिति बन आई है। वह देश अपने अस्तित्व को लेकर ही व्यग्र और व्यस्त है। किसी मिशन अथवा आदर्श के प्रति तत्पर वह हो तो हो कैसे ? भारत की आन्तरिक और बाहरी दुर्बलता का कारण ही यह है। उसके पास एक विज्ञान होना चाहिए था। गांधी को लेकर दुनिया को इसी दिशा में उससे आशाएं बंधी थीं। पर छोड़िये, वर्तमान को लीजिये और यह तथ्य है कि भारत अपनी काफी ज़मीन छिनाये बैठा है और कुछ भी करने-धरने की स्थिति में नहीं है।

विमान काण्ड

विमान काण्ड को लेकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच काफी तनाव आ गया है। दोनों देश अपनी-अपनी आन पर टिके हुए हैं, कोई झुकने के लिए तैयार नहीं है। ऐसी स्थिति आने पर क्या होना चाहिए ? सम्बन्ध सुधारने के लिए क्या झुकना आवश्यक है ? और नहीं तो आन की रक्षा के लिए क्या युद्ध ही अनिवार्य नहीं दीखता है ?

—राष्ट्रवासियों के बजाय यदि राष्ट्र-सरकारों के हाथ ही जीवन की बागडोर रहेगी तो ऐसी स्थितियां बनने, तनाव आने और युद्ध ठनने की सम्भावना कायम ही नहीं रहेगी, बल्कि गर्माती जायेगी।

पाकिस्तान की समूची जनता में भारतवासियों के लिए विद्वेष हो, यह नहीं माना जा सकता। पूर्वी बंगाल के भाग में तो स्पष्ट ही वैसा दुर्भाव नहीं है। हाल के चुनाव में

लगभग पूरे मत से मुजीबुर्रहमान नेता चुने गए हैं और वैधानिक रूप से उन्हीं के भाग में पाकिस्तान का प्रधानमंत्री बनना आयेगा। उन्होंने इस विमान काण्ड की निन्दा की है। लेकिन सरकार का अपना ही तर्क और अपना ही रवैया रहता है, यहां तक कि लोक-निरपेक्ष रुख रखने में उसे बाधा नहीं अनुभव होती। बल्कि तनाव के ऐसे वातावरण से तत्कालीन सरकार को कुछ समर्थन और बल भी मिल आता है। असम्भव नहीं है कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच की इस घटना को लेकर वहां नये चुनावों के परिणाम को स्थगित रखा जाए और संविधान के निर्माण के लिए सदन की बैठक हो ही नहीं। आज की जीवन-व्यवस्था में राष्ट्रों के मध्य परस्पर पूरकता का नहीं प्रतिस्पर्धा का भाव है, फलतः उन्हें दूसरे की हानि में अपना हित दीख आता है। इस आधार पर सीमा-रेखा के इधर-उधर सन्नद्ध सैन्य पंक्तियाँ तैनात रहती हैं कि संकेत हो और वे एक दूसरे पर टूट पड़ें। आक्रामक हो आएँ, तो भी कहा उनको सुरक्षा सैन्य जाता है। इस सेना को सुसज्ज रखने और शत्रु-देश से बढ़ा-चढ़ा बनाने में उस देश की अर्थव्यवस्था चाहे एक ओर कितनी ही झुकी और बोझिल हो आए, पर वह करना ही पड़ता है।

शस्त्र-बल का विकल्प

व्यवस्था का यह क्रम इतिहास में अब तक इसलिए चलता रहा कि युद्ध में हार-जीत हो सकती और उस प्रकार निर्णय भी हो जा सकता था। दो पक्षों के बीच हक और न्याय के बारे में उलझन हो तो शक्ति के द्वारा झट निपटारा कर लिया जाता था। भैंस किसकी—तो जिसकी लाठी जबर हो उसी की। चलिये बात खत्म। कहा जा सकता है कि न्याय का निर्णय क्या निरे शक्ति के तर्क से हो भी सकता है? पर व्यवस्था की भूमिका पर मनुष्य किसी और तुला का निर्माण अब तक नहीं कर पाया है। किंतु विज्ञान के विकास के साथ अब आकर मानव जाति एक ज़िच में घिरी दिखाई देती है। युद्ध वाली जीत-हार अब संभव नहीं रह गयी है। अण्वायुध ऐसे निकल आये हैं कि आक्रामक को आक्रमण के साथ प्रत्याक्रमण में स्वयं भी स्वाहा हो जाना होगा। कोई पक्ष बचेगा नहीं कि अपने को विजयी मान सके। उन्हें सीधे आमने-सामने आने तक का मौका नहीं मिलेगा। शस्त्र उड़ते हुए जायेंगे और पलक मारते दोनों ओर से शत्रुओं को घरों में बैठे-बैठे ही भस्म कर देंगे।

अति-वैज्ञानिक युद्ध की इस विभीषिका पर मनुष्य को ठिठकना और सोचना पड़ रहा है। निस्तार का मार्ग एकाएक दीखता नहीं है। पर जैसे हो, उस मार्ग को खोजकर निकालना ही होगा अन्यथा तो महाप्रलय सामने है और मानव जाति का वंश-बीज भी न रहेगा।

वह क्या उपाय हो सकता है? उपाय कुछ वही हो सकता है कि जिसमें विविध राष्ट्रों के राष्ट्रवाद आपस में खड़कें और भड़कें नहीं, बल्कि एक दूसरे की भरा और पूरा

बनाएं। उनके हित परस्पर अविरोधी हों, यहां तक कि अनुभव हो कि उनके वास्तव हित परस्पर आश्रित और अनुबद्ध हैं। यद्यपि वे राष्ट्रवाद किसी न किसी प्रकार की राज्य-संस्था के प्रतीक द्वारा व्यक्त और व्यवहार्य होंगे, पर वे राज्य-तंत्र लोक-निरपेक्ष और दलगत न होंगे बल्कि सच्चे अर्थ में वे जनतंत्र हो सकेंगे। अब चूंकि जनहित समूची मानव-जाति का एक है इसलिये वे लोकतंत्र आपस में युद्ध की नौबत लाने से सावधान और उत्तीर्ण रहेंगे। तथापि मतभेद, जो कि अनिवार्य ही है, उपस्थित होने पर उनके निबटारे की क्या व्यवस्था होगी, इसमें जाना विचार को व्यर्थ ही समय से आगे दौड़ाना है। राष्ट्रों के और मानव-जाति के अंतरंग में से इन विवादों के निराकरण का यथावश्यक यंत्र-विधान आप ही निर्माण में आएगा और इस तंत्र की सत्ता स्वभावतः सैनिक उत्तरोत्तर कम और नैतिक अधिकाधिक होती जायेगी।

झगड़े की जड़

पर वह भविष्य आपको अपने प्रश्न से काफी दूर और निरपेक्ष लगता होगा। विमानकाण्ड के प्रति कहीं से भी पाकिस्तान के पक्ष में सहानुभूति की आवाज सुनने में नहीं आ रही है। पाकिस्तानी सरकार अपने समर्थन में स्वयं अकेली ही दीखती है। बल्कि वह तक दिखाना चाहती है कि विमान के दाहक और अपहरणकर्ताओं के स्वागत में उसका अपना हाथ बिल्कुल नहीं है। वह जो हो, पर यदि अभियुक्त भारत को नहीं सौंपे जाते हैं, या विमान का हर्जाना देने की तैयारी नहीं दीखती है, तो पाकिस्तान की सच्चाई इस विषय में संदिग्ध ही बनी रह जाती है।

झगड़े की जड़ कश्मीर है। वहां मुस्लिम आबादी की बहुलता है। बहुत पहले इस ओर से कहा गया था कि कश्मीर का भारत में विलय वैधानिक उपचार से तो हुआ, लेकिन बाद में उस पर कश्मीर की लोक-सम्मति की भी मोहर ली जायेगी। तब से स्थिति तनाव से दूर नहीं हुई है और इस्लाम धर्म के नाम पर पाकिस्तान के दावे का दबाव बना ही चला आ रहा है। उसने युद्ध छेड़ा और कश्मीर का काफी भाग उसके हाथ में बचा रह गया है। इस धार्मिक तनाव की हालत में लोकमत की बात स्थगित रही और फिर लुप्त ही हो गयी। वही प्रश्न है और पाकिस्तानी सरकार नैतिक से आगे राजकीय अधिकार भी कश्मीर पर जमा लेना चाहती है। बस उन सिद्धि की वह नाना तदवीरों और तरकीबों लड़ाती रहती हैं और किसी उपाय पर रुकना नहीं चाहती हैं।

धर्म का आवास—मनुष्य का मन

इस्लाम पाकिस्तान तक खतम नहीं है। इस्लाम धर्म है और भौगोलिक सीमाओं में बंधा वह नहीं रह सकता। धर्म का आवास मनुष्य का मन होता है और मुस्लिम अगर हिन्दुस्तान में रहें तो पाकिस्तान या कोई उन्हें इससे नहीं रोक सकता। इस्लाम के नाम पर

92 / गांधी और हमारा समय

पाकिस्तान अपना स्वत्वाधिकार उन पर लादना चाहे तो हिन्दुस्तान के करोड़ों मुस्लिमों को यह कभी मान्य न होगा। एक बार बटवारा हो गया तो हो गया, उसका लहूलुहान फल भी दोनों देशों ने भोगा। अब उस तर्क को और आगे बढ़ाना खतरनाक हो सकता है।

हाईजैकिंग का जो आज यह हादसा हुआ, उसी तरह के तर्क के फन्दे को लेकर पाकिस्तानी प्रशासन चल रहा दीखता है। उसे अनुभव करना चाहिए कि इसमें किसी की खैर नहीं है। ऐसी कार्यवाइयां कि जिनसे आपसी विश्वास टूटे और संशय बढ़े, दोनों पड़ोसी देशों की ताकत को कम करेंगी और अन्ततः उन्हें बड़े देशों की शरण में ला डालेंगी। दुनिया में वैसे ही पश्चिम और पूर्व का ध्रुवीकरण होता जान पड़ता है। उसी हिसाब से सामरिक व्यूह तैयार हो रहे हैं। चाहिए तो यह था कि समूचा भारतीय प्रायद्वीप इस युद्धोन्माद से तटस्थ रहकर उस पर अंकुश लाता। पर वही फटकर इस आपसी द्वेष में यदि जागतिक कलह का अंग बन जाता है तो फिर कहां से क्या आशा की जा सकती है?

गांधी का उपहार

सच यह कि किसी एक देश को, युनिलेट्रली, अपने विश्वास के ही आधार पर, उठना और शस्त्र-बल का विकल्प ढूंढ़कर मात्र उसी बल के भरोसे अपने को सुरक्षित मानकर और बनाकर दिखाना होगा। छुटपुट युद्ध जहां-तहां बहुतेरे हुए हैं, पर सब जगह के परिणामों ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व की आज की शक्ति-संतुलन की स्थिति में कोई देश शस्त्र-बल के बूते जीत नहीं सकता, न किसी को उस तरीके से हराकर नेस्तनाबूद किया जा सकता है।

ऐसी अवस्था में लोक-लब्ध और सर्व-सुगम अहिंसा की शक्ति का आह्वान किया जा सकता और उसके चमत्कार को प्रगट किया जा सकता है। मानना होगा कि गान्धी होकर चले गये हैं, पर अहिंसात्मक सत्याग्रह के शस्त्र की थाती भी मानव जाति को सौंप गये हैं। उसको अजेय और अमर सिद्ध किया जा सकता है और प्रतीक्षा है कि कौन यह करता है।

कश्मीर समस्या

तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के इस झगड़े की मूल जड़ को कैसे निबटाया जा सकता है? अगर नहीं निबटता है तो क्या अचरज कि भविष्य में इस तरह के अप्रिय काण्ड और न हों? क्या वार्ता से समस्या निबट सकती है?

—सिर्फ दोनों सरकारों के बीच ही यदि प्रश्न रहा तो सुलझना मुश्किल है। कारण, दोनों जगह सरकारें जनता का प्रतिनिधित्व उतना नहीं करतीं, जितना वे शासन-प्रशासन करती हैं। जनता का मन सरकारों के साथ होगा तब की बात दूसरी है। तब वे सरकारें

उतनी मालिक बनकर न रहेंगी, उनका रूप बदला हुआ होगा।

इस्लाम के नाम पर देश का विभाजन

अभी ताजा है यह याद कि इस्लाम के नाम पर देश का विभाजन हुआ और पाकिस्तान बना था। वह धर्म-दलीय चेतना बैठी नहीं है, चहकी हुई है। उसका उपयोग राजनीतिक प्रयोजन के लिये बखूबी किया जा सकता है, और किया जा रहा है। भारत के साथ चीन की लड़-झगड़ हुई थी और दोनों के दरम्यान कोई मिठास नहीं है। इसलिए पाकिस्तान चीन की मित्रता में अपना स्वार्थ और हित देखे तो क्या अचरज है? यातायात के लिए उनके पास अब सड़क हो गई है और दूसरे भी समझौते हुए हैं। इस प्रतिद्वंद्विता में धार्मिक मतावेश काम आता है, उससे शत्रुता की आग सुलगायी रखी जा सकती है।

पर धरती से लगकर रहने वालों का हित मजहब या सियासत के हिसाब से कट-बट नहीं जाता। इसीलिए सीमा रेखाओं पर हिंदू-मुसलमान उचक्के मिल-जुलकर अपना कारबार चला लिया करते हैं। जीवन कहीं बन्द होकर नहीं बैठ सकता और अपना केन्द्र बनाकर सब ओर फैलने के लिए वह विवश है। सच्ची धर्मनीति, समाजनीति और राजनीति अतः वही होगी जो भीतर से उदय में आकर रचनात्मक प्रेरणाओं को भरपूर अवकाश देती जाएंगी। फैलती हुई यह एकता ही सब धर्मों का लक्ष्य रहा है और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में अनैक्य को मिटाया और ऐक्य पनपाया भी है। पर धर्मभावना कुछ समय बाद बुझकर ठंडी होने लगती है और तब क्षेत्र और सम्पत्ति को लेकर ममता जगती और वह भावना सामूहिक स्वार्थ में गढ़-बंध आती है। इन स्वार्थों में फिर रगड़-झगड़ होना आवश्यक होता है और परंपरा पुष्टि धर्म-मत से राजनीतिक आग्रह के आधार का काम लिया जाने लगता है। स्पष्ट है कि धर्म वहां नहीं होता, धर्म की दुहाई और पुकार ही होती है। और इस धर्म के नाद और वाद के नेताजन स्वयं धार्मिक होने की आवश्यकता में नहीं रहते, नितान्त लौकिक हो आया करते हैं। उनका मन इबादत में नहीं, सियासत में बसता है। देश विभाजन में मुख्य कारण बनी मुस्लिम लीग मजहबी जमात नहीं थी और कायदेआज़म जिन्हा कतई नमाजी मुस्लिम न थे।

सियासत के पास इलाज नहीं

यानी मुझे नहीं लगता कि सियासत के पास हर तनाजे का इलाज है। सियासत के सिवा दूसरी निगाह अभी है नहीं, इसलिए अंदेशा यही है कि दोनों के रिश्तों में गर्मी बढ़ेगी और एक दूसरे के खिलाफ मुकाबले की तैयारियां भी बढ़ाई जाती रहेंगी। लोगों के मन एक दूसरे से खट्टे बनाए और रखे जायेंगे और सही पड़ौसी का रिश्ता मुश्किल बना रहेगा।

यानी इलाज गहरी धर्म भावना में से ही आ सकता है। उसमें इंसानी हमदर्दी की

बुनियाद होती है और पड़ौसी को बिना शर्त अपना लिया जा सकता है। पाकिस्तान ही नहीं, हिन्दुस्तान के लिये भी इस चीज की जरूरत है। इस समय जिस रूप की हिन्दू-धर्म-भावना प्रबल है वह क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अधिक है, अपेक्षा में आध्यात्मिक और मानवीय कम है। उस हिन्दुत्व से मुस्लिम अनिवार्यतया बाहर रह जाता है। हिन्दू संज्ञा का आदि रूप ऐसा नहीं था। भारत देश के गांधी के पास भी हिन्दू का ऐसा बन्द आशय नहीं था। उसमें मानवीय व्यापकता थी और मुस्लिम या ईसाई कोई उसकी आत्मीय भावना से बाहर नहीं रह जा सकता था। पर राजनीतिक को गांधी की यह धार्मिकता और मानविकता मन से स्वीकार्य नहीं हुई। इधर जिन्हा, उधर नेहरू, दोनों अपनी वृत्ति और नीति में सर्वथा 'सेक्युलर' थे। दोनों के सामने सत्ता थी और शासन था। उस चाह में बांट-बंटवारे का सवाल पैदा हुआ और हिन्दू-मुस्लिम फर्क ने तरेड़ की वह लकीर दे दी जिस पर मुल्क को आसानी से तोड़ा जा सकता था।

हिन्दू भारत और रा० स्व० से० संघ

गांधी का भारत स्वराज के साथ नेहरू के हाथ आया। यह भारत कटा हुआ था और पाकिस्तान अलग हो चुका था। इससे जाने अनजाने यह हिन्दू भारत था। हिन्दू भारतीयता के इसी तर्क पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने शक्ति पकड़ी और आज सक्रिय राजनीति में गठित शक्ति के रूप में जनसंघ प्रबलतम दल है। कांग्रेस जो सिर्फ राजनैतिक और लौकिक थी फट गयी। नेहरू-कांग्रेस का पैतृक उत्तराधिकार 'नई' कही जाने वाली कांग्रेस की अनन्य नेत्री इन्दिरा गांधी (नेहरू) के पास आया है। हिन्दू-मुस्लिम शब्दों की धर्मिता से उस नई कांग्रेस का कोई लगाव नहीं है और धर्म से विशुद्ध बल्कि विमुख लेफ्टिज्म की नीति उसकी नीति है। कांग्रेस के संगठन पक्ष ने जनसंघ और स्वतंत्र आदि से मिलकर यह दर्शा दिया है कि उसकी दृष्टि सर्वथा आर्थिक और राजकीय नहीं है, बल्कि उसमें दूसरे मामलों का भी समावेश है। भारत देश में आम चुनाव हो रहे हैं और पाकिस्तान में पहली बार चुनाव होकर चुका है। देखना है कि चुनाव का क्या परिणाम आता है। स्पष्ट ही धर्मभाव सम्पन्न मानवीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व देश के आज के मानचित्र में प्रत्यक्षतः कहीं भी नहीं है। अतः चुनाव के बाद भी मुझे कोई संभावना नहीं दीखती कि पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के सम्बन्धों में आसानी से कोई आपसी समझ पैदा हो सकेगी। आशा की रेखा एकमात्र यह है कि पूर्वी पाकिस्तान जनसंख्या में पश्चिमी से भारी है और उसने बेहद प्रबल मत से मुजीबुर्रहमान साहब को समूचे पाकिस्तान की संसद में एकान्त बहुमत दे दिया है। कश्मीर से पूर्व-पाकिस्तान बहुत दूर है और वहां उस सम्बन्ध में उतनी गहरी दिलचस्पी भी नहीं दीखती। बंगला भाषा उसको प्रिय है और बंगला के हिन्दू कवि-साहित्यकार उसे किसी तरह भी पराए नहीं लगते हैं। हो सकता है कि इस्लामबाद का जुनून मुजीब साहब के लिये वैसी मजबूरी न पैदा करे और

हिन्दुस्तान के साथ वे बाहमी ताल्लुकात को तर्जोह दें। लेकिन वे चीजें दूर हैं और अभी तो पश्चिमी पाकिस्तान की रायआम्मा के वाहिद लीडर जुल्फिकार अली भुट्टो साहब की आवाज बुलन्द है। वह कुरैशी और अशरफ के विमान अपहरण और भस्मीकरण की वारदात पर नाखुश नहीं हैं और कश्मीर को पाकिस्तान में मिलाने की बात पर पुख्ता हैं। चीन से दोस्ती की पालिसी उन्हीं की है और हिन्दुस्तान उन्हें एक आंख नहीं सुहाता है। इसलिए आसन्न भविष्य में उस प्रश्न पर कोई सुविधाजनक मनःस्थिति या परिस्थिति पैदा होगी, इसके चिह्न क्षितिज पर नहीं हैं।

पर दुश्मनी चली और फूटी, तो भी फलेगी नहीं। उस दुश्मनी के फलने और फूलने पर दोनों को जो भोगना और भुगतना होगा उससे शायद समझ आये। जान पड़ता है कि आदमी का रास्ता सीधा और सुगम नहीं है। वह कर्दम-कंटक का है और टोकर और घाव खा-खाकर ही आदमी सीखता और बढ़ता है।



4. भौगोलिक सीमा और वाद का विवाद

- देशी-विदेशी का अर्थ
- विचार में भेद स्तर का
- गांधी की आस्था
- समाजवाद-जातिवाद
- एक आध्यात्मिक व्याख्या
- मार्क्स-लेनिन
- सर्वोदय-विचार
- सही मानव-समाज के उदय की दिशा

विचार और भौगोलिक सीमा

क्या देश और प्रांत की सीमाओं की तरह विचारधारा की हदबन्दी करना उचित है? विचार तो विचार है! वह कैसे किसी सीमा की कैद में रह सकता है? फिर हम उसे विदेशी विचारधारा कह कर उसका तिरस्कार करते हैं। लेकिन जरा सोचिए तो सही, जब हम यह सुनते हैं कि महावीर, बुद्ध और गांधी के विचार अमुक-अमुक देशों में पहुँच चुके हैं, तो खुश होते हैं। ऐसा क्यों? एक तरफ हम विश्वबन्धुत्व और विश्व कुटुम्बकम् की बात करते हैं और दूसरी तरफ इस उदार और महान् विचार के प्रतिकूल आचरण करते हैं। ऐसा क्यों?

—अपने पराए का भाव सहज छूटता नहीं है। संस्कार शनैः-शनैः हमें इससे उठाता है, लेकिन अन्त तक स्वत्व-परत्व पूरी तौर पर समाप्त नहीं हो सकेगा।

विचारधारा पर कैद लगाएं तो भी क्या लग सकती है? हवा तो यहां से वहां तक बहेगी ही। आप बचना चाहें तो किवाड़-खिड़की अपनी बन्द कर लीजिए। लेकिन सब ओर से बन्द होकर आदमी जी नहीं सकता। प्राणवायु उसके लिये आवश्यक है और उसका प्रवाह व्याप्त है, रुकता नहीं है।

वस्तु की विदेशी होने मात्र से श्रेष्ठता स्वीकारना दासता का लक्षण

भारत को प्रसन्नता होती है इन बात से कि बुद्ध, महावीर, गांधी का विचार भारत की सीमा लांघकर बाहर गया। लेकिन भय होता है यह देखकर कि मार्क्स, लेनिन, माओ आदि का विचार उधर से सीमा लांघकर इधर आ रहा है। यह प्रक्रिया बहुत अस्वाभाविक

नहीं है। लेकिन विचार इस तरह बंध या रुक नहीं जाता।

पर विदेशी होने से माल बढ़िया होता है, यह भाव भी दासता का लक्षण है। भारत हाल तक पराधीन था और स्वाधीन होकर अब परेशान है। ऐसी व्यग्र अवस्था में कोई भी सीख उसे भाती लग सकती है। रोगी को सभी ओर से सलाहें मिलती हैं और वह सब ओर ललचा भी सकता है। लेकिन कारगर औषधि वह होगी जो उसकी आत्म प्रकृति के साथ मेल खाएगी।

धर्म-मूल्य, अर्थ-मूल्य और श्रम-मूल्य

मैं स्वयं अमुक राजनीतिक विचारधारा को बहुत अनिवार्य नहीं मानता, उसमें संसार की तृष्णा-आकांक्षा रहती है। जिन विचार-धाराओं की तरफ आपका संकेत है वे मूल जीवन-लक्ष्य से मेरे विचार में किनारा बचा ले जाती हैं। भारत धर्म-प्राण देश है। वह उसकी कमजोरी भी हो सकती है, लेकिन अण्वस्त्र बनने के बाद इधर मुझे लगता है कि अंततः वह उसकी धर्माभिमुखता बल सिद्ध होगी। मार्क्स, लेनिन, माओ हिंसा के उपायों को स्थान और मान देते हैं। हिंसा को अपरिहार्य ठहराकर उसको मूल्य का स्थान देने को मैं तैयार नहीं हूँ। दूसरे कारणों को छोड़ भी दें तो अणुशक्ति स्वयं में पर्याप्त कारण है कि हिंसा की श्रद्धा को गलत ठहराया जाय। समस्या के निराकरण के लिये धर्म दूसरा मार्ग बताता है। देखने में वह उलटा मालूम हो सकता है। समस्या सामाजिक विषमता की ही है न? एक अमीर है, दूसरा गरीब है, राजा है और रंक है। आदमी और आदमी के बीच इस वैषम्य और वैमनस्य को कैसे सहा जाए? ऊपर वाले विचारक सीधा मार्ग बताते हैं कि 'हैव नाट्स' की बहुलता जगे, उठे, ताकत हाथ में ले और मुट्ठी भर 'हैक्स' को क्यों न लुप्त कर डाले। फिर व्यवस्था में समता आप हो आएगी। बात गणित के हिसाब में सीधी और ठीक मालूम होती है। पर उधर धर्म अपनी टेढ़ी ही बात कहता है। वह कहता है कि 'हैक्स' तो परिग्रही हैं, और परिग्रह में दुःख है। इसलिए तुम ललचाओ मत और स्वल्प में संतोष रखो। धन तो माया का खेल है, उसमें तृष्णा क्या रखना! और धर्म इस तरह अपरिग्रह, त्याग, परमार्थ, संतोष आदि का परामर्श देता है। समझदार को निश्चय ही धर्म की यह बात समझ में नहीं आ सकती। पर फिर भी बुद्ध, महावीर, गांधी के पास से यह बात गयी और दूर-दूर तक उसने अपना प्रभाव डाला। तृष्णा को हम स्वाभाविक मानते हैं। तृष्णा से स्पर्धा निकलती है, स्पर्धा से विग्रह और युद्ध निकलता है और युद्ध अणु शक्ति के प्रगट होने के बाद असाध्य उपाय बन गया है। इसलिए तृष्णा की स्वाभाविकता पर ही जो प्रश्न चिह्न लग आता है वह धर्म आसानी से आज के दिन काट फेंका नहीं जा सकता। अब तक मानव सभ्यता अपने संसार को सिद्ध करती चली आयी है और नाना चमत्कारों से उसने इस दुनिया को सजाया-उजलाया है। उसकी उपलब्धियों को कम नहीं किया जा सकता। पर जो उसकी सबसे प्रधान

उपलब्धि है, युद्ध, उससे अपनी रक्षा कैसे की जाए? अणुबम के उदय के बाद युद्ध तो सर्वग्रासी और सर्वनाशी बन गया है। जय-विजय का उपाय अब वहां नहीं रह गया है, बस वहां तो सर्वध्वंस ही है। तो ऐसी इस सम्भता को लेकर क्या किया जाए? मैं मानता हूँ कि युद्ध की शर्त के साथ ही अगर आज की यह भौतिक उन्नति टिक सकती है तो इन उन्नति के मोह में ही बड़ी जोखिम समायी है। उस जोखिम का अनुभव विचारशीलों को होने लगा है। उन्हें लगने लगा है कि इन भौतिक उपलब्धियों के फेर में हम जिस राह पर चलते चले आए हैं, वह अब आगे बन्द है। अपनी गति को अब हमें मोड़ना होगा। मार्क्स, लेनिन, माओ उसी प्रतिस्पर्धात्मक द्वंद्ववाद के तुमुल में से उपजे चिन्तक हैं। उनकी नीति विग्रह-संघर्ष की नीति ही है। वह नीति चलेगी तो युद्ध आरम्भ में गृह-युद्ध और आगे जाकर राष्ट्र-युद्ध में परिणत हुए बिना न रहेगा? युद्ध की वह कड़ी फिर कहीं जाकर रुकने वाली नहीं है और अन्त में उसे सर्वसंहारक शस्त्रास्त्र की शरण में पहुंचना होगा। एकाएक लग सकता है कि समाज में व्याप्त अन्याय और अत्याचार पर आश्रित आर्थिक विषमता को उन महानुभावों की पद्धति से अपने बीच से अवश्य दूर किया जा सकता है। पर तथ्य बता रहे हैं कि वह भ्रम है। जहां उन पद्धतियों का प्रयोग हुआ है वहां सुख-चैन उतरता हुआ नहीं दीखा है, बल्कि समाज और सरकार के स्तर पर अस्थिरता बढ़ गई है और घात-प्रतिघात का भाव फैला है। इसलिए कुछ ठिठकने और सोचने की जरूरत है। बुद्ध, महावीर तो राजपुत्र थे। गांधी की गणना भी 'हैक्स' में की जाएगी। लेकिन तीनों ही ऐसे सिरफिरे निकले कि सर्वथा कोरे हो गए। सब रख सकते थे, पर उन्होंने सब छोड़ दिया। इस सनक को कौन समझदार समझदारी कहेगा? लेकिन जिस पगली सभ्यता के आवर्त में हम सब फंस गये हैं, उस गर्त से निकलने की दिशा का उपाय शायद ऐसे लोगों का पागलपन ही हमें बता सकता है। क्या इन तीनों का यह दोष माना जायगा कि वे भारत में पैदा हुए? और क्या हम भारतवासी हैं, इसलिये हमारी उदारता की पहचान इसी में मानी जाएगी कि हम इनका परिहार करें और मार्क्स, लेनिन, माओ का ही सत्कार करें। मैं मानता हूँ कि यह उदारता नहीं है, दुर्बलता है। आत्म-निष्ठा का यह अभाव है। मोह है उन वस्तुओं का, उन प्राप्तिियों का, जो औद्योगिक सभ्यता ने नगरवासियों के पास इतनी प्रचुरता में जुटा दी हैं। पर हमको मालूम होना चाहिए कि एक शहर सैकड़ों गांवों को लाश बनाकर उनके ऊपर अपनी रंगरेलियां रच पाता है। यह अनुभव कर सकें तो इस सभ्यता का भोग-विलास हमारे मन में त्रास और संताप उगा जायगा; लालसा, तृष्णा नहीं पैदा कर सकेगा। जो इस तृष्णा-लालसा की प्रेरणाओं को उकसाकर स्पर्धा का मार्ग सुझाते हैं वे इस सभ्यता की विभीषिकाओं से पार पाने में मदद नहीं पहुंचा सकेंगे। पर भविष्य की संभावना के लिए इस भीषण वैतरणी को पार करना ही होगा। यह संतरण उन्हीं के बल पर हो सकेगा जिन्होंने अपने भीतर जान लिया और आचरण से सिद्ध कर दिखाया कि सत्ता-सम्पदा आदि संसार की विभूतियां खड़ी हैं नीचे

वाले बहुतांशों के श्रम पर, उनके कष्ट और यातना पर। वे मरीचिकाएं हैं, वहां सुख नहीं है; और निरं अंधे स्वार्थ की वृत्ति है जो उधर ललकती है। इसलिए जिन्होंने कहा कि भाई, आदमी को प्यार करो, अदना से अदना है, वह भी आदमी है, उसमें भी अनन्त क्षमता पड़ी है। उसकी संभावनाओं को कहीं तुम्हारी व्यवस्था पद्धति ने, तुम्हारी सभ्य प्रणालियों ने, तुम्हारी चतुराई और कर्म-कुशलता ने परिहण ही तो नहीं कर डाला है। सोचो कि क्या यह तुम्हारी मनुष्यता है, क्या उस कीमत पर बनायी गयी तुम्हारी संपन्नता का मनुष्य की भाषा में कुछ भी मूल्य है? इसलिए सर्वहाराजनों, भविष्य तुम्हारा है और श्रमहीन होकर सत्ता-संपत्ति पर जो यह वर्ग बैठा दीखता है, वह भूल में है और सच में देखो तो वह तुम्हारा कृपाश्रित है। अपने श्रम में श्रद्धा रखोगे, उसके मूल्य को समझोगे तो ईर्ष्या नहीं वह मनुष्य और वर्ग तुम्हारी दया का पात्र होगा। इस सम्यक दर्शन को प्राप्त करके जो स्वयं निस्संग और अपरिग्रह हो गये, जिनके पास घर बार तक न रहा, पुत्र-कलत्र नहीं रह गए, जो इतने सबके बन आए, तो क्या आप सम्भव मानते हैं कि दुनिया उनकी न सुने और मात्र अर्थ-राज्य-विचारकों पर ही टिक कर रह जाए? मैं आपको कहता हूँ कि यह होने वाला नहीं है और आपको भी विदेशी माल के लालच में पड़ने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

स्वदेशी-विदेशी का अर्थ और उदारता का रूप?

सच तो यह कि स्वदेशी और विदेशीपन का भाव ही मनुष्य और मनुष्य के बीच दरार पैदा करने वाला है। इससे विश्व-कुटुम्ब का और विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न कभी पूरा नहीं हो सकता। मनुष्य, मनुष्य है चाहे वह देशी हो या विदेशी। इस देशी विदेशीपन के बंधन को तोड़कर हमें विश्व को एक परिवार मानना होगा। इसी में मनुष्य का कल्याण है अन्यथा देशी और विदेशीपन की यह संकीर्णता उसे ले डूबेगी।

—घर में आपके एक पत्नी है जो आपकी है। तो क्या उदारता के लिये आपमें सब स्त्रियों के लिए पत्नी भाव होना आवश्यक है? क्या इसी शर्त पर आप विश्व-बन्धु और विश्व मानव बन सकेंगे? इसलिए आप देखें कि वसुधैव कुटुम्बकम् की भाषा से स्वत्व, परत्व या स्वदेश को एकदम स्वाहा नहीं किया जा सकेगा।

स्व-पर के समन्वय से परम की सिद्धि

असल में स्वत्व को सीमित करना होगा तभी आत्मत्व विस्तृत होगा। सीमित होगा भोग, विस्तृत होगा प्रेम। आज एक चतुर उद्योग-पति उठता और देश-विदेश में अपने कारखाने और कार्यालय खोल आता है—तो क्या इस प्रक्रिया से उसे विश्वात्म होने की दिशा में बढ़ता कहा जा सकता है? मैं मानता हूँ जिसने अपने स्वार्थ को सीमित कर लिया है, अपनी आवश्यकताओं को स्वल्पतम बना लिया है, उसी का हृदय है जो सब दिशाओं

के लिए खुलकर निःसीम होता जाता है। उसकी शारीरिक आवश्यकताएं आस-पास से पूरी होने लगती हैं। उसके संबंध सारे जगत से स्वस्थ, बौद्धिक और आत्मिक होते जाते हैं इसलिए कि पास-पड़ोस से उसके रागात्मक संबंध सघन और नित्य नैमित्तिक बन पाते हैं। यह स्वदेशी का तत्व सार्वभौमता का ध्रुव बिन्दु है। अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने आस-पास के मानवीय परिवेश का जितना हम उल्लंघन करते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं, उससे उदासीनता बरतते हैं, उतनी ही मात्रा में अपनी मनुष्यता में हम चूकते हैं ऐसा मानना चाहिए। शरीर से क्या हम सीमित नहीं? निःसीमता के मोह में क्या शरीर की उस परिसीमा को तोड़ा जा सकता है? लांघा जा सकता है? अतः बुद्धि का प्रमाद है जो विश्व-बन्धुत्व को उस भाषा में समझता-समझाता है। बराबर वाले प्रस्तुत मनुष्य को लांघकर विश्व को अपनाने की बात निरी मिथ्या है, वह पाखंड और आडम्बर है। इस बहक में गहरा खतरा समाया है। राजनीति उसी चक्कर में उपकार के नाम पर अत्याचार कर निकलती है। जन को लांघकर जो जनता को प्यार किया जाता है वह अक्सर हवाई रह जाता है। प्रत्यक्ष और मूर्त से उदासीन और विमुख बनकर परोक्ष आदर्श के भरोसे जीवन को समर्थ और सार्थक नहीं किया जा सकता। स्वत्व और परत्व परस्पर आश्रित संज्ञाएं हैं। स्व-पर समन्वय में से ही परम की सिद्धि है। 'पर' तो 'स्व' की सीमा पर ही उपस्थित है, उस सीमा रेखा पर जो अकृतार्थ होता है, वह परम को प्राप्त नहीं कर सकता। 'लव दाई नेबर ऐज दाई सेल्फ।' सच्चा मानव-प्रेम इस पड़ोसी को बीच से अतिक्रमित नहीं कर जाएगा। राजनीति के मार्ग से विश्व को अपनाने की चेष्टा में यही भूल हुआ करती है। हृदय स्वकेन्द्रित संकुचित रहने दिया जाता है, बुद्धि पारगामी बना ली जाती है।

स्वदेशी भौगोलिक नहीं नैसर्गिक की आध्यात्मिक व्याख्या

स्वदेशी की यह व्याख्या भौगोलिक नहीं रहती, आध्यात्मिक हो जाती है। गांधी ने खदर चलाया और विदेशी वस्त्र की होली जलाई। इसके मूल में क्या आप शुद्ध मानव-प्रेम को देखने में असमर्थ रह जाएंगे? आत्मनिर्भरता के आधार पर ही अन्तस्थ प्रेम चरितार्थता और विस्तीर्णता पा सकता है। यह आत्म-एवं-ग्राम-निर्भरता का सिद्धान्त किसी संकीर्णता का नहीं है, स्वतन्त्रता का है। देश-विदेश के विचार की क्षुद्रता से पार होने का क्या यह प्रमाण माना जायगा कि मैं सात समुद्र पार के बिस्कुट-मक्खन से अपना नाश्ता करता हूँ और यहां तक कि डिब्बे के दूध के सहारे पास-पड़ोस की ग्वालिन-घोसिन का मुहताज नहीं रह जाता हूँ! तो मैं कहूँगा कि यह विशालता नहीं, स्व-सीमितता का लक्षण मात्र हो सकता है। धनाढ्यता के आधार पर फैलाया गया विस्तृत संबंध-सूत्र मनुष्य को जीवन की यथार्थ भाषा में विशद नहीं बनाता, स्वकेन्द्रित ही बनाता है। कारण, अहं के विस्तार में आत्म का संकुचन है और जिस विश्वात्मा की आप बात करते हैं वह हृदय और आत्म द्वारा साध्य है, लौकिक महिमा अथवा आकांक्षा से उसका कोई संबंध नहीं है।

विचार में स्वदेश-विदेश असंगत, संगत मनुष्य

गांधी की विचारधारा उपयोगी है या मार्क्स या लेनिन की, इसकी कसौटी का आधार प्रयोग ही तो होगा ? तो प्रयोग में गांधी पीछे पड़ जाते हैं और मार्क्स-लेनिन आगे बढ़ जाते हैं। आज दुनिया के कई बड़े देशों में मार्क्स-लेनिन के विचारों के प्रयोग-परीक्षण हो रहे हैं। अतः देशी-विदेशी का भाव त्याग कर पहले विचार का प्रयोग-परीक्षण होना चाहिए, तब उसे स्वीकारने या नकारने का प्रश्न उठेगा।

—लेनिन और मार्क्स के विचार के सफलता मिली है तो इसमें मेरे लिये कोई आपत्ति की बात नहीं है। लेकिन ईसा के विचार का क्या हुआ है ? ईशु अपना थोड़ा-सा जीवन जीकर क्रॉस पर खतम हो गए और शायद सौ वर्ष तक उनका कुछ पता भी नहीं चला। लेकिन फिर उनका संदेश यहां से वहां तक फैल गया और रोमन साम्राज्य ध्वस्त हो गया। विचार में भूगोल के देश-विदेशों की बाधा नहीं रहती है। पर स्तर भेद तो रहता ही है। राजनीतिक विचार की आयु विशेष अगर नहीं होती है तो इस पर अचरज नहीं करना चाहिए। वह विचार चेतना के उपयोगितावादी स्तर से आता है। पर प्रेम का उत्स उससे गहरा है, वहां से प्राप्त हुई प्रेरणा अगर अपेक्षाकृत कहीं दूर तक काम करती दीखे तो यह तर्क-संगत ही है। राजनीति में आवेश का अवकाश और उपयोग है, इसलिये वहां की बात जल्दी फल लाती मालूम हो सकती है। पर आवेशों पर जीवनोत्कर्ष नहीं फलता है। आवेश और संघर्ष राजकीय स्तर पर उपयोगी और आवश्यक होते हैं; वहां अधिकार है, सत्ता है और संपदा है। वहां भोग है। पर जहां से इन सब सुविधाओं की सृष्टि है, वहां श्रम है और तप है। भोग ऊपर दीखता है, इसलिये वहां आंखें जल्दी जाती हैं। जड़ों की तरफ कौन देखता है। लेकिन जिसको फल स्वयं खाना नहीं, बल्कि दूसरे के लिये उगाना है, वह तो धरती का ध्यान करेगा और बीज वहां डालेगा। गांधी को मार्क्स और लेनिन की कक्षा में मैं नहीं ले पाता हूँ। वह तुलना किसी प्रकार संभव ही नहीं है। गांधी की प्रेरणाएं राजनीतिक थीं ही नहीं। राजनीतिक परिणाम के तल पर उनको लेना और तोलना असंगत है। बाह्य व्यवस्था में तो फौज-फर्रा लेकर चल पड़ने वाला विजेता भी बेहद उथल-पुथल कर दिखाता है। उसके तात्कालिक प्रभाव पर सबको दंग रह जाना, उसके नीचे झुक जाना पड़ सकता है। पर क्या मानव जाति का इतिहास उस आक्रांता का ऋणी बनता है ? क्या संस्कृति में उस हिंस्र पराक्रम से कोई विकास सधता है ? गांधी का अवदान उस क्षेत्र का है ही नहीं। उनके कार्य का क्षेत्र जन-जन का आत्म चैतन्य है। इसलिये राजनेता या राजनीतिक विचार-नेता के रूप में गांधी की किसी से तुलना करने में तुक नहीं है, अर्थ नहीं है। उस समय के भारतीय राष्ट्रपुरुष या राजपुरुष तो नेहरू-जिन्हा थे। गांधी उस कोटि की गणना में नहीं आएंगे। उनके लिये बुद्ध, ईसा की ओर देखना होगा। जीवन का कम भाग है जो सतह से ऊपर दीखा करता है, अधिक तो भीतर रहता है। सतह से ऊपर दीखा करने के क्षेत्र में वह अन्ततः कहीं

102 / गांधी और हमारा समय

अधिक महत्व का सिद्ध होता है। तत्काल के तल पर यदि दूसरे प्रभाव अधिक परिणामकारक प्रतीत होते हों, तो जो चाहें उसे अधिक मान्यता दे सकते हैं। संसार भागता ही है सांसारिक आकांक्षाओं के पीछे। धन का प्रभाव सतह पर सदा ही अधिक कूता जाता है। लेकिन उससे सृजनात्मक श्रम के मूल्य की सत्यता और मौलिकता झुठलाई नहीं जा सकती और यह निर्विवाद तथ्य है कि सभ्यता जिनकी ऋणी है वे सत्पुरुष सत्ता के नहीं, साधारण ही थे। इसलिए मार्क्स और लेनिन के विचार के प्रभाव के विस्तार पर सब कुछ निर्णीत नहीं मान लेना चाहिये।

मार्क्स-लेनिन के विचार अपर्याप्त

तो क्या मार्क्स-लेनिन के विचार आपको सतही जान पड़ते हैं? क्या वे मानव समस्याओं की तह में नहीं जाते और ऐसा मार्ग प्रशस्त नहीं करते जिससे मानव आर्थिक दासता और शोषण से मुक्त होकर अपना विकास कर सके?

—हां, ईसा और बुद्ध के काम के तल को मैं कहीं गहरा मानता हूँ। इतिहास पर इसलिए उसका परिणाम भी गम्भीर है। मार्क्स और लेनिन के काम और विचार का स्तर सामाजिक था और उसका तल उपयोगिता का है। मानव-जीवन के परिपूर्ण संस्कार का प्रश्न उसमें नहीं समा पाता है। समाज-क्रांति के अभी ही नये-नये सूत्र निकलने लगे हैं और उनकी अपेक्षा में मार्क्सवाद पुराना पड़ता लगता है। लेनिन का कर्तृत्व तो और भी अधिक राजकीय एवं व्यावहारिक सतह का है। उस स्तर पर, यानी संगठक और प्रयोक्ता के तौर पर, वह याद किये जायेंगे। द्रष्टा का दावा शायद उनके लिये नहीं किया जा सकेगा।

आर्थिक असहायता और शोषण साम्यवादी देशों में दूर हो गया है, यह दावा क्या वे स्वयं कर पाते हैं? राज-क्रान्ति हुई है, पर हर आदमी के स्वाधीन चेता और स्वाधीन कर्मी बनने का वातावरण निर्माण हुआ है, यह कहना कठिन है। इसमें उन महानुभावों के काम के महत्व को कम करने की चेष्टा आप न देखें। केवल उस काम के स्तर की ओर संकेत अभीष्ट है।

शोषण का प्रश्न आर्थिक से गहन

तो क्या साम्यवाद में भी शोषण संभव है? तब क्या कोई ऐसा वाद है जो शोषण-मुक्त समाज की रचना कर सके?

—साम्यवाद जहाँ चालू माना जाता है, वहाँ जाकर मालूम कीजिये कि शोषण क्या निर्मूल हो गया है? शोषण दूर कौन करेगा? ऊपर बैठा कोई प्रशासक? तो प्रशासक को शोषक होने से कौन रोकेगा? आप देखें कि अन्त में शोषण का प्रश्न बाहर से हटकर भीतर की अन्तर्वृत्ति पर आ जाता है। वहाँ नीयत में से शोषण समाप्त न हुआ हो और बाहर नियम-कानून और प्रशासन के बल पर हम उसे समाप्त मान लें, तो यह एक तरह

का बहलाव ही होगा। सत्ता-सम्पत्ति के अति केन्द्रीकरण के द्वारा हम मान सकते हैं कि राज्य-शासक अगर सही हों तो शोषण काफी दूर तक दूर हो जायेगा। लेकिन एक तो इस तरह उसकी जड़ें दूर नहीं हुई होंगी, दूसरे शासनपदस्थ व्यक्ति के शासक और शोषक होने की संभावना तब और भी निर्बाध हो जायेगी। इसलिये मैं समझता हूँ कि यह प्रश्न अपनी समग्रता में किसी आर्थिक अथवा राजकीय मतवाद के बस का नहीं है।

सोशलिज्म-कम्युनिज्म अपनी जगह ठीक जान पड़ते हैं, पर हिंसा से काम लेने के कारण वे बीच में अनिवार्यतया एक नियंत्रक वर्ग की स्थापना के लिये अवकाश बचाए रहते हैं। इस प्रकार केन्द्रित राज-सत्ता के लिए सदा एक अवकाश बना ही रह जाता है। कारण, प्रशासन के जोर से अनुशासन की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती। उपाय अतः वही अधिक सार्थक होगा जिसमें सरकारी प्रशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन के मूल्य पर अधिक बल हो। राजनीति और धर्मनीति के दृष्टिकोणों में यही अन्तर है और राज्य-विचार से मैं धर्म विचार को गहरी आवश्यकता और महत्व का मानता हूँ।

शोषक-शोषित का निर्णय और मूल्य परिवर्तन की आवश्यकता

शोषण करने की प्रवृत्ति हर मनुष्य के मन में थोड़ी-बहुत कहीं न कहीं छिपी रहती है। जब और जितना उसे अवसर मिलता है, वह शोषण करके अपने अहं को तुष्ट कर लेता है। शोषण की इस प्रवृत्ति का इलाज कहां और कैसे है?

—यहीं तो सवाल की धार है। अर्थात् हर कोई मान सकता है कि वह शोषित है। पर कृपया वह देखे कि क्या वह शोषक भी नहीं है। अर्थात् हर व्यक्ति अपनी जगह पर शोषक है और शोषित भी है। यानी शोषण का एक चक्र है, रोग है और वह हमारी समाज व्यवस्था की प्रणालियों में रच-पच गया है। बड़ी आसानी से हम अपने को शोषित मान कर समाज में अपने से ऊँचे मानेजाने वाले व्यक्ति पर क्रोध ला सकते और उसे गिराने की चेष्टा में लग सकते हैं। पर ध्यान में नहीं लेते कि कहीं हम स्वयं तो दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ लेकर शोषण का अपराध नहीं कर रहे हैं? हिंसा की और कानून की शक्ति से जब हम शोषण को दूर हुआ मानते हैं तब अधिकांश संभव यह है कि दूर शोषण न हुआ हो, बल्कि शोषक माने गये व्यक्ति के स्थान और नाम में ही परिवर्तन हुआ हो। इसीलिये कहता रहा हूँ कि यह प्रश्न निरे राजनीतिक विचार के पूरे वश का नहीं है। शोषक-हिंसक हम सबके भीतर ही बैठा हुआ है। अवसर पाते ही वह दूसरे में से अपना लाभ ले लेने को लपकता और उसमें पुरुषार्थ और सफलता मानता है। दुनिया में यह सफलता प्रशंसनीय भी बनती है। तो यहीं मूल्यों में परिवर्तन की आवश्यकता है। मूल्य आज सम्पदा और सत्ता के संग्रह का बना हुआ है। धर्म अब वह है जो बताता है कि मूल्य संग्रह नहीं है, असंग्रह अपरिग्रह है। संग्रह में आदमी हर किसी के पास से चीजों को अपनी ओर बटोरता है, लेकिन इसमें वह हर किसी के स्नेह को गंवाता भी

102 / गांधी और हमारा समय

अधिक महत्व का सिद्ध होता है। तत्काल के तल पर यदि दूसरे प्रभाव अधिक परिणामकारक प्रतीत होते हों, तो जो चाहें उसे अधिक मान्यता दे सकते हैं। संसार भागता ही है सांसारिक आकांक्षाओं के पीछे। धन का प्रभाव सतह पर सदा ही अधिक कूता जाता है। लेकिन उससे सृजनात्मक श्रम के मूल्य की सत्यता और मौलिकता झुठलाई नहीं जा सकती और यह निर्विवाद तथ्य है कि सभ्यता जिनकी ऋणी है वे सत्पुरुष सत्ता के नहीं, साधारण ही थे। इसलिए मार्क्स और लेनिन के विचार के प्रभाव के विस्तार पर सब कुछ निर्णीत नहीं मान लेना चाहिये।

मार्क्स-लेनिन के विचार अपर्याप्त

तो क्या मार्क्स-लेनिन के विचार आपको सतही जान पड़ते हैं? क्या वे मानव समस्याओं की तह में नहीं जाते और ऐसा मार्ग प्रशस्त नहीं करते जिससे मानव आर्थिक दासता और शोषण से मुक्त होकर अपना विकास कर सके?

—हां, ईसा और बुद्ध के काम के तल को मैं कहीं गहरा मानता हूँ। इतिहास पर इसलिए उसका परिणाम भी गम्भीर है। मार्क्स और लेनिन के काम और विचार का स्तर सामाजिक था और उसका तल उपयोगिता का है। मानव-जीवन के परिपूर्ण संस्कार का प्रश्न उसमें नहीं समा पाता है। समाज-क्रांति के अभी ही नये-नये सूत्र निकलने लगे हैं और उनकी अपेक्षा में मार्क्सवाद पुराना पड़ता लगता है। लेनिन का कर्तृत्व तो और भी अधिक राजकीय एवं व्यावहारिक सतह का है। उस स्तर पर, यानी संगठक और प्रयोक्ता के तौर पर, वह याद किये जायेंगे। द्रष्टा का दावा शायद उनके लिये नहीं किया जा सकेगा।

आर्थिक असहायता और शोषण साम्यवादी देशों में दूर हो गया है, यह दावा क्या वे स्वयं कर पाते हैं? राज-क्रान्ति हुई है, पर हर आदमी के स्वाधीन चेता और स्वाधीन कर्मी बनने का वातावरण निर्माण हुआ है, यह कहना कठिन है। इसमें उन महानुभावों के काम के महत्व को कम करने की चेष्टा आप न देखें। केवल उस काम के स्तर की ओर संकेत अभीष्ट है।

शोषण का प्रश्न आर्थिक से गहन

तो क्या साम्यवाद में भी शोषण संभव है? तब क्या कोई ऐसा वाद है जो शोषण-मुक्त समाज की रचना कर सके?

—साम्यवाद जहाँ चालू माना जाता है, वहाँ जाकर मालूम कीजिये कि शोषण क्या निर्मूल हो गया है? शोषण दूर कौन करेगा? ऊपर बैठा कोई प्रशासक? तो प्रशासक को शोषक होने से कौन रोकेगा? आप देखें कि अन्त में शोषण का प्रश्न बाहर से हटकर भीतर की अन्तर्वृत्ति पर आ जाता है। वहाँ नीयत में से शोषण समाप्त न हुआ हो और बाहर नियम-कानून और प्रशासन के बल पर हम उसे समाप्त मान लें, तो यह एक तरह

का बहलाव ही होगा। सत्ता-सम्पत्ति के अति केन्द्रीकरण के द्वारा हम मान सकते हैं कि राज्य-शासक अगर सही हों तो शोषण काफी दूर तक दूर हो जायेगा। लेकिन एक तो इस तरह उसकी जड़ें दूर नहीं हुई होंगी, दूसरे शासनपदस्थ व्यक्ति के शासक और शोषक होने की संभावना तब और भी निर्बाध हो जायेगी। इसलिये मैं समझता हूँ कि यह प्रश्न अपनी समग्रता में किसी आर्थिक अथवा राजकीय मतवाद के बस का नहीं है।

सोशलिज्म-कम्युनिज्म अपनी जगह ठीक जान पड़ते हैं, पर हिंसा से काम लेने के कारण वे बीच में अनिवार्यतया एक नियंत्रक वर्ग की स्थापना के लिये अवकाश बचाए रहते हैं। इस प्रकार केन्द्रित राज-सत्ता के लिए सदा एक अवकाश बना ही रह जाता है। कारण, प्रशासन के जोर से अनुशासन की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती। उपाय अतः वही अधिक सार्थक होगा जिसमें सरकारी प्रशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन के मूल्य पर अधिक बल हो। राजनीति और धर्मनीति के दृष्टिकोणों में यही अन्तर है और राज्य-विचार से मैं धर्म विचार को गहरी आवश्यकता और महत्व का मानता हूँ।

शोषक-शोषित का निर्णय और मूल्य परिवर्तन की आवश्यकता

शोषण करने की प्रवृत्ति हर मनुष्य के मन में थोड़ी-बहुत कहीं न कहीं छिपी रहती है। जब और जितना उसे अवसर मिलता है, वह शोषण करके अपने अहं को तुष्ट कर लेता है। शोषण की इस प्रवृत्ति का इलाज कहां और कैसे है?

—यहीं तो सवाल की धार है। अर्थात् हर कोई मान सकता है कि वह शोषित है। पर कृपया वह देखे कि क्या वह शोषक भी नहीं है। अर्थात् हर व्यक्ति अपनी जगह पर शोषक है और शोषित भी है। यानी शोषण का एक चक्र है, रोग है और वह हमारी समाज व्यवस्था की प्रणालियों में रच-पच गया है। बड़ी आसानी से हम अपने को शोषित मान कर समाज में अपने से ऊँचे मानेजाने वाले व्यक्ति पर क्रोध ला सकते और उसे गिराने की चेष्टा में लग सकते हैं। पर ध्यान में नहीं लेते कि कहीं हम स्वयं तो दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ लेकर शोषण का अपराध नहीं कर रहे हैं? हिंसा की और कानून की शक्ति से जब हम शोषण को दूर हुआ मानते हैं तब अधिकांश संभव यह है कि दूर शोषण न हुआ हो, बल्कि शोषक माने गये व्यक्ति के स्थान और नाम में ही परिवर्तन हुआ हो। इसीलिये कहता रहा हूँ कि यह प्रश्न निर्रे राजनीतिक विचार के पूरे वश का नहीं है। शोषक-हिंसक हम सबके भीतर ही बैठा हुआ है। अवसर पाते ही वह दूसरे में से अपना लाभ ले लेने को लपकता और उसमें पुरुषार्थ और सफलता मानता है। दुनिया में यह सफलता प्रशंसनीय भी बनती है। तो यहीं मूल्यों में परिवर्तन की आवश्यकता है। मूल्य आज सम्पदा और सत्ता के संग्रह का बना हुआ है। धर्म अब वह है जो बताता है कि मूल्य संग्रह नहीं है, असंग्रह अपरिग्रह है। संग्रह में आदमी हर किसी के पास से चीजों को अपनी ओर बटोरता है, लेकिन इसमें वह हर किसी के स्नेह को गंवाता भी

जाता है। स्नेह को खोकर चीज को पा लेना पाना नहीं, गंवाना है। यह दृष्टि धर्म ही देता है और वह भोग की जगह त्याग की प्रतिष्ठा करता है। इसलिये वह राजनीति और कर्मनीति परिणाम नहीं ला पायेगी जो धर्मनीति से हीन है। कारण, वह स्थूल नीति केवल परिणाम के आभास को देखती है, प्रेरणा का विचार नहीं करती। अतः वह एकांगी रह जाती है और रचना से अधिक घटना उत्पन्न करके संतोष पा लेती है। समाज के पट पर यदि परिणाम दीखता है, तो प्रेरणा मनुष्य के मन के निभृत में से प्राप्त होती है। इस मानव मन को संस्कार देने से जो सर्वथा उदासीन हो, वह राज-प्रकरण, भला क्या स्थायी लाभ दे पायेगा। इसलिये समाज के बजाय आरम्भ यदि व्यक्ति स्वयं अपने से, अपने परिवर्तन से, कर सके तो अधिक कार्यकारी होगा। आत्म-साधना और चरित्र-निर्माण का अभ्यास इसमें आ जाता है। नेतृत्व के सम्बन्ध में अक्सर अभियोग सुना जाता है कि वह भोग-प्रवृत्त है। ऐसी अवस्था में उस नेतृत्व में स्थिरता कैसे आ सकती है। नैतिक सैंक्शन्स के बिना राजनीतिक सत्ता ज्यों-ज्यों प्राप्त कर लेने से स्थिति संभलती नहीं है, बिगड़ती ही जाती है। समाज की स्थिरता के लिये चरित्र का अधिष्ठान आवश्यक है और चरित्र की दृढ़ता के लिये दृष्टि को लौकिक आकांक्षा से आत्मिक संतोष की ओर अभिमुख रखना अनिवार्य है। इस आन्तरिक मूल्य की प्रतिष्ठा यदि हो चले तो वृत्तियों को संस्कार प्राप्त होगा और शोषण की जड़ें सूखनी शुरू होंगी। हम स्वयं जब दूसरे के सहायक और सेवक होने से आरम्भ करेंगे तो दूसरे में भी हमारे प्रति सहयोग और सद्भाव जायेगा। तब एक दूसरे में से लाभ लेने के बजाय लाभ पहुँचाने की वृत्ति पनपेगी और समाज का आधार प्रतिस्पर्धा नहीं रहेगा, सह-भाव सद्-भाव हो आयेगा।

जीवन में धर्म और युद्ध की एक साथ साधना

पर शोषण और दासता को जन्म देती है राजनीति। तो वह अपने जन्माये को मार नहीं सकती। बच रहा धर्म। आज धार्मिक जन भी शुद्ध धार्मिक नहीं रहे, उन्होंने भी अपने अन्दर राजनीति डाल ली है। बस धार्मिक होने का उनका एक आडम्बर ही होता है। तो कौन निस्वार्थ भाव से राजनीति और सत्ता के मोह से मुक्त होकर लोगों में यह भावना भरे कि वह शोषण की घातक प्रवृत्ति से बचें। न किसी का शोषण करें और न अपना शोषण होने दें। क्या गान्धीवादी ऐसा कर सकेंगे?

—गान्धीवादी कहने से आदमी कोई खास नहीं हो जाता। आप गान्धीवादी पर भरोसा बांधेंगे तो धोखा खायेंगे। यह भी मान लेना चाहिए कि धर्म के क्षेत्र में लोग अधिकतर धर्म से बैसाखी का काम लेते हैं। धर्म उनके लिए वेदी का स्थान नहीं ले पाता जिस पर वे अपना सर्वस्व, अपनी बलि, अर्पित करें। राजनीति जैसी चीज का प्रवेश अगर जीवन में अनिवार्य दीखता ही है तो उससे हटने या बचने की बात भी मैं नहीं कहता। इस द्वैतात्मक जगत में संघर्ष से बचाव कहां है। मेरे पास 'मैं' है तो वह शेष सबके पास

भी है। इस मैं-मैं की अनेकता के बीच बन-अनबन का जाल बुनता ही रहेगा। इसलिये संघर्ष से और राजनीति से जब कि बचाव है नहीं, तब इतना अवश्य हो सकता है कि हम संघर्ष के बाद या विश्वास को स्थान न दें, 'युद्ध' चाहें नहीं सिर्फ झेलें। जीवन कुरुक्षेत्र है, वही इसलिए युद्ध-क्षेत्र और धर्मक्षेत्र भी है। यही जीवन की विचित्रता और जटिलता है कि युद्ध को और धर्म को उसमें साथ-साथ साधना पड़ता है। इस साधना में जीवन का रूप आप ही आप धर्म-युद्ध का हो जाता है।

दूसरों के प्रति क्षमा से हम अपनी धर्म-निष्ठा में दृढ़ रह सकते हैं

आपका प्रश्न दृढ़ लेना चाहता है उसको कि यहां से प्रकाश मिले और बना बनाया समाधान मिल जाय। पर ऐसा कम होता है और उसी में संशय है कि धर्म-आत्म-पुरुषार्थ को जगाना पड़ता है। जिसे आप दृढ़ते हैं अन्त में वह आपको खुद ही बनना है। इस तरह प्रश्न किसी धार्मिक जन का नहीं रह जाता, स्वयं धर्म का हो आता है। धार्मिक माने जाने वाले जनों की त्रुटियां आप स्वयं उनको ही क्यों नहीं सौंप सकते, धर्म पर क्यों उन्हें थोपते हैं! धर्म का विचार कतिपय लोगों के बाने पर निर्भर नहीं होना चाहिए। अतः सबके दोषों के प्रति क्षमा और सहानुभूति का भाव रखते हुए हम अपनी धर्म-निष्ठा में दृढ़ रह सकते हैं। बाहर की ओर से निराशा के सिवा और क्या मिलेगा। पर भीतर हमारे आस्था जगी हो तो स्वयं हमसे दूसरों को आशा मिल सकती है।

त्याग : स्थूल, सूक्ष्म का भेद और व्यवहार की भाषा

आप पायेंगे कि धर्म को राज से और राजनीति से मैंने अलग नहीं किया है। राज के आदर्श के लिए हम भारतीयों के पास आखिरी शब्द रामराज्य है। राम ही यहां भगवान का प्रचलित नाम है। रामराज्य शब्द में ही गर्भित है कि भगवान को उस दुनियां के बीच मानना और पाना है जो राज-काज के द्वंद्व और प्रपंच से भरी है। आखिर तो दर्प-राज्य को धर्म-राज्य का रूप लेना है। इसके अतिरिक्त त्राण दूसरा नहीं है। दुनियां भर के ज्यादातर लोग ईश्वर को विभु और प्रभु मानते हैं, पर कहीं उसके राज का फौज-फर्रा दिखाई देता है? वह राज है तो अन्तर्व्याप्त है। ईश्वर है तो घट-घट वासी है। सबके मन के भीतर से ही अगर चलाता है तो वह अपना राज चलाता है। संसार में धर्म-राज्य हुआ तो उसकी भी वैसी ही व्यवस्था होगी। बाहर में उसका फैला संरंजाम रह नहीं जायेगा और जो प्रशासन द्वारा होता था वह आत्मानुशासन से सहज बन आयेगा। धर्म-राज्य में राज्य और मनुष्य का विरोध तनिक न रहेगा, शक्ति-राज्य में सदा इस विरोध की ही भूमिका रहती है। मान लिया जाता है कि मनुष्य मूल में स्वेच्छाचारी है, इसलिये नियंत्रण आवश्यक है। इस कल्पना और धारणा के नीचे हमारी समाज-व्यवस्था चल रही है और इसमें ऋषि और राजा दो अलग ओर-छोर पर दिखाई देते हैं। धर्म की ऐसी साधना आवश्यक है

जिससे राजा और ऋषि के बीच की धुरी सक्रिय होते होते एकमेव हो जाय। अगर बाहर से प्रकाश आप तक नहीं आता मालूम होता है तो इस स्वप्न की आस्था में से स्वयं आप भीतर उस प्रकाश को जगा सकते हैं, तब मालूम होगा कि वह स्वप्न ही आपका सर्वस्व बनता जा रहा है और छोटे-मोटे स्वार्थ बीच में से आप ही तिरोहित हो गये हैं। स्वार्थों को कोशिश करके छोड़ना नहीं पड़ा है, परमार्थ हाथ आ जाने से सब स्वार्थ उसमें अनायास विलीन हो गए हैं। त्याग की भाषा मुझे स्वयं कम समझ में आती है। मल-त्याग में भला कोई त्याग की याद भी रखता है! त्याग शब्द पर दिया गया बल इसलिये कभी बुद्धि-भेद भी उत्पन्न करता देखा जाता है। आन्तरिक उपलब्धि तो दीखती नहीं है, इसलिये उसकी कीमत में जो बाहरी छूटता है वही ऊपर से दीखने और कहने को रह जाता है। इसलिए हठात् त्याग की स्थूल भाषा वहां आ जाती है। पर भोग-त्याग में से यदि आनन्द-लाभ मिलता हो तो क्या त्याग जैसे शब्द की महिमा अपने में झूठी सी ही नहीं पड़ जाती है? धर्म का अभ्यास अधिकांश अ-कार से आरम्भ होता है—अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि। इसमें निषेध और नकार की ध्वनि आती होगी, वर्जन का स्वर प्रधान दीखता होगा। इसीलिए जो जीवन की अकुंठित स्वीकृति को उपादेय ठहराते हैं, उनकी अभिरुचि उस नकारात्मक धर्म की ओर नहीं होती। किन्तु भाषा की मर्यादा पर रुकने की आवश्यकता नहीं है। नकार वहां उच्चतर सत्कार का सूचक है और ऊपर की वर्जना में भीतर के अधिक मार्मिक का आमंत्रण है। यह दर्शन सुलभ हो सके तो धर्म केवल नीति में ही नहीं रह जाएगा, शक्ति में भी उसका परिणमन प्रगट हो सकेगा। शक्ति का एक पाशव रूप ही प्रचलित धारणा में आता है। किन्तु शक्ति का यह रूप दिव्य होगा—स्निग्ध, पर प्रखर। हम अभी तक जिस शक्ति से अपने जातीय और सामुदायिक व्यापार चलाते हैं, वह द्वंद्वात्मक रहती आयी है। भौतिक क्षेत्र में अब तक वह परिमाणात्मक थी, किन्तु अब हमने अणु-शक्ति को उपलब्ध किया है। उसी भांति मानव-क्षेत्र में गांधी के निमित्त से इस नवीन सामाजिक शक्ति का आविष्कार हुआ है। गांधी अपने समय में धर्म और युद्ध दोनों क्षेत्रों में एक समान व्याप्त रहे। कल ही मैंने आर्थर कोयस्लर का मंतव्य पढ़ा कि गांधी के समान विसंगत पुरुष इन शताब्दियों में दूसरा नहीं हुआ। बात उनकी ओर से व्यंग्य हो, पर उसमें गहन सत्य है। गांधी में लगभग जीवन का समूचा विरोधाभास समा जाता है। और विस्मय यह कि यह विरोधाभास उस व्यक्तित्व की क्षमता को विघटित नहीं, संघटित ही करता है। विरोध है प्रचलित आत्म-जगत और वस्तु-जगत में। गांधी में वह विरोध सर्वथा टूट गया है, मानो सब वहां आत्मवत् है या कहो कि उनके निकट उनका 'स्व' स्वयं वस्तु वस्तुगत है। अर्थात् अपना निजत्व उन्हें काम्य नहीं है, समीक्ष्य और निमित्त है। दूसरे शब्दों में गांधी की दुनियादारी उनकी महात्मागिरी से अलग नहीं रहती। उनका उघड़ा बदन और रूखा रहन-सहन उनकी मुस्कुराहट को और मुक्त हास्य को कम नहीं कर पाया। परिग्रही होते हुए भी करोड़ों-

करोड़ रुपया उनके आदेश पर इधर से उधर आता जाता रहा। कहने का आशय यह कि स्वार्थ-त्याग आदि की भाषा को आप डरावना न समझ लीजिए। वह अव्यवहार की भाषा नहीं है। गांधी के निमित्त से स्वयं राजनीति में उस भाषा का बोलबाला देखा जा चुका है। इसलिए गांधीवादी या दूसरे धार्मिकों की अक्षमताओं पर आप प्रश्न को स्थगित न मान लीजिए। गांधी ने दावा किया कि कोई भी विशिष्टता और अलौकिकता उनमें नहीं है, जो उनके साथ सिद्ध हुआ वह हर किसी को भी क्यों नहीं सध सकता। मैं मानता हूँ कि धर्म सबके उपयोग के लिये खुला है और उसकी संभावना धार्मिक या नैतिक माने जाने वाले वर्ग में बन्द नहीं है।

जन युगीन पुरुषार्थ को चुनौती

पर मुझे लगता है कि यह काम सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं। उसके अन्दर वह सूझ-बूझ, वह आन्तरिक बल, वह प्रेरणा, वह भावना कहां से आएगी जो इस महान कार्य के लिए निमित्त बन सके इसके लिए तो संस्कार और क्षमता-सम्पन्न दैवी पुरुष ही योग्य हो सकते हैं। सम्भवतः ये संस्कार उन्हें पूर्व जन्म से मिले होते हैं। महावीर, बुद्ध और गांधी में वही संस्कार रहे होंगे जिनसे वे मनुष्यता से ऊपर उठ गये।

— क्या सवाल को आप अपने से टाल दें और मैं अपने से उसे हट जाने दूँ, यह कह कर कि वे जन पूर्व जन्म के संस्कार लाए थे और हम साधारण हैं और बस कुछ नहीं किया जा सकता है। जी नहीं, ऐसे अपनी मनुष्यता को इंकारे का हक किसी को नहीं है। हर किसी के पुरुषार्थ को चुनौती है और बहाना यहां नहीं चल सकता। सच पूछिये तो यह साधारण आदमी का ही युग है। विशिष्ट जनों का जमाना गुजर गया। यह साधारण आदमी है जिसका मत ही आज किसी को विशिष्ट बना देता है। यही है जो मिलकर क्रांति करता और तख्त पलट देता है।

राजकीय शब्द-जाल में नहीं, मनुष्य में विश्वास की आवश्यकता

आप कहते हैं कि स्वार्थ त्याग उस आदमी के वश का नहीं है। मैं कहता हूँ कि आम आदमी ही है जो अपनी जगह पर मेहनत करता हुआ रूखा-सूखा खाकर भी पारिवारिक जनों के लिए जी रहा और खट रहा है। इसमें आप त्याग नहीं देखेंगे? मैं कहता हूँ, साधारण आदमी के त्याग के इसी पुण्य-बल से हम जी रहे हैं। राजनीतिकों की नारेबाजी और अखाड़ेबाजी हमें भरमा देती हो कि सब कुछ यहां स्वार्थ और खुदगर्जी ही है, सब कहीं सत्ता की लिप्सा और भोग की आकांक्षा है, तो यह बात सही नहीं है। बल्कि समझा जाने वाला वह विशिष्ट वर्ग ही है जहां आपको यह अंधेर मिलेगा, साधारण जन में तो उस धर्म की, त्याग की, सहिष्णुता की क्षमता अधिक ही मात्रा में पायी जाएगी। राजनीतिकों के शब्द-घोष ने जनता के मस्तक को चकरा रखा है, वहां बहुत बकवाद

और व्यर्थवाद है। वहीं से या तो दल बांधकर उद्दाम आन्दोलनों को उठाया जाता है, या घोर निराशा और असहायता को अपना लिया जाता है। पर यह दोनों मनोदशाएं रचनात्मक नहीं हैं और व्यक्ति को अपने तात्कालिक स्वधर्म से च्युत कर देती हैं। राजकीयों के शब्द-जाल में सहारा ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। उस व्यर्थता के क्षेत्र से बाहर आकर हम मनुष्य में विश्वास स्थापित कर सकेंगे तो निराशा की जगह नहीं रह जाएगी। साधारण मनुष्य ने कभी इतिहास को धोखा नहीं दिया है। ये तो मानी-अभिमानी जन हैं जो स्वयं बहकते और औरों को बरगलाते हैं। उस कोरी बुद्धिवादिता के तल पर आशा-निराशा के झोंके आते ही रहते हैं, पर सामान्य मनुष्य धरती में अपना पसीना डालता है और सब मुसीबतों के बावजूद उगाता-बनाता चला जाता है। उसी के बलबूते ऊपर वाले सुभीते में रह कर अपनी गम्पाष्टक हांकते रहते हैं। इसलिए कहता हूं कि विशिष्ट जनों के पास से अविश्वास का कारण चाहे आपको मिल भी जाए, पर सामान्य जन में आप सदा विश्वास रख सकते हैं। कारण, वह काम में इतना रहता है कि शब्द में उड़ नहीं जाता।

आत्म-शक्ति का परिज्ञान और अस्तित्व का प्रश्न

जब आप साधारण जन में इतनी आस्था रखते हैं तो क्या बात है कि साधारण जन को अपनी इस असीम शक्ति पर विश्वास नहीं होता और वह अपनी सहायता के लिए किसी दूसरे की शक्ति और क्षमता पर निर्भर करता है? क्या परावलम्बन की यह वृत्ति और हीन भावना उसके अन्तर्मन में बैठी किसी कुण्ठा का परिणाम है? यदि हां, तो उसका इलाज क्या है?

—साधारण आदमी को हमारी समाज व्यवस्था ने अस्तित्व के प्रश्न से घेर दिया है। जीविका जुटाने में वह पूरा खर्च और खत्म हो जाता है। लाखों-लाख फिर ऐसे हैं जो मेहनत की तैयारी रखकर भी अपने हाथ के लिए कोई काम नहीं जुटा पाते, बेरोजगार और बेदरकार बने रहते हैं। जीवन रखने-रखने में जिसको बीत जाना पड़ता हो, उस जन पर ही क्या आप इसके लिए दोष डालना चाहेंगे कि क्यों वह अपनी संभावनाओं को खिला नहीं पाता है? दोष उस आदमी का नहीं है, हमारा है जो उस पर लदे बैठे हैं और उसे उबरने नहीं देते। हमारी कार्यवाही, हमारी योजनाएं, राहत की हमारी सब कर-धर उस तक पहुँच ही नहीं पाती हैं जो सबके नीचे पड़ कर पिस रहा है। बीच में जाने कितने प्रशासनिक स्तर हम खड़े कर लिया करते हैं और योजनाओं में राहत के लिये सुरक्षित रखा गया धन, और शुभाकांक्षा वाला मन इन्हीं स्तरों पर खर्च हो जाता है। नीचे का आदमी बस टकटकी लगाये बड़े वचनों और घोषों की याद करता है और बड़े लोगों की सफाई देखता रह जाता है। इस साधारण आदमी को जीने का और जागने का मौका तो दीजिए। आपकी अर्थ-एवं व्यवस्था की प्रणालियों का चक्कर उसे सांस तक तो लेने नहीं

दे रहा है, फिर भी उससे आप अपेक्षा किये ही जाते हैं। गनीमत है कि तो भी वह अपने बस भर कुछ न कुछ उगाने बनाने में ही लगा है। लेकिन अब कुछ पढ़े-लिखे बेरोजगार उठे हैं, काफी वे भी उनमें शामिल हैं जो यों खाते-पीते हैं लेकिन समाज-व्यवस्था से खिन्न हैं। ये लोग वैधानिक और संसदीय तरीकों से अघा गये हैं। वे देखते हैं कि विधायक जन संसदादि में पहुंच कर अपनी चिन्ता विशेष करने लगता है, शेष औपचारिक रह जाता है। तो ये लोग साधारण आदमी को सिखा-बता रहे हैं कि तुम उठ सकते हो और जीने के अपने उस अधिकार को जबर्दस्ती छीनकर पा सकते हो जिससे तुमको वंचित कर दिया गया है। ऊपर बैठा राजनीतिज्ञ इन क्रांतिवादियों से व्यग्र भी हो आया है। मानना होगा कि कोरमकोर इस क्रांतिवाद से साधारण व्यक्ति अपने पद पर नहीं आ जाएगा। क्रांति उस ढंग से जो होगी, जन-क्रांति न हो पाएगी, राजक्रांति मात्र होकर ही रह जाएगी। लेकिन जो कहना है वह यह कि साधारण मनुष्य की सम्भावना में विश्वास रखकर ही क्रांतिवादी अपना काम कर पाता है। विश्वास और भी गहरा हो, मूल क्रांति की भावना के साथ रचनात्मक मनोभूमिका भी हो, तो आप देखेंगे कि ये धूल-मिट्टी लगने वाले लोग ही सोना बनकर चमक आते हैं। पर हो यह कहां से? कृत्रिम परिस्थितियों से तो देश को जकड़ डाला गया है। अंग्रेजी में यहां का राज चलता है जिसे कुल एक-डेढ़ प्रतिशत समझ पाते होंगे। निन्यानवे प्रतिशत का जिसमें सीधा योग न हो, उस जनतंत्र में यदि सच्चे जन-जीवन का सामर्थ्य प्रगट न होता दीखे तो इसमें क्या विस्मय? मैं मानता हूँ कि इस देश की कोटि-कोटि धर्मप्राण जनता को अपने विश्वासों और संस्कारों के अनुसार जीना मिले तो अपूर्व शक्ति वहां से प्रकट हो सकती है। नगरों का जीवन आर्थिक स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा से, अर्थात् सब प्रकार के छल-प्रपंच से अटा पड़ा है। फिर भी देहाती भारत में अतिथि का सत्कार है और एक दूसरे के काम आने की वृत्ति शेष है। अमीर चाहे हर दूसरे में से अपना लाभ खींच लेने की लालसा में जीता हो, पर गरीब अब भी अपनी रूखी-सूखी मिल बांटकर खाने को तैयार है। इस मूलगत धर्म-वृत्ति को आप कुछ कम कीमती पूंजी न मानिये। प्राण-चैतन्य की इसी पूंजी से अगर काम लेना आ जाए तो आज भी देश जीता-जागता उठ आ सकता है। पर पूंजी तो हमने बस सिक्के में बन्द मान ली है। इसलिए अपनी जन-संख्या हमें अपने ही लिए बोझ मालूम होने लगती है। आदमी यदि अपने में स्वयं मूल्य बन आता है, जो कि वह है, तो देश की बढ़ी-चढ़ी जनसंख्या उसकी अपार पूंजी सिद्ध हो सकती है। गलती हमारे हिसाब की है जिसने आदमी को धन के बजाय ऋण बना डाला है। आप पूछते हैं, क्या होना चाहिए? मैं कहता हूँ कि मुद्रा के मूल्य को घटना और मनुष्य के मूल्य को बढ़ना चाहिए। दिमागियत मनुष्य को अपने हिसाब-किताब से बाहर और किनारे छोड़ जाती और जाने किन आदर्श के अंकों को लपक लेना चाहती है। रोग यह है और राजनीति इससे ग्रस्त है। दिमाग वहां पैना धारदार हो गया है। राजनीतिक के पास प्रखर बौद्धिकता है, इससे

वहां सहृदयता संगत नहीं रहती है। उनके आपसी दिमागी दाव-पेंचों को साधारण आदमी भूला और चकित सा देखता रह जाता है। होता सब कुछ जनता के नाम पर है, पर काम नेता के आता है। इसीलिए कहता हूँ कि कर्मनीति में धर्मनीति का प्रवेश आवश्यक है। अर्थात् उसके कलेवर के लिए सहृदयता का स्पर्श अनिवार्य है। तब आदमी उपकरण और साधन मात्र नहीं रह जाएगा, वह साध्य का स्थान ले जाएगा। तब नेता उसकी हितकामना में उठते-उठते मालिक और हाकिम नहीं बन जाएगा, बल्कि उनके बीच, उनके समान, सेवक बनकर रहने में सार्थकता अनुभव करेगा। उसको ध्यान होगा कि वह खुद सिर्फ बोलता-बताता ही तो है, करते-धरते सब ये सामान्य जन हैं। इसलिए पहले वे हैं, बाद में ही वह स्वयं आता है। वह अनुभव करेगा कि यथार्थ में वह उपजीवी है और इसलिए कर्मियों के सिर पर बैठने का उसे हक नहीं आता है। वह देखेगा कि साधारण जन का जीवन-मान उठता जाता है, जब कि साथ स्वयं उसका अपना मान घटता जाता है। आज कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रक्रिया उल्टी है। लोक-सेवक अपना मान इतना बढ़ा ले गए हैं कि साधारण जन अपने को मानहीन ही नहीं, पग-पग पर अपमानित भी अनुभव करते हैं। सोचिये आप ही कि ऐसी हालत में उनकी संभावनाएं जागें तो कैसे जागें।

मूल्य-परिवर्तन के लिये विशिष्ट वर्ग सामान्य बने

आज ठीक यही स्थिति है। पर साधारण जन की संभावनाओं को जगाने के लिए कौन पहल करे? अब तक परम्परा से चली आयी नेतागिरी साधारण जन की संभावनाओं को जगा नहीं सकती। क्योंकि फिर उसकी नेतागिरी टिकेगी कैसे? साधारण जन में से कोई निकलता भी है तो वह भी अपना मान आगे कर लेता है, तब साधारण जन की इस मूल समस्या का समाधान क्या हो?

—ठीक बात है। पहल की अपेक्षा साधारण जन से करना अन्याय होगा। वह तो दीन है, हीन है और त्रस्त है। इसलिए अपेक्षा विशिष्ट वर्ग के उन तत्त्वों से ही की जा सकती है जो समझ आए हैं कि उनकी विशिष्टता निरी प्रवंचना है और वे चोरी के, अपहरण के अपराधी हैं। यह दर्शन सुलभ किया जाना चाहिए। यही सत् और सम्यक् दर्शन है और यह दर्शन प्राप्त होने पर भौतिक सुख-संपदा की चाह पर अपने आप भीतर से अरुचि की रोक आ जाएगी। अर्थात् ये तत्व जान-बूझकर विशिष्ट वर्ग से उतरकर नीचे आने में ही श्रेय देखेंगे और मानो स्वयं डि-क्लास हो आएंगे। इनका रहन-रहन सादा बनेगा और बोल-चाल लोक भाषा की होती जाएगी। जीवन की शहरी होड़ और दौड़ से वे बाहर आएंगे और ग्राम-जीवन की ओर इन में अभिमुखता जगेगी। आराम और ऐश छोड़कर ये स्वेच्छा से मेहनत को अपनाएंगे। इस तरह अपनी जगह वे समर्थ बनेंगे कि अधिकारियों की चापलूसी में न चलें, बल्कि आवश्यक हो तो जनहित की ओर से उन्हें

उनके कर्तव्य के प्रति आगाही और चेतावनी भी देते रहें। इसमें खतरा है, लेकिन वे खतरे से बचेंगे नहीं और अपने ऊपर आप कष्ट को स्वीकार करेंगे। अधिकारियों का कोप उन्हें न्याय के पग से डिगाएगा नहीं। विशिष्ट जन के साथ ऐसा कुछ बीतता दीखेगा तो उसका प्रभाव जनमानस पर होगा और समाज का अन्तःकरण जागेगा। शनैः-शनैः इस प्रकार लोकमानस में मूल्य-परिवर्तन आएगा और सत्ता और धन के कारण माने गए वर्ग-विशेष का आतंक मन पर से दूर होने लगेगा। साधारण जन के ऊपर आया बोझ हटना शुरू होगा और उसका मन उभरेगा। यह सब कल्पना या अनुमान की बात नहीं है। एक बैरिस्टर गांधी के अपने विशिष्ट स्थान से इच्छापूर्वक उतर आने और जन साधारण के साथ एकमेक हो जाने के प्रयत्न ने राष्ट्र के जीवन में क्या काया पलट न ला दिया था! उस एक गांधी की अटूट श्रद्धा और तत्पर आचरण ने मोतीलाल नेहरू और सी०आर० दास जैसे चोटी के सम्पन्न और दर्पी पुरुषों के चित्त को बदलकर उनमें सामान्य बन जाने की स्पृहा जगा दी थी। पर वह इतिहास है और स्वराज्य के बाद के इन 24 वर्षों पर मन जाता है तो बड़ा कष्ट होता है। कांग्रेस नेता हैं, कुछ तो तब के बचे खुचे भी हैं, फिर भी एकदम मूल्य-विपर्यय हो गया है। कारण, एक भी तो ऊंचा कांग्रेसी नेता ऐसा नहीं बचा जो गांधी की सलाह मानकर हुकूमत पर जाने की बात से इनकार कर देता और सेवा में ही अपनी सार्थकता मानता। वहां तो सब वी०आई०पी० बन निकले और बेचारा साधारण जन उनके कारण और भी नगण्य बन गया। मैं मानता हूँ कि जीवन की सच्ची सार्थकता का वह महत् दर्शन हमारी आंखों के सामने से लुप्त बन गया है। कहीं-कहीं इस-उस खेमे की भाषा में उसकी झांकी मिल भी जाती है, लेकिन लोक व्यवहार में से वह एकदम गायब है। केवल शब्दों के बल से शायद उस दर्शन को जगाया नहीं जा सकता है। आवश्यक है कि उसके पीछे लगन, अर्पण और बलिदान भी हो। अर्थात् सामान्य जन-जागरण के लिए पहल का और अभिक्रम का दायित्व उन पर आता है जो सत्ता में ही सत्य को देखकर नहीं रुक जाते हैं, बल्कि उसे पार भी देखते हैं। इसलिए जनता का उपयोग भर वे नहीं कर लेना चाहते, बल्कि उसके हित में सिंच जाने को तैयार हैं। उग्र क्रांतिवादी भी कुछ तो जन-चैतन्य जगाएगा पर राजनीति के काम आ जाने के कारण उस जागरण में शीघ्र ही प्रतिक्रिया हो निकलेगी। उसकी लहर पर बने नए प्रशासक के लिए वह जनस्फूर्ति और जनचेतना ही बाधक बनेगी और मालूम होगा कि क्रांति अन्त में ऊपर एक तानाशाह को बिठा कर चुक गयी है। किन्तु सत्ता के बजाए सेवा को ही मूल्य स्वीकार करने वाले जन की क्रांति राज-परिवर्तन पर ही नहीं रुक जाएगी, वह उस साधारण मनुष्य को आत्मस्थ बनाने में समर्थ होगी। वह समय होगा जब राष्ट्रातीत मानव जाति की एकता का परिच्छेद खुलना आरम्भ होगा और राष्ट्र आपस में डरेंगे नहीं, सहयोग करेंगे।

समाजवाद, साम्यवाद से अगला कदम अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

लेकिन यह यज्ञ और तपस्या का मार्ग है। इसमें अपरिग्रह है। तो क्या इसका अर्थ यह है कि परिग्रह ने ही सामान्य जन की संभावनाओं को अवरुद्ध कर रखा है? यदि हां, तो क्या अपरिग्रह सबके लिए व्यावहारिक बन सकेगा?

—नहीं, अपरिग्रह शब्द से भय खाने की जरूरत नहीं है। जैन मत उस शब्द को तर्कान्त पर ले गया और मुनि को वहां दिगम्बर तक हो जाना पड़ा। इससे जन-सामान्य में उस शब्द से अनायास घबराहट होने लगती है। पर अपरिग्रह तो जीवन-धर्म है, इसलिए व्यवहार का धर्म भी वही हो सकता है। कम्युनिज्म तो ईश्वर और धर्म दोनों ही शब्दों से परहेज करता है, लेकिन उसने भी संग्रह वृत्ति पर प्रहार किया और अपरिग्रह की शिक्षा एक तरह कानूनन आवश्यक कर दी। रक्त शरीर में जैसे बहते रहने के लिए हैं, वैसे ही समाज-शरीर में द्रव्य को निरन्तर बहते रहना है। कहीं रुकता और ठहरता है तो वह रोग का कारण है। आवश्यक है वह हृदय जो कि मलिन को ले और अपनी प्रक्रिया से स्वच्छ करके उसे फिर अपने नियत संचार पर भेज दे। यह बात शास्त्रीय या सैद्धान्तिक नहीं है बल्कि समाज-वैज्ञानिक है। सोशलिज्म का सार-आशय भी अपरिग्रह ही है। अगर वह सार भीतर नहीं है तो सोशलिज्म मात्र कानूनी लिफाफा होकर अपने में थोथा रह जाने वाला है। राजनीतिक सोशलिज्म-कम्युनिज्म में हमारी वृत्ति ऊपर वाले को देखती और बराबरी के लिए उसे कम करने की सोचती है। अपरिग्रह में नीचे वाले पर ध्यान जाता और उसकी सहानुभूति में परिग्रह के परिहार की चेष्टा रहती है।

अन्तःप्रेरणा से अपरिग्रह नहीं आएगा तो संग्रह की असामाजिक मात्रा को ऊपर से लाई गयी बाध्यता के सहारे तोड़ना और मिटाना आवश्यक होगा। वह प्रक्रिया थोड़ी बहुत लगभग सब कहीं अपनायी जा रही है। पर वहां अपरिग्रह के साराशय की सावधानी न रहने के कारण उस प्रक्रिया से संस्थागत सम्पत्तिवाद और राज्यगत सत्तावाद बढ़ता देखा जाता है। सोशलिज्म-कम्युनिज्म आदि का यह खतरा प्रगट है। अपरिग्रह की धर्मरूप स्वीकारता में अमुक संस्था अथवा समाज के नाम पर भी सत्ता-सम्पत्ति का संचय समान भाव से वर्जनीय ठहरता है। इसलिए मैं मानता हूँ कि समाजवाद-साम्यवाद आदि से अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप का विचार अगला और अनिवार्य कदम है।

तप-त्याग अपरिग्रह नहीं

अपरिग्रह में तप-त्याग की आवश्यकता आज इसलिए मालूम होती है कि हमारी समाज-व्यवस्था पूंजीवादी है। साम्यवाद को भी पूंजीवाद रोग के कीटाणुओं से मैं बरी नहीं मानता हूँ। राज्य-सत्ता में केन्द्रित होने से पूंजी का वाद या लोभ सामान्य व्यक्ति के मन में से ढीला या निर्मूल नहीं हो जाता है। इसलिए साम्यवादी माने गए देशों में भी अपरिग्रह का सिद्धान्त-सूत्र कठिन और तपोमय प्रतीत हो सकता है। पर वास्तव में

अपरिग्रह का आशय है परस्पर सशंक सम्बन्ध का विनाश, और विश्वस्त संबंधों का आरंभ। पड़ोसी से बढ़-चढ़ कर रहना मैं अपने लिए आवश्यक मानूँ तो परिग्रह बटोरना मेरे लिए स्वाभाविक और अनिवार्य हो जाएगा। पर अगर मैं पड़ोसी में आश्वस्त बनता हूँ, शेष समाज के प्रति भी संशयाकुल होने की आवश्यकता से मुक्त बन पाता हूँ, तो संचय मुझे वृथा बोझ मालूम होने लगेगा। इसमें तप-त्याग की बात भला कहां आवश्यक आती है। जो सबका बनता है उसे सब जगह आश्वस्तता रहती है। फिर चिन्ता का या चीज का बोझ वह किसलिए ढोए?

सद्भाव में से अपरिग्रह स्वयं फलित

परिग्रह का संग्रह आखिर होता क्या भरने के लिए हैं? भीतर कोई अभाव रहता है, उसको ही तो बाहर की चीजों से भरा जाता होगा। अगर सद्भाव से हम भरपूर हों तो अभाव वह रहेगा कहां जिसे भरने का प्रश्न उठे। अर्थात् सद्भाव में से अपरिग्रह आप ही आप फलित होता है। इसमें किसी बड़ी संकल्प-शक्ति या व्रत-प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। अपरिग्रह तो वैसी ही अनिवार्यता से जीवन में खिल आएगा जैसे पौधे में से फूल। ऐसे अपरिग्रह जीवन की सफलता और परिपूर्णता का द्योतक है, न कि किसी कृच्छ्रता या बलात्कार का। यह सही है कि जहां अभाव का बोध हो वहां से अपरिग्रह की आशा दुराशा ही नहीं, वरन् अदया है। अभाव पीड़ित के पास इसलिए उस शास्त्रोपदेश को ले जाना एक तरह की हृदयहीनता भी हो सकती है। वहां तो पहले अन्न और द्रव्य को पहुंचाना ही धर्म है।

वैषम्य को दूर करना है, वैविध्य को नहीं

निश्चय ही धन का जहां-तहां रुक जाना व्याधि उपजाता है। उस अवरोध और संग्रह के द्वारा भोगैश्वर्य की कामनाओं का, अथवा दर्पमान की वासनाओं का उदय होता है। यहीं से सामाजिक व्याधि का सूत्रपात होता और चेतना से सहज ऊर्ध्वारोहण में बाधाएं खड़ी होने लगती हैं। असल में आर्थिक विषमता को दूर करने की अनिवार्यता भी उसी मानवीय कारण से है। अन्यथा चींटी और हाथी के खाद्य के परिमाण में क्या किसी समता की मांग की जा सकती है?

समाज में विविधता रहेगी और तारतम्य भी रहेगा। चौपट समानता की स्थिति मानवीय नहीं हो सकती, गणितीय और वैज्ञानिक भले जितनी हो। इसलिए साम्य कोई अन्तिम साध्य नहीं हो सकता। विषमता वह दूर करनी है जो चैतन्य को कुण्ठित करती है। वैविध्य की उस मात्रा को तो रखना है जो नानात्व की वर्णच्छटा को संभव बनाये और परस्परता में स्नेह के संचरण को आवश्यक और द्रुत करे। वह समाज जिसमें बुद्ध के समान स्वेच्छा से कोई भिक्षु भी न हो सके भाग्यवान नहीं समझा जा सकता। समाज में

संन्यासी भी होगा जो कुछ न लेने और न रखने का आग्रह रखेगा, साथ ही वैश्य स्वभाव का व्यक्ति भी हो सकेगा जिसमें लाभ की प्रेरणा रहेगी और जो उस प्रेरणा के कारण उद्यमी और समाजोपयोगी होगा। अपरिग्रह के समाज-धर्म और समाज-मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर वैश्य वर्ण के इस व्यक्ति का किंचित् संग्रह और संचय समाज के लिए आपत्ति उत्पन्न नहीं करेगा, बल्कि समाज जीवन के निमित्त वह एक आवश्यक व्यापार की पूर्ति करने वाला ही होगा। यह समाज का चित्र चाहे उतना वैज्ञानिक न प्रतीत हो, पर वह हार्दिक और सहज है और मुझे निश्चय है कि हमें उसी दिशा में बढ़ना है। वह प्रगति राजनीतिक मतवादों के सहारे नहीं हो सकती। उसके लिए अधिक गंभीर और गहरे जीवन दर्शन की आवश्यकता है। धार्मिक प्रयत्न उसी गहराई की ओर जाते रहे हैं और यद्यपि वहां काफी संदिग्ध तत्वों का सम्मिश्रण हो गया है फिर भी उस स्रोत की प्रेरणाओं से लाभ लेने से विमुख बनने की मूर्खता में नहीं पड़ना है।

गांधी की आस्था

गांधी-विचार से आप शतप्रतिशत सहमत हैं ?

—विचार आस्था और स्थिति के मेल से बनता है, वही उपयोगी होता है। स्थितियां सदा बदलती रहती हैं, इसलिए विचार के क्रियमाण रूप में भी अन्तर आ सकता है। लेकिन उनकी मूल आस्था से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। उनका आस्तिक्य परिपूर्ण था। मुझे वह आस्तिक्य सर्वथा मान्य है, पर मेरे साथ वह बेहद अधूरा है। इसी कारण दूसरे कुछ अन्तर भी हो सकते हैं, लेकिन उन्हें अविचारणीय मानना चाहिए।

वह अन्तर क्या है ? जब अन्तर है तो विचारणीय क्यों नहीं होना चाहिए ?

—अन्तर यही है कि मैं मोहनदास कर्मचन्द गांधी नहीं पैदा हुआ हूँ। अविचारणीय वह अन्तर इसलिए है कि मैं भी उन्हीं के समान मनुष्य हूँ और जन्म कुल या सन् संवत् का भेद मौलिक नहीं है।

व्यावहारिकता का प्रश्न

आज की परिस्थिति में क्या गांधी-विचार कारगर हो सकता है ?

—अवश्य हो सकता है। बल्कि वही है जो सही तौर पर और सही दिशा में कारगर हो सकेगा। मूल कारण यह कि दूसरे विचारों में मनुष्य और उसके संबंध पीछे रह जाते हैं, पदार्थ का हिसाब पहले आ जाता है। तात्कालिक रूप प्रश्नों का आर्थिक होता है और अन्यान्य विचार उसी के आस-पास गुंथे हुए रहते हैं। उनका जोर उत्पादन बढ़ाने पर होता है और इस प्रकार संपदा का संवर्धन परम अभीष्ट हो रहता है। उत्पादन की विधि-प्रविधि में जो आपसी संबंधों में विष और वैषम्य देखे-अनदेखे उपजता रहता है, उसका प्रश्न या तो गौण माना जाता है या फिर अलग से उस संबंध में सामाजिक न्याय का प्रश्न

उठाया और सुलझाया जाता है। सोशलिज्म, कलेक्टिविज्म, कम्युनिज्म आदि-आदि वाद, विचार उसी दिशा में फलित हुए हैं। उत्पादन बढ़ते जाने पर यदि वितरण का अथवा न्याय और साम्य का प्रश्न पैदा होगा तो राज्य के द्वारा उसको इस या उस तरह से हल कर दिया जाएगा। यों सोचकर मानव-बुद्धि उन विचारों के निर्देश-आदेश के फलस्वरूप मशीनी उत्पादन और राजकीय केन्द्रीकरण पर आ टिकती है। गांधी-विचार इस सब चक्कर से आजाद है। क्योंकि मनुष्य को वह प्राथमिकता देता है और मनुष्य वह है जिसके घट में राम बसता है। अर्थात् मनुष्य की अखण्डता 'इनवायोलेबिलिटी ऑफ द इन्डीविजुअल' उनके लिये सर्वोपरि मूल्य है। अहिंसा के सिद्धान्त का यही आशय है। उस विचार में से सामुदायिक, सामाजिक अथवा सार्वजनिक जीवन-व्यवहार का जो सूत्र प्राप्त होता है वह यह कि उत्पादन और वितरण आदि का प्रश्न, यों कहिए कि समस्त व्यवस्था और समस्त अर्थ व्यापार का प्रश्न, अहिंसा की आस्था के अनुकूल निर्धारित हो। उत्पादन का प्रकार वही हो सकता है जो अहिंसा की व्याप्ति में से निर्दिष्ट हो और वितरण की पद्धति भी तदनुकूल ही हो सकती है। इसमें मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं के मशीनी और थोक उत्पादन के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाता। इस जीवन-व्यवसाय अथवा अर्थ-व्यापार की नीति द्वारा मुद्रा धन में से काफी मात्रा तक शोषण शक्ति का निरसन हो जाएगा। पैसे पर जो आदमी खरीदा-बेचा जाने लगता है सो वह शर्मनाक दृश्य जड़ से असंभव बन जाएगा। कल-कारखानों से किए गए प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन से मुद्रा की शक्ति बढ़ेगी मनुष्य की घटेगी। मुद्रा की अंक-संख्या भी गुणानुगुणित होती जाएगी और आदमी सर्वथा उसके नीचे ढक जाएगा। इसमें चतुर पुरुषों की दृष्टि और वृत्ति उस धन सत्ता के ऊपर जा पहुंचने पर लगी रहेगी, धर्म नीति का हास और राजनीति का बोल-बाला होना और मानव-चरित्र परमार्थ से विमुख स्वार्थ की लगन में ही बीता करेगा। मानव इसमें दिव्यता की ओर उठने के बजाए दनुजता में गिरेगा और युद्ध अनिवार्य होकर विकट से विकट बनेगा। यह ढंग आदमी को आदमी के विरोध में डाल देगा और सामंजस्य और सहानुभूति के सूत्र उस कारण बीच में से शिथिल बनेंगे। उसी विचार के आधार पर हमारी आधुनिक सभ्यता और सम्पन्नता खड़ी हुई है और गांधी विचार उस मूलाधार को ही अस्वीकार करता है। वह आर्थिक के लिए पारमार्थिक दृष्टि को ही संगत और उचित मानता है और उस नाते आपसी रहन-सहन की विधि को जटिल बनने देने के बजाय सहज और निश्छल बनाए रखने पर बल देता है।

सम्यक् दर्शन का उदय

जीवन की जटिलता निश्चय ही विकास के साथ बढ़ती जाने वाली है, पर शर्त यह कि जटिलता का स्तर उठे, वह दैहिक से उत्तरोत्तर मानसिक, अतिमानसिक और धर्मनीतिक होती जाए। मनुष्य की चिन्तना आदि पदार्थों में ही लिपटी रह जाती है तो

इसको सही विकास का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसलिए विकसित मनुष्य को गांधी-विचार अपरिग्रही के रूप में देखने का दावा करता है। जो अपने लिये बटोरता और बटोरता ही चला जाता है, वह मनुष्य विकसित मानव का प्रतीक नहीं माना जाना चाहिए। धन का बटोरना सत्ता के बटोरने से दूर और पृथक् नहीं है, बल्कि सत्ता की लिप्सा में स्वमान को और भी केन्द्रित देखा जा सकता है। इसलिए गांधी-विचार धर्मनीति के अभाव में राजनीति को एक निरा जंजाल ठहराता है। उस विचार का आग्रह है कि राजनीति की प्रेरणा धर्मनीतिक हो सके तभी त्राण है अन्यथा राजनीति मानव संबंधों में हिंसा का विष उपजाती और भरती रहती है। इस प्रकार युद्ध की विभीषिका से वह राजनीति मानव-मस्तिष्क और मानव-चिन्तन को त्रस्त और आवृत्तांत रखती है। मनुष्य इसकी विकलता और आकुलता में अपने सिरजनहार की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता और पदार्थों में ही लिपटा रह जाता है। यदि हम प्रभुता आत्मा की मानें और देह के अस्तित्व को आनुषंगिक ही स्वीकार करें तो दैहिक भोगोपभोग के साधन बढ़ाते जाना हमारा लक्ष्य कभी न होगा। बल्कि समझदार मनुष्य समझा जाएगा वह, जो इस सारे परिग्रह-प्रपंच से मुंह मोड़कर यथावश्यक से अधिक पाने का मोह न करेगा और यथासाध्य सब जन की सेवा और हित में अपने को अर्पित और उत्सर्गित किए रहेगा।

आप देखेंगे कि यह गहरी पकड़ मात्र लौकिक मतवादों में नहीं मिल पाती। वे इसलिए मनुष्य के साथ पूरा न्याय करने में अक्षम रह जाते हैं।

आप यह भी देखेंगे कि यदि हममें सम्यक् दर्शन का उदय हो पाता है तो समूचा दृश्य बदल जाता है। तब पिछड़े माने जाने वाले देश पिछड़े नहीं रह जाते, और न उन्नत उन्नत गिने जा सकते हैं। तब हो सकता है कि आगे वाले पिछड़े बन जाएं और पिछड़े ही सही मार्ग पर आगे बढ़े दिखाई दें। गांधी जी की आस्थागत यही दृष्टि थी। स्वराज के जरिए कल-कारखानों उद्योगों-प्रोद्योगों द्वारा मालामाल भारत देश के कांग्रेसी सपनों से गांधी जी को इसीलिए डर था और वह पुराने माने जाने वाले भारत को ही पुनर्जीवित, पुनरुद्दीप्त, पुनः-प्रतिष्ठ कर आना चाहते थे।

समाधान शक्ति में नहीं

मैं स्वयं मानता हूँ कि अमरीका, रूस और चीन अणुबम के बल से बलिष्ठ हैं, लेकिन उनके पास से समाधान की कुंजी नहीं मिलने वाली है। वे स्वयं समस्या के अंग हैं और अपने चालू ढंग से उस समस्या को क्लिष्ट से क्लिष्टतर ही किये जा रहे हैं। समाधान नहीं है किसी आडम्बर अथवा कि संघटना के अंबार में। उनकी रीति-नीति मानव जाति को उसी दिशा में धकेले जा रही है। पर परस्पर के संबंधों में दबाव और तनाव बढ़ रहा है और सुरक्षा की चिन्ता अरबों-अरब डालर से ऊपर मानव जाति के हाथों महाध्वंसक शास्त्रास्त्रों के निर्माण में खर्च करवा रही है। कहना चाहिए कि मानव-जाति

प्रलय-ध्वंस की तैयारियों में जुटी जी रही है, और जाने किस मद में उसी को उन्नति भी मानती जा रही है।

इस भयावह विभीषिका को इतनी स्पष्टता और दृढ़ता से देखने वाला दूसरा पुरुष और दूसरा विचार, आपको वर्तमान काल में कहीं और नहीं मिलेगा। और इसमें संदेह नहीं कि दैहिक समृद्धि में ही दुनिया ध्यानस्थ रहेगी, तब तक मानसिक-नैतिक और आध्यात्मिक मान से उसके ऊंचे उठने की संभावना उदित नहीं हो सकेगी।

गांधी और उनके अनुयायी

मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि गांधी जी ने अपने रोष और असंतोष को व्यक्त करने का जो तरीका अपनाया था वह लोक-प्रिय क्यों नहीं हो सका? अगर दूसरे नहीं तो कम से कम उन गांधी-भक्तों को तो उस राह पर चलना ही चाहिए था जिन्हें गांधी जी की छत्रछाया में रहने और उनके साथ काम करने का अवसर मिला है। गांधी जी के सिद्धान्तों में उन्हें तो अधिक निष्ठा और आस्था होनी चाहिए थी। ऐसा नहीं दीखता, इसलिए हम सोचने के लिए बाध्य होते हैं कि कहीं गांधी जी के सिद्धान्तों और मान्यताओं में कोई त्रुटि तो नहीं रही? इस विषय में आपका क्या मत है?

—गांधी जी के अनुयायी गांधी नहीं बन सके, तो क्या इसे उनका अपराध माना जाएगा। जितनी दूर तक वे अनुगमन कर सके उतना ही बहुत है। उससे आगे नहीं जा सके तो इसका दोष उन्हें देने की मुझे हिम्मत नहीं होती है।

क्या गांधी की आंच से हमें अपनी हांडी ही पकाना है

गांधी-जीवन अपने में एक अद्भुत प्रयोग है। उसमें से अणुशक्ति से भी अमोघ और अपराजेय शक्ति के स्रोत का उद्घाटन हुआ है। उस आत्मशक्ति की कल्पना सदा से थी, पर अब उनके प्रयोग से उसकी वैज्ञानिक प्रक्रिया निर्धारित हो सकी है। वस्तु-क्षेत्र की बड़ी से बड़ी उपलब्धि की अपेक्षा चित्-क्षेत्र का यह आविष्कार कहीं अमित और विराट संभावनाओं से भरा है। अपने नित-निमित्त के काम-काज में क्या हम आइंस्टाइन के सिद्धान्त को गिनती में लेते हैं। परन्तु आइंस्टाइन ने वैज्ञानिक दृष्टि के आगे एक नया ही आयाम खोल दिया था। गांधी भी इस तरह सतह के लिए असंगत ही ठहरेंगे। पर क्या सच गांधी की आंच से हमें अपनी हांडी ही पकाना है? वही यदि कसौटी हो तो गांधी को ना-पास करके हम संतोष मान सकते हैं। पर इससे यह अर्थ न निकाल लीजिए कि अहिंसक सत्याग्रह का आविष्कार वृथा रहेगा। ऐसा करना हमारी बहुत ही भारी भूल होगी। यह एक तरह अपने परम्परागत विश्वासों में जड़ीभूत बने रहने के समान होगा। हम चाहें तो प्रतीकार के हिंसक उपायों में विश्वास करते चले जा सकते हैं, वहां से

118 / गांधी और हमारा समय

एकाएक विश्वास का हटना सरल है भी नहीं। जीवन के अपने आदिम इतिहास से हमने उस विश्वास की परम्परा को प्राप्त किया है। वह हमारी रग-रग में बस गया है। लेकिन विकास मानव का रुकेगा नहीं और पुरुषार्थ को उत्तरोत्तर अधिक समर्थ और उन्नत होते जाना होगा।

हिंसक उपाय मानव-वृत्ति के प्रतिकूल

हिंसक उपाय हमारे बीच छोटे-मोटे मामलों में आज भी चल जाते दीखते हैं। बलशाली निर्बल को आतंक से दबाकर लूट लेता है। लेकिन समाज का अन्तःकरण पहचानता है कि यह मानव-वृत्ति को ग्राह्य नहीं है। उस समाज ने इस पाशव-वृत्ति के विरुद्ध अपने बीच न्याय-शासन-संस्था का निर्माण किया है। किन्तु न्याय-संस्था जिनके हाथों में है, वे राज-सत्तायें ही ऊपर से आपस में टकरा उठें तो क्या हो? महायुद्ध उसी के परिणाम में हमें प्राप्त हुए थे और उसके ध्वंस-विध्वंस से अब तक हम उबर नहीं पाए हैं। लेकिन अब तीसरा महायुद्ध हो इसलिए नहीं सकता कि उसका परिणाम जय-पराजय में नहीं, बल्कि एकमात्र सर्वनाश में ही होगा। इसलिए अनिवार्य है कि हम हिंसक युद्ध का विकल्प पाने के लिए जीवन की शक्यताओं और संभवताओं में गहरे उतर कर गवेषणा और अनुसंधान करें। मनुष्य की क्षमता और प्रयोगशीलता क्या आज की चुनौती के समक्ष हार जाएगी? नहीं, पराभव मनुष्य नहीं ले सकेगा। मानवात्मा का उदय परास्त हो रहने के लिए नहीं हुआ है। परिस्थितियों पर उसे जय प्राप्त करनी होगी। दूसरी कोई संभावना नहीं है।

जीवन अनन्त और मृत्यु उस अनन्तता का द्वार

हमारा मानस जिस चक्र में पड़कर गांधी को असंभव, असंगत और अव्यवहार्य ठहरा बैठा है वह माने गए उन साठ-सौ वर्षों के इह जीवन के मोह का चक्र है। पर जीवन तो अनन्त है और मृत्यु उस अनन्तता का द्वार है। अर्थात् मृत्यु से डरने या बचने का प्रश्न ही नहीं है। उसे तो प्रसन्नता से हर समय अपनाने को तैयार रहना है। इतना ही नहीं, जीते जी हर क्षण उस मृत्यु में होकर जीना है। यह है शहादत को ही जीना। यह भोग के जीवन के समक्ष आहुति के जीवन का आह्वान है। हम भोग के जीवन को ही जानते हैं। जो उत्तर है, उत्तरोत्तर है, उसको इसलिए अतर्क्य मान लेते हैं। पर वह ज्यादा असली है, वह अधिक जीवन्त और अधिक ज्वलन्त है। उसका साक्ष्य हमसे बाहर ईसा और गांधी के उदाहरणों में ही बंद नहीं है, बल्कि हम सबके भीतर के भीतर की धड़कन में उसकी अनुभूति मौजूद है। आज भी कांग्रेस के नेता हैं जो शासन के ऊंचे पदों पर हैं, सब सुख-भोग उनके पास हैं। लेकिन पूछिए कि अंग्रेजी सरकार की जेलों में 'सी' क्लास के कैदी बनकर वे सींखचों के भीतर थे, उस समय के आनंद और आह्लाद का क्या

कण भी आज उनके पास है? प्राणों का वह उत्कर्ष, वह उल्लास क्या अवर्णनीय ही न था? अभाव और कष्ट मानो उस सुख को और सत्यता दे आते थे। नेताओं को जाने भी दें, तो क्या हम सब के जीवन के वही क्षण परिपूर्ण आनंद के नहीं होते हैं जब हम स्वयं में नहीं रह जाते हैं, कहीं इतने निछावर हो आते हैं? मरण का भय समाप्त हो जाता है, इतने जीवन के साथ हम तद्गत हुए रहते हैं।

समर्पित और शहीदी जीवन

तो यह समर्पित और यज्ञमय जीवन का सिद्धान्त कोई धोखा नहीं है, बल्कि यही परम सच है। व्यवहार-बुद्धि की पकड़ में यह सिद्धान्त सहसा आ नहीं सकता है और सारी राजनीति और व्यवस्थानीति हमारी उसी व्यवहार-बुद्धि के आधार पर चला करती है। पर उन सब बुद्धिमानों के अन्तस्तल में एक गहरी प्रेमानुभूति भी पड़ी रहती है, सिर्फ उसके बारे में वे बेभान बन जाते हैं। अपने को ही वे इंकार करते हैं जब कहते हैं कि उनकी तीन-पांच (वर्षीय योजनाओं) की व्यवस्थाओं से अलग दूसरा कुछ हो नहीं सकता। मानना होगा कि गांधी की उपस्थिति के अभाव में उस समर्पित जीवन की आस्था विद्यमान नहीं रह गयी है। लेकिन सच्चाई को क्या हम अपनी त्रुटियों से ही नापेंगे? क्या हमारी अपर्याप्तताएं ही हमारे आगे इतनी सच हो आएंगी कि इतिहास द्वारा बार-बार प्रमाणित हुआ जीवन का मर्म-सत्य हमें ओझल और ओछा बन आए?

प्रेम की पीड़ा

ईसा प्रेम के पुरुष थे। उस प्रेम की दृढ़ता में वह ऊपर राजपति और राज-पुरोहित की उद्धत प्रभुता के आगे झुक नहीं सके। प्रेम की पीड़ा में सब कुछ सहते चले गए, पर नहीं माना उन्होंने मनुष्य की पशुता को और अहंता को। सब तरह की यातनाओं को आने दिया और अंगीकार किया। अंत में कीलों का ताज पहना और सूली पा गये। तब रोने को कोई उन्हें पास न था। पर उनके भीतर का अगाध प्रेम क्या निष्फल हो सका? कुछेक वर्षों के बाद ही वह बलिदान मानव के अन्तःकरण में से अमोघ प्रेरणा बनकर ऐसा फूटा और फला कि साम्राज्य ढहते चले गए और ईसाइयत सब कहीं व्याप गयी। यह था तो किसका प्रभाव था? क्या किसी राजनीतिक कर्मण्यता का? जोड़-तोड़ का? शस्त्र-सेना का? क्या यह सब एक एकाकी, एकनिष्ठ, विशुद्ध आत्म-यज्ञ और आत्मोत्सर्ग का ही परिणाम न था?

ईसाई देश आज ईसा को पूज सकते हैं, लेकिन क्रास जिसका प्रतीक है उस जीवन-सूत्र को अपनी लोक-नीतियों में अपना नहीं पाते। उनकी व्यवहार-बुद्धि आड़े आती है और उनको उस प्रयोग की दिशा में बढ़ने नहीं देती है।

ईसा तो भी पुराण पुरुष हैं। गांधी तो अधुनातन हैं। उन्होंने उसी सिद्धान्त को जिया

120 / गांधी और हमारा समय

है, उसी जीवन-सूत्र को फिर से व्याख्यायित और परिभाषित किया है। यह आधुनिक काल व्युत्पन्न बुद्धिवादिता का है। फिर तब का रोमन साम्राज्य उस अंग्रेजी साम्राज्य के समक्ष भला क्या था कि जिसके फैलाव में सूरज डूब ही नहीं पाता था! ज्ञान-विज्ञान की गरिमा से बर्तानी शाहंशाही का युग भरपूर था। लेकिन फिर भी गांधी में कुछ अभूतपूर्व मूर्त हुआ और उस ज्योतिष्क वर्चस्व के समक्ष शेष सब मानो अर्ध-सत्य बनकर रह गया!

हम इतिहास की व्याख्याओं में पड़ सकते और अपनी अनास्था को सब तरह के तर्कों से बचा ले सकते हैं। पर कौन जाने कि इस प्रकार हम अपने ही भीतर की संभावनाओं को इंकार कर रहे हों। मैं मानता हूँ कि ईसा और गांधी जिसके प्रतीक हैं, वह तत्व हम सभी में गूढ़ होकर पड़ा हुआ है। हम बाहर की ओर देखते और परिस्थिति के तर्क-जाल में ग्रस्त हो जाते हैं। इस भांति अपने भीतर की सत्यताओं से बेखबर होकर अपनी तत्काल की असमर्थताओं का समर्थन कर बैठते हैं। एक कर्म प्रवाह हमको बहाए जाता है और हमारे भीतर का सृजन-स्रोत अछूता पड़ा रह जाता है। इसमें दोष किसी को नहीं दिया जा सकता। लेकिन अपनी त्रुटियों की चादर उढ़ाकर क्या सच्चाई को ढक डाला जा सकता है?

इतिहास गांधी पर नींव रखेगा

मैं मानता हूँ हिन्दुस्तान गांधी से बच निकला है। नाम की दुहाई देकर वह उसकी सचाई से जैसे छुट्टी पा गया है। लेकिन मानव का इतिहास गांधी से बच नहीं पाएगा। शायद आने वाले इतिहास को गांधी पर अपनी नींव रखनी होगी। वह इतिहास भारत का न होगा। वह मानव जाति का इतिहास होगा। कारण समूची मानव सभ्यता ही है जो एक जिच पर आ अटकी है। हिंसा के आयुध को मानकर अब आगे बढ़ना हो नहीं सकता। आगे महासंहार की शक्ति अपने पेट में लिए अणुबम अड़ा पड़ा है। हिंसा उसके पार जा नहीं सकती। लेकिन अहिंसा का पाठ भी अभी सीखा नहीं गया है। गांधी को अपवाद कहकर टाल जाना अभी तो संभव है, पर वह संभवता आगे कहां तक चलेगी? प्रलय तो सामने है। उस प्रलय के समक्ष गांधी ही एक विकल्प है। उसी को टालना अधिक काल संभव नहीं रह पाएगा।

छोड़िये, भारत के संदर्भ में गांधी के विचार को एकदम छोड़ दीजिए। भारत को चीन का डर है, पाकिस्तान का डर है। जब तक वह डर हममें समाया है, कौन कह सकता है कि वह मिथ्या है? उस डर के नीचे भारत जो सोचेगा, जो करेगा, वह गांधी के अनुकूल कैसे हो सकेगा? गांधी निर्भीक और निडर होने की बात कह सके तो इसलिए कि शरीर ही तो मरता है, और उन्होंने कहा कि उसे मरने दें। डर उसी का है न! पर अगर भीतर आत्मा पर डर न लगे तो देखोगे कि शरीर के मरने देने में से ही तुम

अमर हो जाते हो। व्यक्ति को कहा और साथ ही राष्ट्र को भी यह कहा। राष्ट्रवासी स्वयं में मर जाने को तैयार हो जाएं, तो ऐसे राष्ट्र जी ही नहीं जाएगा, सारी दुनिया को जिला जाएगा। किंतु यह दर्शन भयभीत के भीतर उतर ही कैसे सकता है। इसलिए आपके प्रश्न को मैं अप्रस्तुत कह देना चाहता हूँ। गांधी के साथ आज के भारत की कोई संगति नहीं है। कोई आवश्यक नहीं है कि गांधी का उदय और अवलंबन आगामी इतिहास में हो तो वह भारत के द्वारा ही हो। अफ्रीका में नए देश उभर रहे हैं। वह महाद्वीप अब तक पद-दलित और परतंत्र ही था। परतंत्र भारत में से गांधी का उदय हुआ। कौन जानता है कि साधन-शस्त्रहीन अफ्रीका में वैसी ही आत्म-प्रेरणा एक दिन नहीं जाग आ सकती? बहरहाल गांधी के नाते भारत की बात न कीजिए। शायद भारत मानता हो कि गांधी को उसने काफी भोग-भुगत लिया है और स्वराज्य के बाद अब उसे गांधी की कोई जरूरत नहीं रह गयी है। भारतीय यह मान सकता है और भगवान उसका भला करें!

गांधी-तत्व का अवमूल्यन

लेकिन हमारे नेता इस तरह के नाटक क्यों खेलते हैं कि हम गांधी के रास्ते पर चल रहे हैं, भारत गांधी के रास्ते पर चल रहा है! हर बात में गांधी का उदाहरण देकर लोगों के मन में यह भ्रम क्यों पैदा करते हैं कि गांधी का यही रास्ता है जिस पर हम चल रहे हैं, जब कि वे व्यवहार में गांधी विरोधी हैं?

—क्यों करते हैं? क्योंकि ऐसा करने में उन्हें सुविधा होती होगी, लाभ होता होगा। कौन उन्हें ऐसा करने से रोक सकता है। लेकिन उन्हें समझना चाहिए कि ऐसा करके वे अपने को तो सफल कर पाते ही न होंगे, गांधी को अवश्य वे विफल कर जाते हैं। गांधी की संभावनायें इस तरह धुंधली पड़ती हैं। गांधी-तत्व का गहरा अवमूल्यन होता है।

मुझे अच्छा लगा है यह कि एक ऐसे महाशय को वर्तमान शासन ने 'पद्मश्री' उपाधि से विभूषित किया है जिसने गांधी को गाली से याद किया था। अगर शासन के पद से सचमुच गांधी के लिए गाली निकलने लगे तो मुझे यह अशुभ प्रतीत नहीं होगा। कुछ उसके आसार दीखते तो हैं। आचरण में तो हम गांधी का तिरस्कार कर ही निकले हैं। विचार में भी किंचित वह तिरस्कार आ गया है। उच्चार में भी यदि खुलकर वह तिरस्कार आ जाएं तो मुझे लगेगा कि हम ईमानदार हो रहे हैं।

इससे अधिक मैं क्या कहूँ?

सर्वोदय-विचार

सर्वोदय क्या है? क्या सर्वोदय समाज की स्थापना संभव है?

—महात्मा गांधी ने रस्किन की पुस्तक 'अन टू द लास्ट' के अनुवाद को सर्वोदय

शीर्षक दिया था गांधी जी के बाद जो समाज इकट्ठा हुआ उसने अपने लिए सर्वोदय समाज की संज्ञा स्वीकार की। उस पद का आशय है कि एक के अस्त में दूसरे का उदय मानना भूल है। हमारी कर्म-प्रक्रिया और व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें परस्पर का हित-विरोध कम होता जाए और क्रमशः उसके पीछे उन्हें हितैक्य का दर्शन हो आए।

सर्वोदय में अहं का विसर्जन आवश्यक

समाज का रूप मनुष्य की भीड़ को प्रेम और उसमें से उदय पायी हुई मर्यादाओं के सबब मिल पाता है। पर प्रेम तो पुरुषार्थ है और उसके लिए सब को अपने में न्यूनाधिक अवशिष्ट बचे अहंकार से लड़ते जाना पड़ता है। यह विग्रह और विजय की यात्रा अनन्त है और शायद ही कभी हो कि समाज में सर्वोदय को पूर्ण सिद्ध कहा जा सके। किन्तु निश्चय ही बढ़ना उसी ध्रुव की ओर है और इसमें व्यतिरेक नहीं आ सकता।

यह सर्वोदय के भाव की बात कही गयी। जिस विशिष्ट वर्ग ने अपने लिए सर्वोदय समाज का नाम अपनाया है, उसकी स्थिति अथवा कार्यक्रम से इसका विशेष संबंध न उहरा लिया जाए।

बिना अस्त के सर्वोदय कैसे?

उदय तभी हो पाता है जब कुछ अस्त होता है। इस सर्वोदय में तो कुछ अस्त है नहीं, सब उदय ही उदय है। इसलिए मन में प्रश्न होता है कि बिना अस्त के सर्वोदय कहां से आ गया? जिसका अस्त होगा क्या उसका भी जबर्दस्ती उदय मान लिया जाएगा?

—सूर्य का उदय होता है और अस्त होता है, पर क्या सूर्य सतत बना ही नहीं रहता? अर्थात् उदय और अस्त मात्र सापेक्ष संज्ञाएं हैं। एक के उदय में दूसरे का अस्त यदि नहीं चाहा जाता है तो इसमें कुछ भी असंभाव्य नहीं है। हितविरोध और हितविग्रह का जो ऊपरी हिसाब साफ दीखता है वह भीतर पहुंचने पर उतना साफ नहीं रहता। चार रोटी में तीन अगर बालक को मिल जाती हैं, तो मां के लिए सिर्फ एक बचती है। लगेगा यह कि मां के हित के साथ इसमें अन्याय हुआ। पर बालक की भूख यदि चौथी भी रोटी चाहे तो वह देकर स्वयं भूखा रह जाने में ही मां के मातृत्व को तृप्ति प्राप्त होगी। अर्थात् स्थूल गणित कुछ भी बताता हो, प्रेम का सद्भाव बीच में व्याप्त है तो वह गणित ओछा पड़ जाता है। वह न्याय-नियम जो गिनती की समता तक ही पहुँच पाता है, मां-बेटे के रिश्ते में क्या मिथ्या ही न पड़ जाएगा? उस जगह मां के साथ यह घोर अन्याय होगा कि बालक की कम करके दो रोटी मां के पेट में डाली ही जाएं! बेटे की भूख भरने में मां अगर अपने को भूखा रखने में धन्यता पाती है, तो क्या बालक के उदय में मां की अस्तता देखी जा सकती है? धरती में पूरव वाले यदि सूरज को अपने लिए अस्त हुआ मानते हैं

तो वही पश्चिमी भू-भाग के लिए उदित होना बन आता है। इन अस्तोदय में कोई पक्ष-विपक्ष नहीं देखा जा सकता। सर्वोदय में भी यद्यपि यह उदयास्त संभव दीख सकेगा, पर उस सापेक्षता के नीचे सर्व हितैक्य की भूमिका को, दर्शन को, ध्यान में रखना अशक्य नहीं होना चाहिए। सर्वोदय ऊपर भौतिक गणित के नीचे भाव के इस भराव की आवश्यकता की ओर इंगित करता है।

शोषक और शोषित का उदय

समाज में मां-बेटे जैसा स्नेहयुक्त संबंध तो है नहीं, जो अपने अस्त और बेटे के उदय में अपना उदय देखे। यहां तो घोर विषमता है, शोषण है। शोषित शोषण से मुक्त होना चाहता है और शोषक उसे मुक्त करने में अपना अस्त देखता है। उसका उदय शोषण के बल पर ही हुआ है, यह वह स्वयं जानता है। आप क्या इन समाज के शोषित और शोषकों में सर्वोदय को फलित होता दिखा सकेंगे?

—मुझे शोषित और शोषक दोनों आदमी ही दिखाई देते हैं। शायद हो कि आप उस आदमी के भीतर उतरें तो शोषक में शोषित और शोषित में शोषक का बीज भी दीख आए। मुझे तो अब तक शुद्ध शोषक और शोषित का नमूना मिला नहीं। जो जहां है उसके नीचे कुछ है, और ऊपर भी कई हैं। वह कहीं नितान्त स्वयं नहीं है, संबंधों के बीच है, परिवेश से परिविष्ट है। जैसे कल की ही बात लीजिये। पैंतीस बरस का वह डाकू पुलिस से बचने में अपने सिर में स्वयं गोली मारकर मर गया। उसने बहुत जुल्म किये थे और आखिर में तमन्चे के जोर से बैंक से पच्चीस हजार रुपया डाका डालकर दिन दहाड़े ले आया था। उसे आप क्या कहिएगा, शोषक नहीं कहिएगा? पर मां का कहना रहा कि लड़का बिचारा अच्छा था, कुसंग में न पड़ जाता तो यह न होता।—मां के इस प्यार के निर्णय को आप क्या कहिएगा? क्या यह कहने में दोष होगा कि उस कुसंग और सोहबत ने उसके विवेक को ढीला कर दिया और जहां ममता थी वहीं अभाव और दैन्य को वह सह न सका। इस हठात् बिगड़ जाने वाले युवक को क्या इस विध आप शोषित न मान सकिएगा?

हर शोषक शोषित भी

तो मैं कहता हूँ कि हर शोषक प्रचलित व्यवस्था द्वारा आपको शोषित भी दीख आएगा। और शोषित इस शोषण के दोष में योग देता हुआ आपको दीख सकेगा। स्टालिन महोदय शोषित वर्ग का अपने को मानकर शोषण दूर करने के लिए उठे तो अन्त में जाकर क्या शोषक श्रेणी के सरदार ही न बन गए! इसलिए कृपया इन ऊपरी बातों तक ही बात की सचाई को रुका हुआ मत मान रखिए। मत मान रखिए कि अमुक वर्ग को खतम करने से शोषण खतम हो जाएगा। जी नहीं, शोषण इतनी ऊपरी और बाहरी वस्तु

नहीं है। वह सामाजिक संबंधों में गहरी व्याप्ति-व्याधि है। उसके निरसन के लिए हाय-हत्या के कार्यक्रम से नहीं चलेगा। उसके लिए शायद अपने से शुरू करना होगा। हर एक पूछे अपने से कि वह अमीर होना चाहता है कि नहीं? सत्ता और प्रभुता की आकांक्षा रखता है कि नहीं? गरीब से गरीब यह चाहना रखता और रख सकता पाया जाएगा। ऊपरी दृष्टि कितना भी सिद्ध करे कि वह मात्र शोषित है, पर उस अमीरी और प्रभुता की स्वप्नाकांक्षा में यदि आप शोषण की जड़ देखने से इन्कार करेंगे तो खता खाएंगे। भारत में नक्सलपंथ चल निकला है, तो उन पांथिकों के हाथ सरकार आने पर क्या शोषण के अन्त की कल्पना आप कर सकते हैं? जी नहीं, वह चक्र उस हिंसा से कटने वाला नहीं है, जो अपने को बचा कर प्रहार सदा दूसरे पर करती है। हां, हो तो कारगर वह हो भी सकती है, जो अपने पर उतरती है। शायद अहिंसा इससे भिन्न दूसरी चीज़ है भी नहीं। अपने को प्यार करने की आदत में से शोषण निकलता है। प्यार में अपने को बलिदान करने के पुरुषार्थ से ही शोषण का निरसन संभव दीखता है।

समाज में सद्भावना

कैसे कहा आपने कि माता-पुत्र जैसे प्रेम का संबंध समाज में विरल है, और कि समाज एक दूसरे के शोषण-प्रवंचन आदि पर ही खड़ा है। यह धारणा उपादेय तभी हो सकती है कि जब इसमें हम स्वयं अपने को दोषी मानते हों, अन्यथा यह धारणा सतही है। यह परस्पर हिंस्र संबंध पशु जगत में व्याप्त है। इसीलिए क्या यह सच नहीं है कि वे जंगल में रहते हैं, समाज बनाकर नहीं रह पाते। मानव का समाज है तो इसी में गर्भित है कि उसके नीचे अमुक मात्रा में पुण्य और सद्भाव की भूमिका है। राजनीतिक क्षेत्र को ही यदि आप सब कुछ नहीं मान लेते हैं तो घर-घर में एक दूसरे के लिए खटते-जीते सामान्य नर-नारी के तप-त्याग और श्रम-स्वेद की कथा से इन्कार नहीं कर सकते। ऊपर की ले-दे और छीन-झपट नीचे के दीन-हीन और अशिक्षित समझी जाने वाली जनता के पुण्य की पूंजी पर ही संभव बनती है। इस ऊपर के खेल में ही अपनी दृष्टि को अवरुद्ध मत हो जाने दीजिए। उस भोग और ऐश्वर्य में खोई श्रेणी पर ही निगाह मत जमाइए। कौन जाने कि हमारे भीतर की सुप्त आकांक्षा ही न हो कि जो उस प्रभु-वर्ग को अभिलाषा और ईर्ष्या से देखने को हमें बाध्य कर आती हो। वहां हो सकता है कि मिथ्याचार का प्राधान्य हो। पर नीचे प्रेम और प्रीति है, उसी के बल-बूते वे जी रहे हैं, हम जी रहे हैं!

निश्चय रखिए की पुण्य से पाप जिस क्षण बढ़ जाएगा उसी क्षण प्रलय भी हो आएगी। पर भगवत्कृपा से यह अशुभ घटने वाला नहीं है और हम जो अपनी ओर से कर सकते हैं वह यही कि हम अपना योग अशुभ में न दें और अपना हविष्य यज्ञ की शुभता में डालें।

आरम्भ अपने से

सर्वोदय का आरंभ आप अपने से शुरू करने के लिए कहते हैं। वह कैसे होगा ?

—सर्वोदय का आरंभ अपने अहं को अस्त करने से अपने आप हो चलेगा। सर्वोदय में करना कुछ नहीं है, अपनी महत्वाकांक्षा को सेवा की अभीप्सा में परिणत कर लेना भर है। आपने ही तो कहा था कि उदय अस्त के बिना न होगा। 'स्व' अपने स्वार्थ को अस्त करदे तो क्या इतर का उदय अनिवार्यतया होने ही न लग जाएगा ? 'स्व' को इसमें समाप्त नहीं करना होगा, सिर्फ उसे सेवा में लगा देना होगा। सेवा वह हठात् इतर की ही होगी और इसमें से सर्वोदय का मार्ग स्वतः खुल आयेगा।

सर्वोदयी जन अपने को परखें

जो लोग सर्वोदय में लगे हैं क्या उनसे सर्वोदय का मार्ग खुला है ?

—अगर नहीं खुला है तो उनके लिए अवसर है कि वे अपने को जांचें और परखें ?

सर्वोदयी जन जांच-परख क्या करें ? क्या यह करें कि सर्वोदय समाज के लिए जो मार्ग उन्होंने अपनाया है, वह गलत है और उससे सर्वोदय की स्थापना असंभव है ?

—यह क्या कह रहे हैं आप ? क्या वह जांच-परख है, जहां नतीजा पहले से जान लिया जाता है ? सर्वोदय के काम को विफल और परास्त कहने वाले मैं तथा आप कौन होते हैं। यहां अंतिम रूप से कुछ पता नहीं है कि सफल और विफल क्या हैं। एक महाशून्य में समूचा कर्म-संसार निगला और समाया चला जा रहा है। आदमी के सब माप उसके अपने हैं और इसलिए ओछे और अधूरे हैं। अतः हम दूसरे के संबंध में अंतिम निर्णय अपने हाथ में लेने से बचे रह सकते हैं। जज को तो तनखा मिलती है इस बात की कि वह अपराध का निर्णय करे और साथ उसका दंड भी दे। व्यवस्था की ओर से जिसको यह घूस नहीं मिलती है, उसको इस व्यर्थ और गलत काम में क्यों पड़ना चाहिए।

गांधी की ललकार

सर्वोदय के संबंध में वे सोचेंगे जो उसमें मानते हैं, फिर वे जिस भी निर्णय पर आएंगे। मैं स्वयं मानता हूँ कि हितविरोध और हित-विग्रह के सिद्धान्त की धरती वह नहीं है जिस पर विश्व की शान्ति अथवा एकता सिद्ध हो सकेगी। आगे-पीछे मानव जाति को इन लक्ष्यों तक पहुंचना है। उसके लिए धरती वह चाहिए जो अनुकूल सत्व प्रदान करे और विग्रह-विरोध उपस्थित होने पर संधि-समन्वय लाने का आधार प्रस्तुत कर सके। सर्वोदय का सिद्धान्त वह धरती प्रस्तुत करता है और उस सिद्धान्त के प्रयोक्ता और प्रवर्तक गांधी के संदर्भ से सर्वोदय का विकास साधा जा सके तो विग्रह-विरोध से जूझने की एक नयी विधि प्राप्त होती है। प्रचलित सर्वोदय में उस पक्ष का अपेक्षतया अभाव दीखता है। निश्चय ही युयुत्सा की उसमें कमी है, सामाजिक अन्याय को न सहने और

शोषण की प्रणालियों को उधेड़ डालने की प्रण और प्रतिबद्धता वहां उतनी नहीं दीखती है, वैसी ललकार नहीं है। अध्यात्म की और आदर्श के वाद की कुहेलिका में जैसे कर्म की प्रखरता वहां कुन्द हो आती है और सत्याग्रह असंगत पड़ जाता है। गांधी कितने ही महात्मा हों, पर उनकी विशेषता इस संबंध की अधीरता और असहिष्णुता ही थी। मनुष्य में किसी दीनता और कायरता को वह सह नहीं सकते थे। जैसे इसके उत्तर में दर्पोद्धत सत्ता के समक्ष वे तुल आते थे कि क्यों कोई भी दीन है, मीत है, बेकार और असहाय है? धरती से और श्रम से लगकर रहने वाली असंख्यासंख्य जनता की ओर से इसलिए सत्ताधिपों के समक्ष वे सदा ललकार देते और युद्ध मांगते नजर आए और समूचा जीवन उनका निवृत्त महात्मा से अधिक प्रवृत्त योद्धा का बन आया। आधे से ज्यादा आयु जेलों में बीती और अंत एक धर्मध्वजी सनातनी के हाथों गोली खाकर हुआ। गांधी अध्यात्म, धर्म, शान्ति, सत्य और अहिंसा के कितने भी अवतार माने जाएं, पर इन पर यदि उनकी ओर से कोई भाष्य है तो सचमुच का उनका जीवन ही वह भाष्य है। वह जीवन सतत और अजस्र युद्ध में लीन रहा और विश्व में अब तक जाने गए सबसे प्रबल और विराट साम्राज्यवाद से जूझता रहा। आखिर वह साम्राज्य उखड़ा और मालूम हुआ कि अहिंसा हिंसा से कम नहीं बल्कि अधिक ही प्रचण्ड अस्त्र है, और होगा।

फ्यूज उड़ गया है

अहिंसा युद्ध का वह अमोघ शस्त्र है कि जो हार सकता नहीं और जिसकी विजय प्रतिपक्ष को हराती नहीं, जिताती है। यह विजय स्थायी होती है। कारण, उससे विरोध दबता नहीं, बल्कि जड़ में ही मिटता है। शायद हो कि सर्वोदयी जन अपने भीतर उतर कर पाएं कि उस सर्वोदय, सत्याग्रह और अहिंसा आदि की टीका और व्याख्या में कितने ही शास्त्र और भाष्य रच डाले गए हों, पर उसका तार गांधी के जीवन से कहीं उचटा और छूटा रह गया है। फ्यूज उड़ गया है और सब कुछ ज्यों का त्यों होने पर भी विद्युत का प्रवाह तार में गायब है। शब्दों की भरमार के नीचे त्रुटि यह कहीं इतनी नीचे दबी तो नहीं रह जाती कि ध्यान में ही नहीं आती हो। वास्तव में यह आत्म-व्यथा और पीड़ा ही हो सकती है जो इस समस्त ज्ञानाडम्बर के आतंक से अभिभूत न हो और नीचे प्रेम की जीवन्तता की कमी को पकड़ और पहचान ले। तब अकर्म के ही रास्ते से सर्वोदयी अध्यात्म एक प्रखर और प्रचण्ड कर्म की उज्ज्वलता में उत्तिष्ठ होकर जगमगा आएगा। तब मालूम होगा कि उससे मौलिक प्रकाश दूसरा नहीं है, नहीं है।

इसलिए मैं नहीं मानता कि सर्वोदय की जमात के नीचे उस सिद्धान्त का स्फुलिंग सोया और दुबका ही पड़ा रह जाएगा। अवश्य एक दिन वह चिंगारी, इससे पहले कि वे भस्म हों, उन्हें जलाकर उजला कर आएगी। आवश्यक बस इतना है कि प्राणों की वह चिंगारी हो, शास्त्र का शब्दमात्र न हो।

घृणा : प्रेम में पड़ी खटास

राजनीतिक घटनाओं में हमारी दृष्टि रुद्ध और लुप्त हो सकती है। वे घटनाएं निरी अस्वीकृत होने के लिए हैं भी नहीं। किन्तु हैं वे सतह पर ही। सागर के गहरे गर्भ में क्या चल रहा है, क्या पता? निश्चय ही उस जनमानस के अतलान्त में गहरा विप्लव है। भयंकर आलोड़न-विलोड़न वहां मचा होना चाहिए। अद्भुत आकार प्रकार में उसके लक्षण प्रगट हो रहे हैं। उस आत्म-मंथन की विकलता की हद नहीं है। वहां से उठकर क्षण में क्या विस्फोट ऊपर आ जाए कौन जाने। पर इसमें सन्देह रखने का कारण नहीं है कि प्रेम से बड़ी शक्ति मानव संसार में दूसरी है नहीं। घृणा में भी ताकत है, पर प्रेम में पड़ी खटास के सिवा घृणा कोई दूसरी चीज है क्या। इसीसे ताकत है उसमें तो मूल प्रेम की है। घृणा उसे बस ध्वंसात्मक कर देती है। पर यदि प्रेम अपने मूल और अविकल रूप में पराक्रम और पुरुषार्थ के द्वारा प्रकट हो तो भय और घृणा के और आवेश के शस्त्रास्त्र उसके आगे लज्जित हो आएंगे और बलिदान की आत्मशक्ति उनके उन्माद का हरण कर लेगी। मैं मानता हूँ कि यह संभव है, उसके ऊपर यह भी कि एक वही विकल्प है। अन्यथा तो मानना होगा कि मानव-भाग्य के निमित्त बस महाप्रलय की प्रतीक्षा शेष है।

सर्वोदय का 'दान', यज्ञ और समाज-परिवर्तन

सर्वोदय में जो दान-यज्ञ का क्रम चल रहा है उससे क्या समाज में कोई मूल परिवर्तन होने वाला है?

—शब्द बड़ी साधना से उठ पाते हैं, उन्हें गिराने की चेष्टा नहीं होनी चाहिए। जो शब्द ऊंचे पहुंचे हैं, उनकी ओट में मनुष्य अपनी अकृतार्थताओं को छिपाने की चेष्टा करे यह असंभव नहीं है। बल्कि यह तो अक्सर ही होता है। दुहाई उत्कृष्ट की ही तो दी जाएगी, यह दूसरी बात है कि नीचे सिद्धि निकृष्ट की साथी जाए। पर मनुष्य की स्थिति के लिए अवमानना के भाव को प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिए।

समाज परिवर्तन को मैं पूरी तरह समझ पाता नहीं हूँ। उसमें कुछ रूढ़ियां और प्रणालियां हो सकती हैं जो जीवन को रूंधती हों, खोलती न हों। अब समाज-परिवर्तन उसमें क्या चाहता है? उस नाली को जो रुक गयी है मैं यदि खोद कर उधेड़ डालता हूँ तो परिवर्तन की व्यग्रता इसमें से कुछ शान्ति पा सकती है, पर उधड़ी और उखड़ी हुई मोरी आगे समाज के लिए क्या सुविधा पैदा कर देगी? इसलिए इस प्रकार के शब्द मुझे कुछ विशेष प्रकाश नहीं दे पाते। फिर रूढ़ियां और प्रणालियां, वे कि जो आज बाधा बन गई हैं, कभी पहले की आवश्यकता में से निर्माण पा सकी होंगी। वह आवश्यकता मौलिक होने से निःशेष तो सर्वथा हो नहीं गयी होगी, उसका रूप ही कुछ अदला-बदला होगा। तो सहसा रुष्ट और क्रुद्ध होने से नहीं चलेगा। ऊपर की चोट से जो बदलाव आएगा, उससे भी नहीं चलेगा। भीतर से उभरती हुई चेतना की ही मांग न हो

128 / गांधी और हमारा समय

आए तो उससे पहले का बना कानून कागजी ही रह जाने वाला है। आदर्शवादी जन कानून बनाने की जगह पर पहुंचकर राजनीतिज्ञ के रूप में चाहे कुछ भी कारगुजारी करें, पर परिवर्तन वही चलेगा, जो भीतर से पकता हुआ आएगा।

नए-पुराने का चक्कर

जीवन की यही प्रक्रिया है। पुराना झड़ता जाता है, नया खिलता आता है। पुराने को झाड़ने में कुल्हाड़ा उठाकर काटने अगर जुटते हैं तो उसमें से उगते आते हुए नए पर ही प्रहार अधिक पहुंचता है। नया असल में स्वयं ही अपनी शक्ति से अनावश्यक और जीर्ण को झड़ जाने में सहायता देता है। केचुल पुराना होकर छूट जाता है, पर तभी नया उसका स्थान ले लेता है। परिवर्तन की इस जीवन्त प्रक्रिया में क्रांति के किसी बड़े कोलाहल की आवश्यकता नहीं है। वह क्रांति रचनात्मक है जो प्रकृति को अभीष्ट है। असल में क्रान्ति वह विकास की ही सहज प्रक्रिया में ही गर्भित होती है।

परिवर्तन सहज और आन्तरिक प्रेरणा से

यह यदि हम अपने विस्तृत और बृहद दर्शन में स्वीकार कर सकते हों तो हिंसा की व्यर्थता को अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं होगी, न प्रकृति में गर्भित अहिंसक रचनात्मकता को मानने में कोई कठिनाई रहेगी। भीतर धरती में गड़े बीज में से उगकर अंकुर आता है तो चाहे तो कहो कि वह अपनी शक्ति से धरती को खोल या फोड़ आता है, या चाहे कह दो कि धरती स्वयं उस अंकुरित होते हुए जीवन के अभिनन्दन में हटकर उसे मार्ग देती जाती है। धूम-धड़ाका यहां कोई नहीं है, न क्रांति के बाजे-गाजे हैं और मैं समझता हूं कि तमाम सृष्टि की यही नीरव और सहज प्रक्रिया है।

सर्वोदय को जो अभीष्ट है और होना चाहिए वह ऊपर से ढाया गया कोई भी परिवर्तन नहीं है। सब भीतर से उग आया क्रमिक और सहज परिवर्तन है। वही चलेगा और पचेगा। दूसरा बलात् किया गया परिवर्तन क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा और इस तरह एक विष-चक्र का आरंभ कर देगा। इस तरह समाज-रचना वहां आत्म-रचना है, परिवार-रचना और ग्राम-रचना है। इससे भिन्न या अलग कोई विशाल परियोजना का रूप देने से वह सही समाज-रचना रहती ही नहीं है। यह रचनात्मक परिवर्तन भीतर से उठता हुआ बाहर प्रतिफलित होता है और बाह्य समायोजन के राजनीतिक हो-हुल्लड़ से बचा रह सकता है। सर्वोदय को वैसा कुछ ग्राम-स्वराज्य का निर्माण अभीष्ट रहा हो तो उसमें कोई विस्मय नहीं है और न कोई असंगति है। पर इस प्रक्रिया में हर बिन्दु पर अन्तर्बाह्य का सम-संतुलन रहता है और अखिल और व्याप्त चिरन्तन जीवन की धड़कन से अलग उसे साधा नहीं जा सकता। सर्वोदय को हम जब एक निरपेक्ष सिद्धान्त बन जाने देते हैं, और उसकी साधना-सिद्धि को एक अमुक कार्यक्रम की रूपरेखा में स्थिर कर लेते हैं, तो बहुत संभव है कि

उस धड़कन से अलग होकर हम किसी अपने अभीष्ट की आंकिक पूर्ति में लग जाते हों और इस प्रकार हमारा लक्ष्य मानवीय से उतरकर मात्र सांप्रदायिक बना रह जाता हो। हो सकता है कि ऐसा हुआ हो, पर इसकी छानबीन का काम तो सर्वोदय बन्धुओं का अपना है।

सर्वोदय और साम्यवाद

सर्वोदय और साम्यवाद क्या इन दोनों का मूल उद्देश्य एक है? सर्वोदय सबका उदय चाहता है और साम्यवाद समता का उदय चाहता है। सर्वोदय की तुलना में उसे साम्योदय कह लीजिए। यदि ऐसा है तो साम्यवादी और सर्वोदयी में कोई अन्तर नहीं देखना चाहिए। इस विषय में आपका क्या ख्याल है?

—उद्देश्य में तो उन दोनों के अतिरिक्त अन्य भी सम्मिलित और सहमत माने जा सकते हैं। सभी मानेंगे कि आदर्श समाज में विषमता न होगी, न द्वेष होगा, न विग्रह, न स्वार्थों के विमर्श-संघर्ष की आवश्यकता होगी। स्वर्ग सब मत-धर्मों का लगभग एक सा ही हो आता है। प्रश्न इस तरह अंतिम लक्ष्य का रहता ही नहीं है। प्रश्न होता है मार्ग का, उपाय का, साधन और कार्यक्रम का। वहां का अंतर बुनियादी है। समानता के लिए साम्यवाद सोचता है कि ऊपर पूंजी वालों की श्रेणी नीचे के बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग को दबाए रखती है; बलपूर्वक उस शोषक-श्रेणी को मिटा दिया जाए तो सत्ता पर भी श्रमिक होंगे और जनता तो श्रमिकों की होगी ही। इस प्रकार समाज में सब ओर साम्य आ जाएगा। हिंसा इसके लिए जरूरी हो तो वह उचित ही होगी। किंतु सर्वोदय को न वर्ग-विग्रह की वह धारणा ही मान्य है न किसी बलात्कार में उसका विश्वास है। उसके लिए नीति अथ से इति तक अहिंसा ही है और हिंसा का विचार भी त्याज्य है।

सर्वोदय साम्यवाद से प्रबल

उद्देश्य की सहमति के नीचे साधनों की इस असहमति को हल्का करके देखने की आवश्यकता नहीं है। अहिंसा का आग्रह सर्वोदय को सहसा अव्यवहार्य दिखा दे सकता है। लेकिन यदि अहिंसा सबल की हो तो साम्यवाद से सर्वोदय अधिक प्रबल और सार्थक सिद्ध होगा। साम्यवाद का प्रयोग हुआ है और फल अभीष्ट निकला है, यह कहना कठिन है। समता लाने और बनाए रखने के लिए अगर ऊपर एक जबर्दस्त राजकीय यंत्र का नियंत्रण अनिवार्य रहे तो वह समता स्वयं विषम और कृत्रिम ही न होगी? कुछ ऐसा ही अनुभव उन व्यवस्थाओं का आ रहा है, जहां साम्यवादी क्रांतियां हुई हैं। सर्वोदय इसलिए यदि इस प्रक्रिया में बलात्कार के उपयोग को मान्य न करता हो तो इसको उस अनुभव के प्रकाश में गलत नहीं कहा जा सकता। मैं स्वयं मानता हूं कि यदि अंतिम रूप से हमें यह अभीष्ट है कि हर मानव के साथ समाज में सम्पूर्ण न्याय हो तो उसकी प्रक्रिया में भी हर मानव व्यक्तित्व के साथ न्याय करते हुए ही चलने का प्रण रखना चाहिए। हिंसा के

130 / गांधी और हमारा समय

भरोसे में मानो इस मूल आदमी का भरोसा टूटने दिया जाता है और मनुष्य को हम अविश्वास से लेना आरंभ कर देते हैं। इस प्रकार हिंस्र क्रांतियों के मूल में मानवास्था की किंचित् त्रुटि देखी जा सकती है। महात्मा गांधी प्रणीत सर्वोदय में मानव-विश्वास परिपूर्ण रखा जाता है। वहां मान लिया जाता है कि जितना कुछ विकृत है वह रोग है, मानव का प्रकृत स्वभाव नहीं है। इस तरह अधम, दुष्ट, पापी, अपराधी मात्र रुग्ण हैं और उपचार व्यक्ति के त्राण के निमित्त केवल रोग का होना है। इसमें प्रत्येक के व्यक्तित्व का आदर है और यदि कहीं मानव-संबंधों में विषमता दीखती है तो उसके उपाय के लिए सर्वोदय व्यक्ति को आत्म-दमन, संयम और बलिदान का मार्ग सुझाता है। इसमें पर-घात नहीं आता, बल्कि अपनी ही आहुति की उद्यतता होती है। और क्योंकि स्व-पर का भेद ऊपरी है, भीतर परस्पर संवेदनशीलता की भूमिका निहित ही है, इसलिए स्वेच्छित भाव से स्वीकार की गयी एक की पीड़ा दूसरे को अन्ततः छुए और गलाए बिना नहीं रह सकती। सर्वोदय का यह मार्ग उस साम्यवाद से नितान्त विपरीत है, जो एक श्रेणी को मिटाने में से दूसरे को उठाने की संभवता देखता है। इस जगह किसी प्रकार की भ्रांति का अवकाश नहीं है और सर्वोदय एवं साम्यवाद की मूल-स्थिति का भेद स्पष्ट है।

चर्खा और शरीर श्रम

क्या सर्वोदयी के लिए चर्खा कातना या इसी तरह का कोई शरीर-श्रम करना आवश्यक है?

—आदमी शरीर से श्रम करेगा नहीं तो भोजन तक सही तौर पर न पच पाएगा। इसमें सर्वोदय बीच में आकर क्या कर लेगा?

चर्खा प्रार्थना जितना महत्त्वपूर्ण

गांधी जी ने चर्खा चलाने के लिए कहा था और स्वयं भी चर्खा चलाया करते थे? क्या आज भी आप चर्खा चलाने की अनिवार्यता को मानते हैं?

—आप नहीं चलाते हैं, मैं नहीं चलाता हूं, और उसके बगैर हम जी लेते हैं तो क्या इसी में चर्खे की अनिवार्यता कट नहीं जाती? लेकिन प्रार्थना जितना ही महत्त्व गांधी जी ने चरखे को दिया था तो मैं इसमें गहरी सचाई और सार्थकता देख सकता हूं। मुझे डर है कि चर्खे को आपने वह सीधा-सादा चर्खा नहीं रहने दिया है जिससे सूत कतता है, बल्कि उसे अपने लिये भूत बना लिया है। उस भूत के भय से पहले आप छूटें तो उस संबंध में कोई मतलब की बात हो सकेगी।

विनोबा का सूक्ष्म प्रवेश

सुना है, विनोबा जी सूक्ष्म प्रवेश कर गए हैं और अब उनसे चर्खा भी छूट गया है।

यह सूक्ष्म-प्रवेश क्या होता है ? क्या यह भी कोई आध्यात्मिक-क्रिया है ?

—जाकर पूछिए विनोबा से।

सूक्ष्म-प्रवेश के विषय में तो आप कुछ बता ही सकते हैं ?

—मुझे प्रवेश नहीं मिला है उसमें जो विनोबा का सूक्ष्म है, तो बताइए बताऊं तो क्या ? एक बात जानता हूं, यहां रेडियो खोलता हूं और न्यूयार्क की आवाज सुन जाती है। जिस आधार पर वह आवाज आती होगी उसको सूक्ष्म ही कहा जा सकता है। फिर भी विज्ञान के द्वारा रेडियो की स्थूल पकड़ में वह सूक्ष्म आ गया है। इसलिए मुझे हर सूक्ष्म का प्रमाण स्थूल में मिले तो ही लाभ लगता है। अन्यथा तो सूक्ष्म कुछ कल्पना और उपयोग के परे भी हो सकता है, भले वहां श्रद्धा पहुंचती हो। तो बराबर स्वीकार करता आ रहा हूं कि मैं आस्तिक हूं। मुझे लगता है कि ईश्वर से आगे कोई सूक्ष्मता नहीं जा सकती। पर मेरी आस्तिकता उस परात्पर सूक्ष्म को इंद्रियगोचर इस तमाम स्थूल में व्यक्त भी देख लेती है। अर्थात् स्थूल से उद्धार पाने की मेरे मन में कोई कामना नहीं है।

कोई भी 'वाद' प्रगति में बाधक

आजकल कुछ ऐसे दल और सम्प्रदाय हैं जो जातिवाद के पोषक हैं और उसे खूब बढ़ावा दे रहे हैं। दूसरे कुछ ऐसे हैं जो इसे समाज की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा बताकर तोड़ने और खत्म करने पर तुलै हुए हैं। आपकी दृष्टि में यह जातिवाद समाज की प्रगति में बाधक है या साधक ? अगर बाधक है तो क्या यह टूट सकता है ?

—हर 'वाद' प्रगति में बाधक हो जाया करता है। किसी भी नाते गठित हुए अमुक समुदाय अपनी घेरेबन्दी ऐसी कर ले कि उसका अलग स्वार्थ उत्पन्न हो आए, वह फिर अन्यान्य स्वार्थों से रगड़ और टक्कर में आए, तो वहीं मानो एक पृथक वाद उत्पन्न हो जाता है। वह सामुदायिक स्वार्थ, संख्या और क्षेत्र में छोटा हो सकता है या बड़ा भी हो सकता है; किन्तु इससे विशेष अन्तर नहीं आता और उसका स्वाग्रह उत्कर्ष में एवं गति में विघ्न और बाधा ही उपस्थित करता है।

जाति-व्यवस्था का राजनीतिक उपयोग

भारत की समाज रचना की एक विशेषता रही है। इससे भारत की संस्कृति को एक अटूटता भी मिलती गई है। जातियां स्वावलंबी घटक के रूप में अवस्थित रह सकी हैं और उनके बीच उठे झगड़े-झमेले जाति की पंचायत के द्वारा निबटाये जाते रहे हैं। इस प्रकार भारत में यद्यपि कभी केन्द्रित सर्वसत्तात्मक शासन नहीं रहा, फिर भी भारत अखण्ड बना रह सका है। कारण, इस प्रकार के विविध स्वपरिचालित जातीय घटक एक सम-सामान्य धर्म-श्रद्धा में आपस में पिरोये रहे हैं और उनको एक बनाये रखने के लिए किसी केन्द्रीय प्रशासन या प्रशासक या संविधान की आवश्यकता नहीं हुई है। इस पद्धति

से भारत देश की एकता गहरे तल पर अटूट बनी चली आयी है और राजाओं-नवाबों की आपसी कलह या लड़ाई उस अन्तर्व्याप्त सांस्कृतिक व्यक्तित्व को क्षति नहीं पहुंचा सकी है। जाति व्यवस्था ने इसमें काफी मदद पहुंचाई है।

जातीय भाव का बिखराव

पर अब स्थिति बदल गई है। अंग्रेजी राज ने उसको दूसरा ही रूप दे दिया है। राजनीति उसके कारण आदमी के सारे जीवन पर छा गयी है। सांस्कृतिक मूल्य अब उस प्रकार योजक और प्रेरक नहीं रह गए हैं। आवागमन, यातायात और सबसे अधिक पैसे के द्रुत संचरण के कारण जातियों की संघटना पूर्ववत् नहीं रह गयी है। वे अब बहुतांश पहले की तरह स्व-शासित और स्वावलंबी घटक के रूप में नहीं रह सकी हैं। जातियों का परस्पर संपर्क-सूत्र भी अब किसी समधर्मिता अथवा सांस्कृतिक एकात्मकता के आधार पर टिका नहीं है, बल्कि उसको राजनीतिक अथवा क्षेत्रीय स्वार्थों का ताना-बाना अधिक धामे रख रहा है। इस तरह जातियों के घटक बिखरते भी जा रहे हैं और उनका वह स्वरूप भी नष्टप्राय हो गया है जो समाज की सुव्यवस्था और सहयोगिता में सहायक होता था। अब तो जाति संकीर्णता और पृथक्वाद की पोषक अधिक हो आयी हैं। कुल मिलाकर जातीय-भाव आज की परिस्थिति में अपनी विधायकता खो बैठा है।

जाति-बिरादरी की मानवीय भूमिका

किन्तु जाति, गोत्र, वर्ण, संप्रदाय आदि के भाव अब भी मौजूद हैं, और काम आते हैं। उनके देखा-अनदेखा कर देना अव्यवहार्य होगा। प्रगट में राजनीति इन यथार्थताओं की निन्दा करती है, प्रच्छन्न में वही इनका उपयोग भी करती है। राष्ट्रीयता या नागरिकता इतने अमूर्त और व्यापक भाव हैं कि उनमें किसी को अपने दैनन्दिन जीवन में आश्रय या आश्वसन नहीं मिलता। शादी-विवाह में, हारी-बीमारी में या मृत्यु आदि के अवसर पर हम नागरिक अथवा राष्ट्रीय स्तर पर किसी से अपेक्षा अथवा दावा नहीं कर सकते कि वहां से सहारा या सहयोग मिलेगा। और इधर आकर पैसे की बिरादरियां बन चली हैं। करोड़पति के सामाजिक और सहज संपर्क लखपति बिरादरी तक भी कम उतर पाते हैं। इस प्रकार उनका अलग वर्ग होने से अधिक मानो अलग जाति ही बन जाती है। इन नई अर्थ-श्रेणीगत जातियों और बिरादरियों को मैं अधिक स्वास्थ्यकर नहीं मानता हूं। लेकिन यह तथ्य है कि राष्ट्र और नगर से जुड़कर आदमी को कोई सीधा सहारा नहीं प्राप्त होता है। उसके लिए किसी एक मूर्त और प्रत्यक्ष सामुदायिक गठन या घटक की आवश्यकता होती है। मेरी माता का देहांत हुआ तो अपेक्षा मूल में यही थी कि जैन लोग अर्थी के समय आ पहुंचेंगे। किसी अकृपा के भाव के कारण नहीं आ सके, यह दूसरी बात है। पर ऐसी अवस्था में अन्यान्य जन को कम ही सूझ सकता था कि उनकी उपस्थिति की मांग

होगी। ऐसी घड़ी में जाति-बिरादरी या वैसे छोटे समूह ही काम आते हैं और इसी कारण जाति बहिष्कार का भय भी बहुत कारगर होता है। समाज के भीतर व्याप्त और रचित ये मान्यतायें (सैंक्शंस) टूट गयी हैं और एक मर्यादाहीनता और परस्पर असहायता का भाव बढ़ता जाता है। अजब लगेगा, पर सच भी है, कि समाजवाद और राष्ट्रवाद के प्रचार के साथ आदमी अकेला पड़ता जा रहा है। समाज के साथ उसकी संबद्धता इसलिए क्षीण हो रही है कि बीच की कड़ी या माध्यम रूप जाति-बिरादरी लुप्त हुई जा रही है। उनकी जगह जीवन-मान (स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग) के आधार पर जो श्रेणीकृत विरादरियां बन रही हैं, वे और घातक हैं। उनसे समाज में सद्भाव या एकीभाव बनने में अधिक ही विघ्न उपस्थित होते हैं।

समाजवाद, असामाजिक मनोभाव जगाने में सहायक

अपनत्व के संबंध-विस्तार का यह प्रश्न सरल नहीं है और उत्तर मेरे निकट स्पष्ट भी नहीं है। सीधे समाज-राष्ट्र से जुड़ा नहीं जा सकता, बीच में परिवार से आगे किसी मूर्त या प्रत्यक्ष समुदाय की आवश्यकता रहती चली जाती है। मुझे प्रतीत होता है कि परम्परा से प्राप्त बनी जाति-बिरादरियों को अगर हटना और मिटना है तो स्वावलंबी ग्राम की इकाई को उदय में ले आना चाहिए। यह घटक ऐसा हो सकता है जो व्यक्ति के सुख-दुःख को सम्हाल ले और आदमी को समय पर उसमें शरण मिल सके। अन्यथा वर्तमान दशा में असहाय भाव बढ़ रहा है। इस परिस्थिति में फिर तो पैसा ही सर्वसहाय बन आता है और परस्परता का सहज सहारा लुप्त हो जाता है। मुझे भय है कि समाजवाद इस असामाजिक मनोभाव को पैदा करने में सहायक हो सकता है, और हो रहा है।

समाजवाद की महिमा और सीमा

किन्तु समाजवाद पर आप यह आरोप कैसे लगा रहे हैं कि वह असामाजिक वातावरण को पैदा करने में सहायक हो रहा है, यह तो उसके सिद्धान्त के बिल्कुल खिलाफ बात हुई? क्या समाजवाद के अन्दर कुछ असामाजिक भी है, जिसे वह फैला और बढ़ा रहा है?

—समाज पर ही जो आश्रित है वह वाद समाज की उधड़न को क्यों अभीष्ट मानेगा? लेकिन 'वाद' में इस तरह की खूबी पड़ जाया करती है। अहिंसा के सिद्धान्त के बचाव में अहिंसा का वादी हत्या पर उतर आ सकता है। जैन जन परम अहिंसाधर्मी हैं, पर स्वयं धर्म को लेकर उनमें आपस में खून-खच्चर की घटनाएं होने से बच नहीं पायी हैं। 'वाद' में जाने कहां से यह महिमा आ विराजती है। समाज के वाद से असामाजिकता भी बनती होगी तो अनजाने भाव से। लेकिन उसमें एक अंतरंग तर्क की संगति भी पाई जा सकती है। व्यक्ति को सीधे समाज से जुड़ने का आह्वान उसके वैयक्तिक-पारिवारिक

134 / गांधी और हमारा समय

आदि निजी संबंध-सूत्रों को बीच से अमान्य तक कर सकता है। इसमें निजता और पारिवारिकता मानो सामाजिकता की राह में अवरोध सिद्ध हो आती है। समाजवादी क्रांति के काल में इसके प्रभाव और उदाहरण अत्यन्त उजागर होते आए हैं। रूसी क्रांति के समय मन्तव्य था कि क्यों न विवाह और तलाक ऐसे सुलभ बन जाएं जैसे प्याऊ पर पानी। मंतव्य वह वहीं तक सीमित रहा और परिवार की संस्था अब रूस में और जगहों से अधिक ही पवित्र बनी हुई है, और तलाक पाना वहां मुश्किल समझा जाता है। शनैः-शनैः पैतृक उत्तराधिकार का भी वहां अवतरण हो रहा है।

व्यक्ति के लिये आत्मीयता का बोध आवश्यक

बात यह कि व्यक्ति को कहीं आत्मीय-योग चाहिए। यह बोध उसे आवश्यक है कि मैं किसी का हूं और कोई मेरा है। समाजवाद कहता है कि तुम समाज के हो, समाज तुम्हारा है। पर वह संबंध किसी हार्दिक सगेपन का नहीं होता, मात्र बौद्धिक और औपचारिक बना रहता है। मनुष्य को वह भर नहीं पाता। समाजवादी नेता की बात कुछ दूसरी इसलिए हो जाती है कि वह उस दल या वाद की ऊंचाई पर अपने आस-पास एक अपनी बिरादरी सी अनुभव कर आता है। 'बिलांगिंग' के भाव की कमी उसे अनुभव नहीं होती। किन्तु सामान्य जन के आस-पास संबंध-सूत्र समाजवाद की उपासना में जब कि टूट आए हैं, तब दूसरी कोई आत्मीयता की अनुभूति ऐसी उसे मिल नहीं पाती जो उसको यथार्थ में भर सके। राजनीतिक संग-साथ प्रयोजन परिमित होता है। इस तरह 'वाद' वाला समाज उसके लिए आदर्श तो बनता है, यथार्थ का काम नहीं दे पाता। यथार्थ की धरती से, अर्थात् सगे स्वजन-परिजन से, वह कट रहता है। परिणाम यह कि वह अकेला बनता है और वाद-वादी प्रयोजन पर खड़ा दल या समुदाय उसे घेर कर उसके अकेलेपन के बोध को और उत्कट बना आता है। बहस का सवाल नहीं है, प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार के वादों के प्रचार के साथ-साथ व्यक्ति में अहंभाव और असहाय भाव की वृद्धि हुई है। कहो कि उससे समाज के सम्मुख में व्यक्तित्व का वाद उतनी ही मात्रा में प्रबल बनने को विवश हुआ है।

मनुष्य इयत्तावाद से ऊपर

क्या यह तथ्य नहीं है कि समाजवाद आर्थिक और राजनीतिक वाद है। किन्तु मनुष्य को इयत्ता उतनी ही नहीं है। अर्थात् आर्थिक-राजनीतिक से अतिरिक्त जीवन के आयामों को वह वाद छूता नहीं है और इस कारण मनुष्य उससे भरपूर नहीं होता।

समाज को अगर हम राष्ट्र व्यापी बना देते हैं तो मुझसे और तुमसे अपेक्षा होती है कि पचपन करोड़ को अपना समझो, और अपने को उनका समझो। बात तो अच्छी और आदर्श है, पर कितनी ही कोशिश कर लो, उस वाले अपनेपन से जी भर नहीं पाएगा। प्रेम में एक का होकर मानो व्यक्ति भरपूर हो आता है। वैसी सघन संबद्धता समाजवाद या

राष्ट्रवाद किसी को नहीं दे पाता। राजनीतिक मतवादों की यहीं आंशिकता अन्ततः उनकी समीक्षा हो आती है।

अस्पृश्यता और ऊंच नीच : प्रश्न कर्म-क्षेत्र से अधिक भाव-क्षेत्र का

यह तो ठीक ही है कि जाति-बिरादरी से आदमी को एक सहारा रहता है और वह समझता है कि उसका कोई है और वह किसी का है। लेकिन आज जो इसका रूप विकृत और वीभत्स हो गया है, वह कैसे सुधरेगा? अस्पृश्यता उसी में से पनपी है? इस अस्पृश्यता के कारण न जाने कैसे-कैसे जघन्य और लोमहर्षक काण्ड आए दिन सुनने में और पढ़ने में आते हैं। ऊंच-नीच के इस भेद-भाव को मिटाने के लिए गांधी जी ने बहुत कोशिश की थी, लेकिन कुछ विशेष सुधार नहीं हो सका। बस हुआ यह कि अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों का नाम हरिजन पड़ गया।

—यह प्रश्न क्या कर्मक्षेत्र से अधिक भावक्षेत्र का नहीं है? अर्थात् बाहरी व्यवस्था से ज्यादा उसके लिए अंतः संस्कार पर बल देना होगा।

कुछ काम हीन मान लिए गए हैं। यदि स्वेच्छा से वे काम ऊंचे माने जाने वाले वर्गों के हाथों से होने लगें तो नीचता का भाव उनसे हट जाएगा। गांधी जी ने पाखाना सफाई के काम को एक कला तक पहुंचा दिया था और उनके पास आने वाले बड़े से बड़े शिक्षित को उस भंगी के काम की परीक्षा देनी होती थी। चमड़े का यानी चमार का काम भी उन्होंने सीखा और अपने हाथ की बनी चप्पल स्मट्स और गोखले को भेंट की।

प्रश्न में अर्थ-वैषम्य का सहयोग

असल में जिस सभ्यता में हम जी रहे हैं, उसमें सब तरह के शारीरिक कर्म और श्रम का दर्जा नीचा बन गया है। चतुराई के कामों की कीमत बेहद बढ़-चढ़ गई है। इस तरह शहर अगर जगमगाते हैं तो गांव उजाड़ और कंगाल बनने को रह जाते हैं। इस आर्थिक के अतिरिक्त भी जातीय व्यवस्था ने विकार पैदा किया है और अस्पृश्यता का अपराध भी वहीं से फूटा है। लेकिन जाति-भेद और स्पृश्यास्पृश्य भाव को अर्थरचना की विषमता ने भी बढ़ा सहारा दिया है। यदि हम शरीरश्रम के मूल्य को बढ़ा देते हैं तो आज का दीन-हीन जन अपने में आत्मविश्वास उभरता हुआ अनुभव कर सकता है। किन्तु उस अर्थाश्रित विचार से बल पाकर जो आर्थिक श्रेणियां बन निकली हैं वे तो पुरानी जातीय श्रेणियों से भी खतरनाक हैं। कारण, वह श्रेणी-भेदभाव-निर्भर नहीं रहता है, मानो समाज तंत्र में ही जड़ित हो चलता है।

चर्खे और ग्रामोद्योग का सार

जो बात ध्यान में रखने की है वह यह कि किसी परोक्ष या अमूर्त समाज के साथ की

संबद्धता से काम नहीं चल जाएगा। परिवार के वृत्त के आगे ग्राम या जाति के अपर वृत्त को भी प्रस्तुत करना होगा, जिसके भीतर दैनंदिन व्यवहार का फैलाव किया जा सके। आत्मीयता के इन सूत्रों के आधार और विस्तार पर फिर सामाजिक अर्थ-रचना खड़ी हो सकती है। खाने, पहनने, रहने की प्राथमिक आवश्यकताएं इस प्राथमिक आपसीपन के आधार पर पूरी हो जातीं, या हो सकती हों तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी जगह अपने को स्वाधीन अनुभव कर आ सकता है। फिर किसी सामाजिक हीनता के भाव का शिकार होने की आवश्यकता उसे न रह जाएगी। गांधी जी के चर्खे और ग्रामोद्योग का यही सार-आशय था। अन्यथा ग्राम इकाई का रूप ले नहीं पाता, विषमता और विद्वेष का वह स्रोत रहता है तथा बाहर के साहूकार और जमींदार का प्रभाव गांव को बंटा-फटा रखता है। अर्थात् जातीय गठन का दूसरा कोई इष्ट विकल्प प्रचलित अर्थ-व्यवस्था में बन नहीं पा रहा है। आज जब कि आवागमन के साधन द्रुत हो गए हैं और आर्थिक विवशताओं ने ग्राम-समाज को तितर-बितर कर दिया है, तब संघटना का जातीय आधार सहज के बजाए कृत्रिम और कुछ-कुछ स्थापित स्वार्थ की शक्ति लेने लगा है। उस टूटती हुई जातीय व्यवस्था की जगह भरने को स्वाश्रयी गांवों का विकल्प हो सकता था, पर उस ओर ध्यान नहीं है। समाजवाद वह पटेला है जो अर्थसाम्य की झोंक में सबको सपाट कर देना चाहता है। पर मनुष्य की वृत्ति, उसके कर्म और स्वभाव आदि की विविधता दोष नहीं है, गुण भी हो सकती है। समाजवाद, या अन्य तर्कवादी राजनीतिक मतवाद, मानव जाति में गर्भित विविधता में खतरा देखते हैं। खतरा है भी, अगर हमारी जीवन-पद्धति प्रतिद्वंद्विता के ही मूल्य पर खड़ी होती है। असल में राजनीति का धंधा इस प्रतिद्वंद्विता को बढ़ाकर ही चोखा चल पाता है। तब सपाटपन में इलाज भी मालूम होने लगता और समूह या सिस्टम के हित में व्यक्तित्व की विशेषताओं को कुचल जाने देना या मुरझा जाने देना उचित और सुविधाजनक दिख आता है। किंतु प्रतियोगी की जगह सहयोगी जीवन-पद्धति की या उस प्रकार के अहिंसक जीवन-दर्शन की, संभावना और अभीष्टता मानव समाज के चित्त में उतर सके तो वादीय एकांतता की भाषा अनावश्यक हो जाएगी। बल्कि समाज के हित में हर व्यक्ति की सृजनात्मक क्षमता का लाभ प्राप्त कर पाने की कसौटी ही प्रत्येक विचार के लिए प्रमुख होगी।

सही मानव-समाज के उदय की दिशा

आज की व्यवस्थाएं और परियोजनाएं डी-इंडिविज्वलाइजेशन (व्यक्तित्वहरण) और कलैक्टिवाइजेशन (समूहीकरण) के आधार पर रची जा रही हैं। इससे उनमें जिस मात्रा में भीमता और विशालता आती है, उसी मात्रा में परिणाम में मानव मूल्यों में हास और उतार होता दीखता है। उन्नत समाजों में आज उसी की प्रतिक्रिया और प्रतिरोध में हिप्पी आदि जैसे मनमाने मनुष्य की पौध की वृद्धि हो रही है। वह खुद खुदा होना और

रहना चाहता है और तुम्हारी सभ्यता की एक नहीं सुनना चाहता। अर्थात् वादों के रोड-रोलरों से व्यक्तियों के निजत्व को निपटाया नहीं जा सकता और परिवार और समाज के बीच किसी ऐसी वृत्त की आवश्यकता रहती ही है जहां व्यक्ति अपना निजत्व प्रकट और प्रकाशित कर सके, साथ ही उस अपने स्वत्व को विसर्जित भी कर सके। अर्थात् वह वृत्त जो सीधा व्यक्ति से पोषण पाए और व्यक्ति को रक्षा और प्रतिष्ठा दे। जाति-व्यवस्था इस आवश्यकता को पूरा करती रही थी। अब वह बिखरी है और विकारी भी हो आयी है। राजनीतिक मतवाद बस सीधे राष्ट्र को विचार में लेते हैं और अपने आपसी दलीय संधि-विग्रह के प्रश्नों में समूचे समाज को उलझाए रखते हैं। इस प्रकार देश-विदेश की प्रतिस्पर्धाओं से उबर कर किसी सही मानव समाज का उदय हो ही नहीं पाता। अगर राष्ट्र का व्यक्तित्व केन्द्रित और सशस्त्र राजसत्ता द्वारा ही मूर्त होने को विवश रहेगा, खेतिहर और कामगर सर्वथा सत्ता के अधीन होने को बाध्य रहेगा, तो युद्धों से कभी निस्तार न मिलेगा। फिर तो सदा एक विभीषिका ही मानव भाग्य को घेरे रहेगी। आज की कुछ यही हालत है यह उन कृत्रिमताओं का फल है जिन्हें हमने अपने जीवन विचार में स्थान दे रखा है। मशीनी जाल के फैलाव में वही कृत्रिमता देखी जा सकती है। मनुष्य मक्खी की तरह उस जाल में फंस गया है और भनभनाता हुआ अपनी सांस तोड़ता दीखता है।

मनुष्य को अवकाश चाहिए कि आपसी सहयोग से वह स्वाश्रयी घटकों का निर्माण कर पाए और उसके मूल में प्रेरणा स्वार्थ-लाभ की नहीं, समाज-लाभ की हो।

आज सहयोग और समूह-निर्माण नहीं होता सो नहीं, पर वह यूनियनिस्टिक वर्गहित और अर्थलाभ के आधार पर हुआ करता है। सबसे अधिक प्रचलित राजनीतिक मतवाद आज साम्यवाद है। उसने ट्रेड यूनियनों का गठन शुरू किया है। उस पद्धति से शहरी जीवन को जब चाहे तब ठप किया जा सकता है। यूनियन वाली ये इकाइयां यदि जाति बिरादरियों का स्थान लेती हैं तो क्या वहां से कोई उन्नत और स्निग्ध सामाजिकता भी फलित हो सकती है? पर नई रोशनी जातियों को मिटाकर उधर ही जाने की राह सुझाती जान पड़ती है। वह विकल्प मुझे हितकर नहीं दीखता। उसके मूल में विग्रह और विद्वेष है और अन्ततः उस आधार पर दण्डसत्ता और राजसत्ता को बलिष्ठ और गर्विष्ठ होकर ऊपर बैठने की अनिवार्यता सृष्ट होती है। इस व्यवस्था में मनुष्य की संभावनाएं अपने शीर्ष तक नहीं पहुंच सकतीं, फिर चाहे गठित दलीय सामूहिकता या अधिनायकता के बल पर उत्पादन अथवा दूसरे क्षेत्रों में कितने भी चमत्कार क्यों न कर दिखाए जायें!

समाजवाद या समाजधर्म

यूनियन यदि केवल एक ट्रेड का न हो, बल्कि एक समूचे ग्राम का हो, जहां अनेक प्रकार के कर्म आपसी हितैक्य में मिल आयें, तो वह घटक होगा जिसके आधार पर सही

138 / गांधी और हमारा समय

और सच्चा समाजवाद आरंभ पा सकेगा। वाद उसे भाषा की सीमा के कारण कहना होता है, नहीं तो उसे समाज का धर्म भी कहा जा सकता है। वाद बाहर शासन तंत्र की स्थापना करता है, धर्म भीतर भावानुशासन के यंत्र को सिद्ध करता है। व्यक्ति, जो स्वावलंबी ग्राम की इकाई है, स्वेच्छा से अपना आत्मदान दे तो वह इस अर्पण के मार्ग से ही अपने को समृद्ध और समर्थ और सिद्ध अनुभव कर आयगा। मुझे समाज के समीचीन विकास का यही विश्वसनीय चित्र जान पड़ता है।

अर्थ-वाद की व्यर्थता

अभी आपने कहा कि यह ट्रेड यूनियन, समाजवाद, साम्यवाद आदि लोगों को जाति बिरादरी से अलग कर देते हैं, लेकिन उसकी जगह भरने के लिए कोई विकल्प नहीं सुझाते। यह यूनियनिस्ट आदमी के आर्थिक पहलू तक ही देख पाते हैं, उसके घर में क्या हो रहा है, वह कैसे जी रहा है आदि से उनका वास्ता नहीं रहता। यह सब बातें सही हैं। लेकिन सवाल यह है कि वे विकल्प सुझा भी कैसे सकते हैं? वे तो सबको समान दर्जा दिलाने की बात करते हैं और उनका कहना है कि अगर हमने अपने इस वाद से आर्थिक समस्या हल कर ली तो सारी समस्याएं अपने आप हल हो जाएंगी। उनकी दृष्टि में सारी समस्याओं की जड़ आर्थिक विपन्नता है।

—आर्थिक का क्या यह मतलब हो सकता है कि फिर पारिवारिक-कौटुम्बिक आदि सब अनावश्यक हो जाएगा? अर्थ तो मानव संबंधों के निर्वाह और विस्तार का माध्यम भर है। जिन अंतर्वृत्तियों के ताने-बाने से वे संबंध बनते और स्निग्ध-सघन, अथवा रूखे-या-विकृत होते हैं तो उनकी ही सिद्धि में अर्थ सार्थक होने के लिए है। अन्यथा अर्थ व्यर्थ भी हो सकता है। इसलिए केवल आर्थिक दृष्टि और आर्थिक योजना अधूरी सिद्ध होने वाली है। दृष्टि वही काम देगी जो पूरे मनुष्य का स्वीकार करेगी। अर्थ-दृष्टि अथवा राज-दृष्टि में न इतना अवकाश होता है, न इतनी क्षमता ही हो पाती है।

जाति-बिरादरी का विकल्प

पहले भी कहा कि समाज इतना व्याप्त तत्व है कि व्यक्ति के लिए वह धारणात्मक ही रहता है, मूर्त किसी छोटे वृत्त के रूप में ही हो सकता है। क्यों यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति के लिए समाज का आरम्भ परिवार से ही हो चलता है। बाद जाति-बिरादरी का वृत्त आता है। इसी ढंग से अधिकाधिक व्यापक वृत्तों में व्यक्ति-संबंधों का, उसकी आत्मीयता का विस्तार होता जाए यही जीवन के विकास-क्रम का अभीष्ट है। जाति-बिरादरी के वृत्त का विघटन होता है तो उसकी जगह लेने को दूसरे वृत्त आवश्यक होंगे, चाहे उनका आधार पहले से बदला हुआ क्यों न हो। पर उचित यह है कि ऐसे

समूह या समुदाय पूरे व्यक्ति को समाहित कर सकें, व्यक्ति का आत्म-भाव धीरे-धीरे उस समूह में खुलता-खिलता चला जाए। इस तरह व्यक्ति के अहं को संस्कार मिलता और उसे सामाजिकता का लाभ प्राप्त होता जाता है। व्यक्ति में असामाजिक वृत्ति तब उपजती है जब उसको अवकाश नहीं मिलता और वह घिरा-बंधा अनुभव करता है। उसको लगना चाहिए कि वह किन्हीं का है और कोई उसके हैं। यह आश्वस्ति उसे मिलती रहने से उसके व्यक्तित्व को भी समीचीन विकास मिलेगा। इसके अभाव में उसमें सनक पैदा होती है और वह उद्धत-उद्वण्ड बन चलता है।

राजनीति में जाति-बिरादरी

जातियों के टूटने में कारण दलों का और दलीय आधार पर धड़ों का उपज आना भी है। यह धड़ेबंदी ऊपर से नीचे तक पहुंच गई है। नेतृत्व के उच्चस्तर पर है तो गांव-मुहल्लों में भी उसके दर्शन हो जाते हैं। परम्परा से चली आई जाति-पांति की व्यवस्था आज के राजनीतिक सत्तापरक धड़ेबंदी से उलझ और जूझ रही है। राजनीतिक स्वार्थों के आधार पर बने समूह और दल व्यक्ति को भरपूर पोषण और आश्रय नहीं दे सकते। वे प्रयोजन-परिमित रहते हैं। व्यक्ति में से लाभ और उपयोग वे लेते हैं, शेष में व्यक्ति को अपने ही ऊपर छोड़ देते हैं। उसे सच्ची आत्मीयता की खुराक कहीं से नहीं प्राप्त होती। इसीलिए देखते हैं कि राजनीति में भी आड़े वक्त जाति-बिरादरी के संगठन काम देते हैं। कितना भी कोई दावा करे, यह शक्य नहीं है कि वह शक्ति की राजनीति में इन जातीय गठनों को हिसाब में न ले और उनका लाभ न उठाना चाहे। जाति-पांति-तोड़क अभियान तब तक फल नहीं दे सकता जब तक कोई नए भाई-चारे के वृत्त साथ-साथ उदय में नहीं आते। वे व्यक्ति और परिवार की आत्मीयता को साधने और सहारने में काम आ सकेंगे। राजनीति इस काम में अधूरी सिद्ध होती रही है। आगे भी यह काम उसके वश का न हो सकेगा। अपने-अपने प्रयोजन और स्वार्थ का वहां ध्यान रहता है। सामूहिक स्वार्थ यदि बनता भी है तो वह उन विभिन्न, यहां तक कि विपरीत, स्वार्थों का समवाय और संतुलन मात्र होता है। अर्थात् राजनीतिक भूमिका पर बना दल-गठन व्यक्ति को परिपूर्ण नहीं बनाता, अधिकांश उसे चतुर और चौकन्ना बना देने में ही सफल होता है। बजाए सहृदयता के उससे डिप्लोमेसी और समय-साधकता का हुनर व्यक्ति में जगने और फलने लगता है। यह मनुष्य के समूचे और समग्र और समन्वयशील विकास में सहायक नहीं बाधक होता है।

सही सामाजिकता के विस्तार की राह में बहुत बड़ी बाधा

फिर क्या रह जाता है जो जातीय गठनों से मिलने वाली स्वस्ति और आश्वस्ति परिवारों को प्रदान कर सके? चुनाव की बुनियाद पर खड़ी धड़ेबंदी में बीज फूट के होते

140 / गांधी और हमारा समय

हैं। उससे यह सामाजिक अभीष्ट न कभी सम्पन्न हुआ है और न हो सकता है। आम चुनावों की लोकतांत्रिक समझी जाने वाली पद्धति से ग्राम-जीवन, और लोक-जीवन फटा और बिखरा ही है। समाजवाद जैसे शब्दों का आधार लेकर जातिवाद और क्षेत्रवाद को हम निषिद्ध ठहरा सकते हैं, लेकिन वह समाजवादीय राजनीतिक धारणादर्श कुछ काल के लिए जन-सामान्य को उद्दीप्त भले कर लें, उसके आत्मीय संबंधों को टिकने के लिए किसी आश्रय का निर्माण नहीं कर पाते। आदर्शात्मक बड़े-बड़े ये राजनीतिक घोष सीमित वफादारियों के कर्षण-सूत्रों को गला या घुला नहीं पाते हैं। राजनीति की दलीय वफादारी कभी पारिवारिक या जातीय घटकों को आरपार भी काटती दीखती है। आत्यंतिक 'आइडियोलॉजिकल' नेतागण इस पर अपनी वाहवाही भी मान सकते हैं कि उनके मतवाद की वफादारी में एक जवान बेटे ने अपने बाप का सिर उतार डाला। ऐसी घटनाओं के उदाहरणों का कहीं बखान भी सुना जाता है। पर वफा का यह नया आधार अन्त में थोथा निकलता और व्यक्ति को भीतर से तोड़ जाता है। परिवार निहित-स्वार्थ का गढ़ भी बन सकता है, यह सच है। इसी तरह जातीय स्वार्थ की रक्षा में हिंसा को जगाकर उसे आक्रामक बना दिया जा सकता है, यह भी सच है। पर इस तरह की वफाओं की तो भी मानव प्रकृति में गहरी जड़ें होती हैं। उनको सहसा उखाड़ना मुश्किल है। राजनीतिक शब्दों के सहारे फैशनेबिल और सतही वफाओं को उभार कर परम्परा की जड़ों को काटना या उखाड़ना मानव जाति के भाग्य में महंगा पड़ा करता है। हिंस्र क्रांतियों का इतिहास यही सिखाता है। उस उफान में अमानुषिक क्रूरताएं हुई हैं। अन्त में यही पाया गया है कि प्रकृत भाव से और परिवार आदि के क्रम से उत्पन्न वृत्त ही सामाजिक वृत्ति के विश्वसनीय आधार बनते हैं। वहां यदि विरोधी स्वार्थों की सृष्टि होती है तो उसका उपचार अन्यत्र है, राजनीति में नहीं है। इन विविध और परस्पर विषम स्वार्थों की गाथा को लेकर साम्यवाद और समाजवाद आदि नामों पर एक केन्द्रित सत्ता-स्वार्थ का आह्वान किया जाना सामाजिकता के विस्तार की राह में बहुत-बहुत बड़ा अवरोध और खतरा पैदा कर देना होगा। इसमें आदमी की संभावनाएं फलित नहीं होंगी, कुण्ठित होंगी। मनुष्य जिसके कारण मनुष्य है, उसके भीतर की वह नैतिकता-राज्यीय चिन्ता या लिप्सा की विधियों से मन्द और ह्रस्व ही होती है। उस राह अगले विकास की संभावना नहीं है। अणु-बम तक आ गए, यह बस है। नीति-निरपेक्ष शक्ति-वाद का पंथ आगे नहीं चल सकता। चलेगा तो अणुबम फटेगा और फटेगा तो सब स्वाहा हो जाएगा। इसलिए मेरा मानना है कि प्रकृत और सहज सहकार और समययोग के आधार पर बने गठन ही अंत तक समाजधर्मिता के विकास में सहायक होंगे। मतवादी आधारों या वफाओं पर जुटाए गए दल स्वार्थ-वृत्ति को मनुष्य में से मंद या क्षीण नहीं कर सकेंगे, बल्कि उसको गहरे से गहरा करके ही दम लेंगे।



5. अधिकार सत्ता

- दो ध्रुव
- राजनीति का अधूरापन
- कूटनीति
- राजसत्ता से बड़ी सत्ता
- साध्य—राज या नीति ?
- दुर्भावमुक्त गांधी

अधिकार की चेतना

राजनीतिक चेतना किसे कहते हैं ? क्या यही हमें कानून और व्यवस्था भंग करने के लिए उकसाती है ?

—राजनीतिक चेतना अधिकतर परस्पर अधिकार की चेतना हुआ करती है। समाज राज्य जैसी चीज का निर्माण करके अपने को व्यवस्थित बना पाता है। राज्य अधिकारों के आपसी तारतम्य का निर्णायक केंद्र होता है, इसलिए इस राज्य के तंत्र-रचना के विषय की चिंता और प्रबुद्धता को राजनीतिक चेतना का प्रधान लक्षण मानना चाहिए।

दो ध्रुव

अधिकार की ओर ही ध्यान रहे तो अपने से बड़ी-चढ़ी स्थिति वाले वर्ग और व्यक्ति के प्रति सद्भाव का बना रहना कठिन है। इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में सदा हलचल मची रहती है। जो ऊपर पहुंचते हैं, उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी शक्ति बनी रहे। नीचे वालों को इस राजनीतिक चेतना के अधीन क्रांति की आवश्यकता अनुभव हुआ करती है। सच पूछिए तो यह ऊंच-नीच का भाव बहुत ही सापेक्ष है। जो जहां है अनुभव करता है कि वह ऊपर और नीचे के दो दबावों के बीच है। ऊपर कुछ दीखते हैं, तो नीचे भी बहुतेरे दिखाई देते हैं। यहां तक कि जिसे राजा कहते हैं वह भी स्वतंत्र नहीं है, कई प्रकार के शक्ति-समीकरणों के बीच वह घिरा सा है। किंतु अधिकार की चेतना होते ही हमारा दबाव जो नीचे वालों पर पड़ता है, उसके प्रति हम बेखबर हो जाते हैं, हम पर जो ऊपर से दबाव आता है उसी को गिनती में लिया करते हैं। ऐसे यह क्षेत्र मद-मत्सर, विग्रह-संघर्ष आदि से भरा दीखता है। बराबर वहां तनातनी ही रहती है। समाज में अनेक स्तर हैं। अगर जो जहां है वहां से नीचे की ओर देखे तो उसमें

कर्तव्य और करुणा का भाव उत्पन्न हो सकता है। ऊपर निगाह रखने से ईर्ष्या और द्वेष मन में उभरते हैं। इस तरह दो परस्पर विरोधी वृत्तियों और दृष्टियाँ समाज और व्यक्ति के भीतर टकराती हुई चलती हैं। वह वृत्ति नैतिक मानी जाती है जिसमें कर्तव्य पर जोर है, अधिकारोन्मुख तो राजनीतिक वृत्ति है ही। इन अलग दिशाओं में पुरुषार्थ करने वाले पुरुष इतिहास में सदा से होते आए हैं। कुछ ने भीतर की दुनिया को जीतने की साधना की है, कुछ बाहर बढ़कर जय पर जय साधते गए हैं। इन दो ध्रुवों के बीच आपस में अधिकांश नासमझी रही है, जिससे जीवन में तनाव बना और बुद्धि में भी भ्रम व्यापा है।

राजसत्ता से भी बड़ी सत्ता

सच यह कि सघन करुणा स्वयं सामाजिक विषमता को स्थितिगत रूप में ध्यान में लेने से बच नहीं सकती। इसलिए परम प्रेम और ममता के व्यक्ति ध्यानी-त्यागी और विरागी बनकर नहीं रह पाते, उनको क्रांतिकारी और कर्मयोगी भी बनना पड़ता है। समाज में वैषम्य और विग्रह बनाने और बढ़ाने वाली राजनीति के प्रति ऐसे पुरुष उदासीन कैसे रह सकते हैं? तब एक विलक्षण घटना घटित होती है। राजकीय क्षेत्र में ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो स-काम नहीं होती। उसमें स्वयं सत्ता की कामना नहीं है, फिर भी सत्ता को उससे चेतावनी और ललकार मिलती है। तब सहसा प्रगट होता है कि राजसत्ता स्वयं में स्वतंत्र नहीं है, उससे बड़ी भी कोई सत्ता है जिसके वह अधीन और आश्रित है। वह सत्ता सर्वथा निरपेक्ष और तटस्थ है, यद्यपि विभु और सतत क्रियमाण है। इस शक्ति के प्रतीक पुरुष अवतारी मान लिए जाते हैं। दोनों ध्रुव, जो परस्पर विमुख प्रतीत हो रहे थे, उनमें आकर एकात्मता उपलब्ध कर आते हैं। लोगों को जैसे तब एक नव्य दर्शन प्राप्त होता है। नीति और शक्ति ब्रह्म और जगत ये दो तब विरोधी तत्व या लक्ष्य नहीं रह जाते। परम अद्वैत में दोनों मानो एक हो आते हैं। उनके उपलक्ष से सृष्टि और सृष्टा में ऐक्य की जैसे नए सिरे से स्थापना होती है।

अखण्ड चेतना

जिस चेतना से ऐसे लोग परिचालित होते हैं उसको अखण्ड चेतना ही कहना चाहिए। वह विभक्त नहीं होती। इसलिए उसे राजनीतिक भी नहीं कह सकते। राजनीतिक से अलग मात्र नैतिक कह देना भी कठिन होता है। विभक्त बुद्धि की जितनी संज्ञाएं हैं उनमें कोई उस घटना अथवा प्रक्रिया को ढंक या खोल नहीं पाती। तीन गुणों में जो हम बांट कर जगत और जीवन के सत्यों को समझा करते हैं, वह भी संभव नहीं हो पाता। आत्मिक और जागतिक जैसे दो क्षेत्र तब रह नहीं जाते। त्याग और भोग की जो दो दिशाएं निर्दिष्ट की जाती हैं उनका अन्तर समाप्त हुआ सा लगता है। अपरिग्रह में मानो सत्ता का अधिष्ठान दीख आता है। उन पुरुषों के पास कुछ नहीं होता, पर सब कुछ इन्हीं

के निर्देश पर अवलम्बित हो रहा है, इत्यादि।

राजनीतिक चेतना में सकामता और संघर्ष है। उसमें प्रहार और प्राप्ति की चेष्टा है। कहिए कि वह स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र है। वहां का कुरु-क्षेत्र युद्ध क्षेत्र ही है। लेकिन विघटन तो जीवन का नियम हो नहीं सकता, समय के साथ इसलिए राजनीति के क्षेत्र में उनसे विरोधी तत्वों और गुणों का प्रवेश भी आवश्यक हो आता है। उदाहरणार्थ, इस समय भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी हैं। अर्थात् राजनीति का क्षेत्र मात्र पौरुष का शनैः-शनैः नहीं रह गया है, उसमें वह ऋजुता और ग्रहणशीलता भी उपयुक्त होती जा रही है जिसकी प्रतीक नारी है।

सारा ब्रह्माण्ड जिस मूल द्वैत से अवस्थित और चालित है वह नर-नारी का द्वैत है। भौतिक क्षेत्र में हमारी संज्ञाएं निर्वैयक्तिक बनकर निगेटिव-पाजिटिव जैसी भले हो जाएं, पर वह आदि द्वैत सर्वव्याप्त है। लोग माइंड और मैटर, जड़ और चेतन के आदि विभाजन से आरम्भ करके अपने तत्ववादों का निर्माण करते रहे हैं। उस प्रकार की द्वित्व धारणा तो भौतिक विज्ञान के शोध से समाप्त जैसी हो आई है। मुझे प्रतीत होता है कि उससे मौलिक और प्राथमिक पुं-स्त्री के द्वित्व के आधार पर ही इधर सृष्टि के वैविध्य और वैचित्र्य को, तो उधर स्रष्टा की अद्वैत अखण्ड सत्ता को, सुगमतापूर्वक समझ में लिया जा सकता है।

शायद मैं आपकी राजनीतिक चेतना से बहुत-बहुत दूर आ गया हूं। लेकिन लगता है वह निरी एक पक्षीय मैसक्युलिन चेतना है, और सरंचना की दृष्टि से वह केवल अधूरी है।

राजनीतिक चेतना-विघटनकारी चेतना

क्या संसद और विधान सभाओं में जो उठा-पटक की अप्रिय घटनाएं सुनने और पढ़ने को मिलती हैं, उसे राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है?

—नहीं तो क्या?

इसीलिए कि ये घटनाएं संसदीय मर्यादा के खिलाफ और अनुशासनहीनता की द्योतक हैं—

—तो?

अगर इसको आप राजनीतिक चेतना मानते हैं तो विघटनकारी चेतना क्या है?

—राजनीतिक को क्या मैंने कभी गठनकारी चेतना कहा है?

मन की एकता में बाधा

आपने राजनीतिक चेतना की परिभाषा करते हुए कहा है कि राज्य के तंत्र के बारे में चिन्ता और प्रबुद्धता राजनीतिक चेतना का प्रधान लक्षण है। क्या प्रबुद्ध और चैतन्य व्यक्ति अपने अन्दर विघटन को संजोये रहता है?

—राज्य को लेकर ही तो वह प्रबुद्ध है। राज्य से ऊपर जो कोई परमार्थ सत्ता हो तो

उसके प्रति तो अभी प्रबुद्ध नहीं हैं न? इसलिये विघटन के स्तर पर ही ऐसा पुरुष जीता और चलता है। उक्ति है : डिवाइड एण्ड रूल। जिसको शासन करना हो उसे यह बांट और फांट रखने की नीति आनी चाहिए। मित्र-लाभ के लिए वहां सुहृद्-भेद सहकारी हो सकता है। नहीं, यह नहीं कि राज-नेता के काम को मैं महत्व नहीं देना चाहता हूं, बल्कि इतना ही कि उसकी मर्यादा भी समझ लेनी चाहिए। मन की एकता जहां अभीष्ट हो, स्नेह और सद्भाव अपेक्षित हो, वहां के लिए राजनीतिक चेतना उपयुक्त नहीं है।

राजनीति-औचित्य विचार से दूर

राजनीति में झूठ और सच, नीति और अनीति, न्याय और अन्याय आदि सबको उचित माना जाता है। जो राजनेता दांव-पेंच में जितना कुशल और प्रबुद्ध होता है वह उतना ही सफल राजनीतिज्ञ समझा जाता है। यह कहां तक उचित है?

—उचित-अनुचित को राजनीति अगर सापेक्षता के भरोसे पहले ही छोड़ चुकी हो तो वह पैमाना उसको नापने के लिए बचता कहां है। आप दूर रह कर अपने मन की शांति के लिए राजनीति को जो चाहें कहिए, उससे अन्तर क्या पड़ता है। संतों-ऋषियों ने उसके तिरस्कार में क्या कुछ कम कहा है। पर इससे उन ऋषियों की अपनी सीमा ही व्यक्त हुई है, राजनीति पर तो विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका है।

राजनीति का अधूरापन

प्रभाव पड़ा है उनका जो निन्दा और अवज्ञा का सहारा थामकर अपने लिए किनारा नहीं बना ले गए हैं, बल्कि उससे जूझे हैं। राजसत्ता और राजनीति को जिन्होंने अपने वशीभूत किया और उसे दिशा-निर्देश दिया है। राजनीति का कोई डरावा मैं नहीं खड़ा करना चाहता हूं। न वह तिरस्करणीय है ऐसा भ्रम पैदा करना चाहता हूं। पर वह अपनी जगह पर अधूरी है, इतना ही देख लेना काफी है। उसके मुकाबले वह धर्मनीति भी अधूरी रह जाती है जो राजनीति के प्रति निन्दा और विमुखता धारण रखने में अपने लिए समाधान और सांत्वना खोजती है।

राजनीति आखिर कुछ करती तो है। जिन प्रश्नों का वह सामना लेती है आखिर वे प्रश्न अवास्तव तो नहीं होते। मनुष्य और मनुष्य के बीच रगड़-झगड़ है, आवश्यकताओं और तृष्णाओं में होड़ मची है। नाना उपलक्षों से संघर्ष उपजा किए जाते हैं। यहां तक कि युद्ध फूटते और लाखों की जानों के साथ खेल हो आता है। इस सबको अवास्तव कह कर जो टाल जाए वह खुद को ही क्या अवास्तव नहीं बना लेता है! अध्यात्म का एक प्रकार है जो सचमुच यह करतब कर जाता है। उससे यहां लेना-देना नहीं है। आवश्यक तो वह दृष्टि या दर्शन है, वह द्रष्टा है, जो राजनीति द्वारा निपटाए जाने वाले प्रश्नों के लिए उससे ऊंचा निदान-समाधान का कोई पर्याय और विकल्प प्रस्तुत कर सकता हो।

राजनीति का अधूरापन तो प्रगट ही है। प्रत्यक्ष होता जा रहा है कि उससे एक प्रश्न हल होता दीखता हो, तो दो प्रश्न बन आते हैं। निरी शक्ति का ही तर्क लें तो इधर उसके उपयोग से उधर समान परिमाण में प्रति-शक्ति उत्पन्न हो आती है। राजनीतिक का इस दुश्चक्र से छुटकारा नहीं है। तो क्या इस भौतिक नियम से उत्तीर्ण कोई नीति है? शक्ति का वह रूप है जो प्रति-प्रहार उत्पन्न नहीं करता है? इतिहास बताता है कि हां, है। प्रतिक्रिया है, पर वहां प्रति-प्रहार नहीं है। प्रतिक्रिया वह अंतश्चैतन्य के जागरण में फलित होती और रचनात्मक बन जाती है। तो राजनीति के अधूरेपन का यह मतलब नहीं है कि उससे सधने वाले कामों को बीच में उलझा ही रहने दिया जाए। बल्कि मतलब तो यह है कि उस मानव-नीति का उदय हो जो राज की कामना से आबद्ध न हो, फिर भी उन प्रश्नों और कामों को अपने हाथ में ले और उन्हें टिकाऊ हल दे। राजनीति की यदि और जो समीक्षा ऊपर आई है उनका इतना ही आशय लिया जाना चाहिए।

अध्यात्म और राजनीति

अध्यात्म शब्द से आपका क्या अभिप्राय है? क्या राजनीति और अध्यात्म साथ-साथ चल सकते हैं?

—आदमी में शरीर और आत्मा दोनों साथ विद्यमान हैं कि नहीं। और साथ वे इसलिए रह और चल पाते हैं कि जीवन एक समग्र तत्त्व है। अर्थात् जीने की प्रवह-मानता में ही उनका अद्वैत संपन्न होता है, अन्यथा बुद्धि में तो तट दो हैं ही। दो ही नहीं, प्रवाह से निरपेक्ष होकर देखने से उनमें वैमुख्य और विरोध भी पड़ जाता है। पर जीवन स्वयं एक विरोधाभास है। राजनीति शब्द को ही लीजिए। क्या राज और नीति में किंचित् विरोध भी नहीं है? राज में क्या अनीतिक भी अवश्यंभावी नहीं होता? उसी तरह नीति में से क्या राज बन भी सकता है? यानी दीखने वाले विरोध और द्वैत में से ही हमारी गति है और राज को अगर अस्थिर की जगह स्थिर होना है तो उसे नीति का सहारा लेना होगा। इसमें विज्ञान और अध्यात्म का मेल हो ही आएगा, दूसरी संभावना नहीं है।

मनुष्य वस्तु नहीं, आत्मवान प्राणी

अध्यात्म को रूढ़ अर्थ में लेने से यहां कोई लाभ नहीं है। आखिर आदमियों से जो समस्याएं बनती हैं, जिनसे राजनीति निबटना चाहती है, क्या वे मानव को मनहीन पदार्थ मानकर चलने से निबट और सुलझ सकती हैं? निरा अंक तो वह है नहीं कि हिसाब में ठीक बिठा दिया जाए। उसमें कुछ अंतस्थ आत्म-चेतना है, भावना है। उस अन्तस्तत्त्व को बिना हिसाब में लिए मानव का, या समाज का, या अर्थ और राज्य का भी कोई नियम कैसे परिपूर्ण परिणाम ला सकता है। अध्यात्म के योग का यही मतलब है कि हम पूरे मानव व्यक्ति को विचार में लें, समूह में विलीन करके उसे अंक मात्र न मान लें।

राजनीति अध्यात्म से निरपेक्ष होकर मात्र आर्थिक और आंकिक हिसाब में जा फंसती है। चकित होती है फिर जब पाती है कि समस्या जिसे वह सुलझाने चली थी और उलझ गयी है। ऐसा इसलिए होता है कि मनुष्य मूहज वस्तु नहीं है, मनुष्य आत्मवान प्राणी है। यही अध्यात्म बोध है। बल्कि अध्यात्म और आगे जाकर यह भी बता सकता है कि स्वयं वस्तु कोई आत्महीन तत्व नहीं है, तमाम जगत यह चिन्मय ऊर्जा का प्रसार है। इन भांति जड़ गणित में भावना की आर्द्रता और मृदुता का मेल हो सकता है जो राजनीति में राज को गौण और नीति को प्रधान बना दिखाए।

साध्य—राज या नीति ?

यह तथ्य है कि राज की सत्ता ही जिसके विचार और ध्यान के केन्द्र में हो वह नीति अनीति में गिरने से बच नहीं सकती। बल्कि यों कहिए कि नीति और अनीति के बीच की रेखा उसके लिए फिर स्वार्थ-निरपेक्ष नहीं रह जाती। रेखा यदि कोई वहां उसके लिए रहेगी तो वह उसके स्वार्थ के मुताबिक बना और बदला करेगी।

दूर जाने की क्या आवश्यकता है। अभी हाल अपने यहां हुए कांग्रेस के फटाव में क्या इस सचाई के प्रमाण उजागर नहीं हो गए। सारा इतिहास बताता है कि राजनीति में नीति अन्त में वही रह जाती है जो राज को बचाती है, या राज तक पहुंचाती है। फिर उस राह में छल, छद्म, हत्या, अन्याय जो भी चाहे क्यों न आए, साध्य राज्य है। राह में आए सब साधन सिद्धि के साथ ही साथ सही हो जाते हैं !

ऋजु राजनीति

जी हां, आप कैसे कह सकते हैं कि कोई निरपेक्ष नीति जैसी चीज भी है ? और यदि वह सापेक्ष है तो वह राज्य ही तो है जो सब अपेक्षा का मूल है। फल में राज्य-लाभ है तो नीति सम्यक् और सत्य है। इस प्रकार केवल मानव-बुद्धि के भरोसे राजनीति से कभी ऊपर नहीं उठा जा सकता है। बुद्धि के अतिरिक्त मनुष्य में हृदय है, भावना भी है। धर्म मुख्यतः हृदय का व्यापार है। धर्म-नीति की ओर से सहृदयता का स्पर्श ले तो राजनीति में जो ऋजुता आएगी वह अन्ततः उसे अधिक समर्थ बनाने वाली होगी।

कूटनीति : एक ऊंची कला

कूटनीति क्या है ? क्या यह राजनीति को प्रभावशाली बनाने में सहायक होती है ?

—कूटनीति राजनीति का वह अंग है जो सतह पर नहीं आता, गहराई में रहता है। कृत्य और लक्ष्य में संबंध वहां सीधे तर्क का नहीं रह जाता, बल्कि अक्सर वह उलट जाता है।

राजनीति की बात तो दूर रही, व्यवसाय के एक बन्धु को मैं जानता हूँ। उनका बड़ा कारोबार है। यदि किसी कर्मचारी से वह अप्रसन्न होते हैं तो बुलाकर मुंह पर उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। परिवार आदि के संबंध में पूछताछ कर सहानुभूति जतलाते हैं और अन्त में उसका वेतन एकदम बढ़ा देते हैं। दो-एक महीने बाद फिर उसका मन बढ़ाते और वेतन में और भी तरक्की कर देते हैं। यहां तक कि उसकी योग्यता से वेतन पांच-छः गुना कर दिया जाता है। तब उसी मुताबिक उसकी खर्च की आदतें बनने लग जाती हैं। वहां तक पहुंचाकर फिर नौकरी से उसे एकाएक बर्खास्त कर दिया जाता है। अब वह किसी काम का नहीं रहता। अपना मूल्य वह जितना लगा बैठा है, उसका तिहाई-चौथाई कोई देने को तैयार नहीं होता। तब वह अधर में लटका रह जाता है और कुछ उपाय नहीं कर पाता। इसको क्या कूटनीति ही न कहिएगा?

संयम का महत्व

कूटनीति राजनीति का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। कहते हैं, वहां कुछ अधम या अगम नहीं रह जाता। लेकिन हर एक के वश की यह चीज नहीं है। अत्यंत कुशल और संयमी व्यक्ति ही उसके योग्य हो पाता है। संयम की धर्म में बड़ी महिमा है। लेकिन उसका कूटनीतिक उपयोग भी है; बल्कि कूटनीति में संयम जितना अनिवार्य है, धर्म के लिए उतना नहीं भी हो सकता है। धार्मिक व्यक्ति को क्रोध अगर आ ही जाए तो खुल कर उसे प्रगट कर सकता है। कूटनीतिक के लिए वह संभव नहीं है। क्रोध वहां होगा तो हिसाब और विचार से होगा। कूटनीति को इसलिए ऊंची कला का स्थान दिया जा सकता है।

कूटनीति में धर्म का उपयोग कैसे संभव है? क्योंकि कूटनीति में छल, कपट अनिवार्य है जब कि धर्म इसकी इजाजत नहीं देता।

—धर्म का प्रश्न ही कहां है? इजाजत देने वाला कूटनीति के लिए भला कौन हो सकता है। पर उसके लिए ऊंचे दर्जे का संयम, सूझबूझ और कुशलता दरकार है, इतना अवश्य कहा जा सकता है। कर्म के कौशल को क्या योग ही नहीं बताया गया है?

दुर्भाव मुक्त गांधी

कूटनीति में गांधीवादी दृष्टि क्या है?

—गांधी के पास तो कूटनीति के लिए अवकाश ही न था। अवकाश इसलिए न था कि कूटनीति जिस आधार पर सफल होती है वह उन्हें सदा और सहज सुलभ रहता था। कूटनीति की बुनियाद में है सहानुभूति और समर्थन का वह आश्वासन और विश्वास जो सामने वाले में आप अपने प्रति उत्पन्न कर सकते हैं। गांधी जी में दुर्भाव का कण भी न था। कूटनीति उस दुर्भाव को छिपाने में सफल होती है। गांधी जी के लिए वह चेष्टा तक

आवश्यक न होती थी। इसलिए कूटनीति के स्तर पर भी उन्हें हराना कठिन था। अपने इरादों को हथेली पर वे इसलिए रख सकते और अपनी बाजी के पत्ते प्रतिपक्षी के समक्ष खोल सकते थे कि उनमें दुर्भावना का अंश भी न रहता था। न भय था, न फल में आसक्ति। इसलिए अपने इरादों के साथ तत्परता और दृढ़ता जताने में भी उन्हें कठिनाई न होती थी। कूटनीतिक तो अपने विरोधीभाव को उस क्षण के लिए पीछे रख ले जाएगा, गांधी जी के विरोध में भी चूंकि सद्भाव और सहानुभूति भरी रह सकती थी, इसलिए उनकी खुली चेतावनी और धमकी भी गहरी कूटनीति का काम कर जाती थी। पर गांधी की बात को छोड़ दिया जा सकता है। उनके व्यक्तित्व की निर्मल पारदर्शिता उन्हें अलग कोटि दे देती है। हम सामान्य जनों के इरादे सदा उतने निर्दोष नहीं हुआ करते। इसलिए इन इरादों को एक पर एक तालों के भीतर रखकर हमें चलना पड़ जाता है। इस तरह यों कहिए कि कूटनीति प्रचलित जीवन का अंग ही हो रहती है। राजनीति में फिर उसका विशिष्ट स्थान हो तो क्या विस्मय!

हमारी विदेश नीति : तटस्थता के लिए आत्मनिर्भरता आवश्यक

हमारी वैदेशिक नीति तटस्थता और गुटनिरपेक्षता की है। पर क्या हम सचमुच तटस्थ और गुटनिरपेक्ष हैं ?

—तटस्थ होने के लिए पहले आत्मनिर्भरता आवश्यक है। अन्यथा तटस्थता डगमग रहेगी। आपका अपना अस्तित्व और स्वार्थ कहीं न कहीं ऐसी आड़ में पड़ेगा कि तटस्थता के दावे पर दबाव आए बिना न रहेगा। ऐसी तटस्थता कमजोरी की निशानी होगी। यहां तक हो सकता है कि उस भूमि पर प्रतिपक्षी शक्तियों के स्वार्थ इस प्रकार खेलने और फैलने लग जाएं कि आप बहुत अंश तक अपने को निरुपाय अनुभव करें।

उत्पादन-उद्योग मुद्रा के बजाय मानव केन्द्रित हो

मैं मानता हूं कि हमारी योजनाएं, अर्थ-रचना और अर्थ-नीति सच्ची तटस्थता को संभव और पुष्ट बनाने वाली नहीं हैं। इसके लिए देश को निर्यात-पटु और उद्योग प्रधान बनाने के बजाय आत्मनिर्भर और कृषि-कुटीर-मूलक उद्यम-प्रधान बनाने की ओर उठना चाहिए। अभी नगर-प्रधान हमारा अर्थ-विनियोग है। दूर-दूर से श्रम और श्रमिक चुस कर आता और उस माल के बनाने में लगता है जो निर्यात के जरिए हमको विदेशी मुद्रा प्राप्त कराए। होना यह चाहिए कि श्रम स्वाधीन होकर उत्पादन वह करे जो पहले यहां की आवश्यकता और उपयोग से जुड़ा हो। उत्पादन और उपभोग में सीधा संबंध होना चाहिए। इतना सीधा कि उत्पादन में बड़े यन्त्र और वितरण में मध्यवर्ती की आवश्यकता कम होती जाए। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं इस प्रकार उपलब्ध होने लग जाएं तो उसके बाद दूसरे उत्पादनों की ओर ध्यान दिया जा सकता है। इस पद्धति से श्रम का और

मनुष्य का मूल्य बढ़ेगा, गांवों में जान आएगी और देश परमुद्रापेक्षी उतना न रहेगा। तब तटस्थता की नीति अधिक सक्षम और यथार्थ बन सकेगी। उस समय शहर विदेशी सभ्यता और विदेशी रोजगार के एजेन्ट बनकर देश पर छाएंगे नहीं, उस पर आर्थिक दासता नहीं डाल सकेंगे। आज की स्थिति वैसी ही मानिए। भारत का अधिकांश तो गांवों में बसा है। वहां उत्साह नहीं है, अभिक्रम नहीं है, भूख है और बेकारी है। देहात उजड़ा जा रहा है और शहर चकाचौंध पैदा कर रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शहरी जगमगाहट उधार की है और देश को परमुद्रापेक्षी ही बनाती जाएगी। मुद्रा के आगे मनुष्य अपदार्थ बनेगा और राजनीतिक समस्याएं हमें घेरती चली जाएंगी। समृद्धि, सम्पन्नता और सामर्थ्य का जो लक्ष्य पश्चिम के देशों की देखा देखी हमने अपनाया है, उस दिशा में भारत के भविष्य की उज्ज्वलता नहीं है। नकल में से भारत नहीं चमकेगा। उसके पास इतिहास है और अपनी एक दिशा भी है। न वह दिशा सोशललिज्म है, न कैपीटलिज्म। राजनीतिक सभ्यता ने यदि इन दोनों के सिवा तीसरा मार्ग नहीं छोड़ा है, तो भी राजनीति पर उसकी आस्था या उसका भाग्य अटका नहीं रहने वाला है। राजनीति के पार भी कुछ है और शायद अगले मार्ग के लिए प्रकाश भी वहीं है। न हो तो फिर मानव जाति के लिए आत्मध्वंस ही शेष रह जाता है। लक्षण प्रगट हैं कि सभ्यता का यह आर्थिक और राजनीतिक रूप ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के साथ अब अनमिल और अपर्याप्त बन गया है। यह भारत देश उधर लपक कर कुछ पाएगा नहीं। खो रहा है, यह तो स्पष्ट ही है। यदि दो महाशक्तियों के बीच भारत को अपनी तटस्थता निर्विघ्न ही नहीं रखनी, बल्कि उसको सार्थक और समर्थ भी बनाना है, तो उसे बाहरी मुद्रा पर ताकने से हटकर अपने देशवासी मानवों पर ध्यान देना और तदनुकूल अर्थ-संरचना का विकास करना है। हमारी विदेशनीति यदि तटस्थता की हो तो राष्ट्र की उद्योग-व्यवसाय-नीति उसके सर्वथा अनुकूल नहीं है। उस प्रकार की उद्योग-व्यवसाय की नीति रखने से हमारी तटस्थता पर भार बढ़ता ही जाएगा और एक न एक रोज उस नीति को टूटना होगा। तटस्थता भारत की प्रबल, प्रशस्त और अग्रगामी बन सकती है, अगर भारत अपनी उत्पादन और व्यवसाय-उद्योग-नीति को मुद्रा के बजाय मानव में केन्द्रित बना ले और जीवन की बुनियादी जरूरतों में सर्वथा स्वावलम्बी बन जाए।

परमुद्रापेक्षी की तटस्थता झूठी

वर्तमान में जब कि हम अभी कई मामलों में आत्मनिर्भर नहीं बन सके हैं और अपनी बुनियादी जरूरतों के लिए विदेशों का मुंह ताकना पड़ता है, हमें किस राह चलना चाहिए। क्या विश्व की दो महाशक्तियों में से किसी एक के साथ हो लें, या यों ही दुलमुल बने रहें?

—दुलमुल बने रहना पड़ेगा, अगर हम राजनीति में तटस्थता चाहेंगे और अर्थनीति

150 / गांधी और हमारा समय

में उसी पुरानी मुद्रावलंबिता पर जिएंगे। वैसी कोई अनिवार्यता तो है नहीं। बस एक राजनीतिक व्यामोह को दूर करना है जो हम पर छा गया है। इस मोह में तटस्थता को कायम रखना बहुत दूर तक संभव न होगा। इस समय तो तटस्थता के नीचे रूस और अमेरिका के अपने-अपने प्रभाव-विस्तार की प्रवृत्ति के जाल काफी फैल गए लगते हैं। उनके रहते तटस्थता सच्ची बनने वाली नहीं है।

स्वावलम्बी तटस्थ राष्ट्रों का संगठन : एक बड़ी शक्ति

इन दो महाशक्तियों की सीधी मुठभेड़ तो सहज शक्य नहीं दीखती। पर उनकी कूटनीति की बिछात पर भारत को मोहरे के मानिन्द समझा जाता हो तो यह बिल्कुल संभव है। उनके नक्शे तो भूमण्डल-व्यापी हैं। तीसरी शक्ति चीन है जो अब कम जबर्दस्त नहीं है। अगर मानव जाति के भविष्य को इन महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के खेल का अखाड़ा नहीं बनाना है तो समय रहते किसी समन्वित और संग्राहक मानव-शक्ति को उदय में आना होगा। भारत की तटस्थता यह काम कर सकती है। गुटनिरपेक्ष देशों की सर्वोच्च कमान की बैठक दिल्ली में हो, ऐसा प्रस्ताव यूगोस्लाविया की ओर से है। निष्पक्ष देशों के समन्वित प्रयत्न सचमुच सफल और सार्थक हो सकते हैं, अगर भारत मूल से स्वावलम्बी और समर्थ हो। शस्त्र-सामर्थ्य इतना आवश्यक नहीं है, आवश्यकता आत्म-सामर्थ्य की है। उन तीनों महादेशों की अपरिसीम सशस्त्रता उन्हें आपस में ही बहुत अंशों तक काट देती है। यदि कुछ देश हिम्मत के साथ गुटनिरपेक्ष और शस्त्र-निरपेक्ष होकर मानव जाति के सर्वांगीण हित का प्रतिनिधित्व करने खड़े हो जाते हैं तो उनकी आवाज संयुक्त राष्ट्र-संघ में अब भी अनिरोध्य बन सकती है। कठिनाई बस यह है कि नए और छोटे देश सुरक्षा की चिन्ता में शस्त्र के लिए परापेक्षी बन आते और इस प्रकार बाहरी प्रभावों की अधीनता से छूट नहीं पाते हैं। आज के शक्ति-समीकरण का व्यूह ऐसा जटिल बन गया है कि एकाएक कोई बड़ा हमला हो नहीं सकता। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर पक्के विश्वास के साथ कुछ देश अपनी एक आवाज बनाकर खड़े हो जाते हैं तो फिर उस आवाज को सुना-अनसुना नहीं किया जा सकता है। पर यह होगा तभी, और उन देशों के द्वारा, जो भिखारी नहीं होंगे; बल्कि अपने में स्वस्थ, समर्थ और स्वावलम्बी होंगे। नैतिक साहस के लिए आत्मावलम्बन अनिवार्य है।

ये उलझनें—गांधीनीति से भटकने का परिणाम

गांधी हमारे देश में तो हुए और उनको शायद अपने त्राण के लिए विश्व ही एक दिन अपना आवश्यक देखे। पर भारत उनसे भटक गया और अपने लिए हमेशा के वास्ते पाकिस्तान की समस्या उपजा बैठा। बाहर का पाकिस्तान बतौर हक भारत के भीतर के इस्लाम और मुसलमान से और कश्मीर से अपने को जुड़ा माने तो आप क्या कीजिएगा?

फिर नेहरू की राजनीति में से विरासत के रूप में प्राप्त चीन की समस्या। यह सब उलझन गांधी-मार्ग और गांधी-नीति से भटकने के फलस्वरूप भारत के भाग्य में आयी है। पर कोई कारण नहीं कि भटकने को अब समाप्त, और नए विश्वास और संकल्प को प्राप्त, न किया जा सके। तब समस्याओं से एक-एक कर निबटने का मार्ग भी दीख सकेगा। यह भी संभव हो सकेगा कि गुटनिरपेक्ष राज्यों की गिनती बढ़े और गुटनिरपेक्षता की नीति नए अफ्रीकी और एशियाई राष्ट्रों को भी प्रिय हो आए। तब संयुक्त राष्ट्र संघ बड़ी-बड़ी शस्त्र-सन्नद्ध शक्तियों का गढ़ और क्रीड़ा क्षेत्र न रह कर यथार्थ में ही मानव जाति की आवाज को अनुगुंजित करने का माध्यम बन सकता है। हो सकता है कि मानव जाति का भार केन्द्र तब शक्ति-सत्ताओं की अधीनता से हटकर मानवान्तःकरण की ओर बढ़ता दिखाई दे। यह तनिक भी असंभव बात नहीं है। बल्कि व्यवहारिक राजनीति के वृत्त में संभव ही नहीं, आसन्न भविष्य तक में व्यवहार्य बन सकती है। उसकी पहल स्वाधीन भारत कर सकता था। राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-लाभ की गांधी की अद्भुत पद्धति ने स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री की हैसियत से नेहरू को नैतिक पुण्य की वह साख, वह पूंजी प्रदान की भी थी। नेहरू ने उस पूंजी के बल पर दुनिया में कुछ अपेक्षाएं अवश्य जगाईं, पर अन्त तक नेहरू ने उस सारी पूंजी को गंवा ही नहीं दिया, बल्कि भारत के माथे ऋण का और दूसरी समस्याओं का बोझ भी डाल दिया। उनका आर्थिक समायोजन देश को आत्मनिर्भर नहीं बना सका और उनका वैदेशिक मोह भारत राष्ट्र की आत्मिक यथार्थता का अयथार्थ चित्र ही दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करता रहा।

पर अतीत को छोड़ दें और भविष्य को संभालने की सोचें तो भी नये आरंभ से उस आस्था को जगाया जा सकता है और अपनी राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति को तदनुकूल स्वरूप दिया जा सकता है।



6. समाज और संभावना

- सवाल अस्तित्व का
- संस्थावाद एक रोग
- भीख और भिखारी
- विश्व मानव का उदय
- आदर्श समाज
- समाजवाद का वर्तमान : वृद्ध का भविष्य
- समाज, वाद और व्यक्ति

समाज और हम : सवाल अस्तित्व का ?

सामाजिकता क्या है ? जब हम यह कहते हैं कि अमुक आदमी सामाजिक है, तो इससे यह ध्वनि आती है कि कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सामाजिक नहीं हैं। तो क्या सचमुच कोई असामाजिक हो सकता है ? और अगर हो सकता है, और है, तो क्यों ? क्या इसलिए कि उसे सामाजिक बंधन अरुचिकर प्रतीत होते हैं ?

—समाज में तो हर एक का ही अस्तित्व है। पर सामाजिक और असामाजिक विशेषणों का आशय यह नहीं है कि कोई समाज से अछूता रहता है, बल्कि आशय यह है कि एक व्यक्ति समाज के अस्तित्व और उत्कर्ष में साधक है, दूसरा बाधक।

शरीर में कुछ कोष हो सकते हैं जो विषम और विसंगत हैं। उनसे स्वास्थ्य की हानि और शरीर का क्षय होता है। रोग के जीवाणु वहां से उपजते और फैलते हैं। रोग और स्वास्थ्य, इनकी भिन्न-भिन्न अनुकूलता से हम जीवाणुओं में जैसे भेद कर सकते हैं, वैसे ही सामाजिक और असामाजिक तत्वों में भेद किया जा सकता है।

समाज की अनुगामिता में गति-विकास असिद्ध

पर मैं सामाजिक शब्द को बहुत अंतिम नहीं मानता हूं। व्यक्ति की सार्थकता इसमें नहीं हो सकती कि वह समाज का अनुगत हो। तब तो समाज में यथास्थिति ही रहे जाएगी, गति-विकास सम्भव न होगा। इस गति-तत्व का निवेश और प्रवेश चैतन्य या चैत्य कण से आता है। इस चित् प्रेरणा का स्थान वह है जिसको व्यक्ति का अन्तःकरण कहते हैं। यह अन्तःकरण सामाजिक से आगे नैतिक और आध्यात्मिक का प्रतीक कहा जा सकता है। अंतिम भाषा का उपयोग करें तो वहां ईश्वर का निवास है। घट-घटवासी-

राम वाला घट मनुष्य में अन्तर्भूत वही अन्तःकरण या कॉन्स्यन्स है। यह अंतश्चैतन्य-केन्द्र असामाजिक नहीं होता, पर सामाजिक से कहीं अधिक होता है। इसलिए इस गहन अन्तर्यामी प्रेरणा से युक्त पुरुष समाज के लिए ध्रुव प्रकाश के समान हो जाते हैं। अपने समय में समाज अपनी स्वीकारता में उन्हें समा नहीं पाया और वे असामाजिक और अपराधी तक समझे जाकर दंडित किए गए हैं। पर आगे जाकर इतिहास में वे ही मूल आदर्श के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।

समाज शब्द अंतिम या आदर्श नहीं

समाज अंत में वह है कि जिसके प्रति व्यक्ति में अपनत्व (सेन्स आफ विलांगिंग) होता है। अर्थात् समाज अपने में पूर्ण नहीं है। मैं जिसके प्रति लगाव अनुभव करता हूं, वह अमुक विशेषण से युक्त मेरा समाज होता है। जैन हूं तो जैन समाज, भारतीय हूं तो भारतीय समाज। किन्तु जैन अथवा भारत से निर्दिष्ट बना समाज ही तो सब कुछ नहीं है। इसलिए सामाजिक शब्द कभी अंतिम या आदर्श नहीं हो सकता। सामाजिकता को ही धर्म मानने या किसी समाजवाद को परिपूर्ण कार्यक्रम मान लेने में यही बाधा है। उसमें एक बन्दपना (एक्सक्लुसिवनेस) आ जाता है। जैसे राष्ट्र सीमित है और राष्ट्रवाद मानवता के ऐक्य साधन में एक जगह रुकावट भी हो सकता है। उसी तरह समाजवाद भी अमुक निहित स्वार्थ पर जाकर रुक सकता और निरन्तर घटित होने वाले विकास की प्रक्रिया में बाधक हो सकता है।

असामाजिकता : अवरुद्ध मानस की प्रतिक्रिया

सामाजिकता में व्यक्ति के चित्-विकास का पूरा अवकाश रहना चाहिए। साधारणतया वह अवसर खुला रहता नहीं है। तरह-तरह की विषमताएं रहती हैं और वे चित्-प्रवाह में अवरोधक बनती हैं। अवरुद्ध या कुंठाग्रस्त मानव-चैतन्य प्रतिक्रियावश असामाजिक अथवा समाज-विरोधी हो चलता है। यहीं से अपराध-तत्व की सृष्टि होती है। आधी दुनिया उजाले में अगर सतह के ऊपर है, तो आधी उस सतह के नीचे के अंधेरे में भी है। इसको समाज का अधम या अण्डर ग्राउन्ड भाग कहा जाता है। समाज से हटकर अक्सर एकक व्यक्ति में भी आधा यह अंधेरा भाग हुआ करता है। अगर उस प्रगट और प्रकाशित भाग में व्यवस्था और मर्यादा है, तो उसी के दबे और ढके भाग में दुत्कार और द्रोह है। आदमी और समाज अपने में इन दोनों भागों को लेकर जीता और चलता है। इन्हीं दोनों के द्वन्द्व की प्रक्रिया में से जीवन में गति-उन्नति या अवगति घटित होती है। कहते हैं देव-दानव युद्ध चित्त में चलता ही रहता है। इस तरह देखा जाय तो सामाजिकता गुण की भाषा में एक अर्ध-सत्य ही रह जाती है। आदर्श निर्गुण है और उस ओर के उन्नयन में सामाजिकता से संघर्ष भी आता है और उसमें प्रत्यक्षतः गतिशील प्राणी को सामाजिक से

154 / गांधी और हमारा समय

असामाजिक अधिक होना पड़ता है। ऐसे नैतिक नियम की प्रतिष्ठा में सामाजिक और राजकीय कानून की अवज्ञा और अपराध के लिये 'होना' आवश्यक हो जाता है।

चोर हर काल, हर देश में अपराधी और दंडनीय है। लेकिन ऐसे दो चोरों के बीच प्रमुख रूप में ईसा को क्रॉस पर चढ़ाया गया। चोरों से भी अधिक त्रास उन्हें शायद इसलिए दिया गया कि वे अधिक असामाजिक और खतरनाक माने गए थे। चोरों-उचक्कों की जगह जेल होती है। आजीवन जेल की सजा, दस बारह वर्ष जेल में रहकर भुगत जाया करती है, लेकिन उससे कहीं अधिक काल गांधी को और उनके अनेक सत्याग्रहियों को जेल में रहना पड़ा। क्या इसी कारण नहीं कि सामाजिकता के प्रतीक कानून की निगाह में वे घोर असामाजिक थे!

इसलिए सामाजिक असामाजिक शब्दों को मैं बहुत अन्तिम या विश्वसनीय नहीं मानता हूँ। समाज की सबसे व्यापक इकाई आज राष्ट्र है। बिल्कुल सम्भव हो सकता है कि इस राष्ट्रीय समाज का नेता पुरुष उस राष्ट्र के लिए देवोपम हो और वही विरोधी अथवा प्रतिस्पर्धी राष्ट्र के निकट दानव समान बन आए। जिन्ना साहब भारतीयों के आदर्श न रहे, न नेहरू जी पाकिस्तानियों को उतने लुभावने लगते होंगे। अर्थात् संगठित सामाजिकता में परस्पर प्रतिकूलता भी हो आया करती है। समाजवाद के लिए भी यह सम्भव हो जाता है। राष्ट्र में गठित होकर समाजवाद पड़ौसी राष्ट्र की प्रतिस्पर्धा में बखूबी आ सकता है। रूस और चीन के समाजवादों का हाल सामने ही है। दोनों का धर्म समाजवाद है, पर उन-उन के समाजवादों में आपसी दुश्मनी भी मजे में हो सकती है। इसलिए समाज शब्द पर धर्माधर्म के निर्णय को निर्भर मानने की सलाह मैं आपको नहीं दूंगा।

समाज का तट

तो समाज में 'काम करना चाहिए' का क्या अर्थ होता है? और जो समाज में काम करते हैं वे समाज को बनाते बिगाड़ते हैं या खुद बनते बिगड़ते हैं?

—समाज वहीं से न हमारे लिये शुरू हो जाता है जहां हम अपनी सीमा पर अपने को समाप्त पाते हैं। अर्थात् व्यक्ति के लिए जहां से अन्यता और संबद्धता का आरम्भ है, वहीं से समाज का तट भी शुरू हो गया जान लीजिए। देखा जाए तो व्यक्ति जिन इन्द्रियों को अपनी मानता है वे सब बाहर के प्रति खुलती हैं। आँख दृश्य को देखती और कान श्रव्य को सुनता है। सारी चेतना इसलिए है कि वह अन्य की अनुभूति आत्म तक पहुंचाए। जीना इसी प्रक्रिया का नाम है। केवल अपने में जीना हो नहीं सकता। 'मैं' के साथ ही 'वह' हो आता है। इस तरह संबद्धता के बीच में से होना और व्यापना ही जीना और करना कहलाता है।

समाज में व्यक्ति रहता और करता है। इससे अन्यथा कुछ हो नहीं सकता। काम नहीं

तो किया कहाँ जाएगा? हर करना संबद्धता की अपेक्षा रखता है। इसलिए समाज के अन्तर्गत ही वह संभव है। आपसी संबंधों के ताने-बाने से ही समाज बना है न? इस ताने-बाने के विस्तार से ही वह फैलता है न? इस बुनाई से बने पट में एक इकाई का, दायित्व का भाव उदित और अनुभूत हो, इतना अवश्य आवश्यक है इसके लिए कि उस समाज को अमुक संज्ञा (आईडेंटिटी) दी जा सके।

तो होना अगर 'जीना' भी है, अर्थात् उसमें चेतना है, स्पन्दन और स्फूर्ति है, तो उसमें से 'करना' अवश्य निकलेगा। यह 'करना' एक साथ अपने से और अन्यान्य से जुड़ा है। दोनों तटों के बिना क्रिया सम्भव हो नहीं सकती। हर 'करना' अपने लिए भी है, अन्य के निमित्त भी है। इन दोनों दिशाओं से कोई क्रिया मुक्त नहीं है, हो नहीं सकती है।

भीतर भाव, बाहर कृत्य

इसलिए बनना बिगड़ना किसी एक का अपने में संभव नहीं है। ये दो अलग हित हैं ही नहीं। स्वार्थ और परमार्थ में इस दृष्टि से भेद नहीं देखा जा सकता। अर्थात् परमार्थ वह नहीं हो सकता जिसमें सच्चा स्वार्थ नष्ट हो और यदि कुछ ऐसा स्वार्थ है जो परमार्थ के अनुकूल नहीं है, तो ऐसे स्वार्थ में अपने को सफल मानने वाला व्यक्ति चलते-चलते अपने ही गहरे में एक अकृताथता अनुभव कर आने से बच न पाएगा। अपने को बनाने में समाज को हम बिगाड़ नहीं सकते हैं। समाज में बिगाड़ आता दीखे, विषमता बढ़ती दीखे, तो मान लेना चाहिए कि हम भी असल में बन नहीं बिगड़ ही रहे हैं। अपने से अलग होकर भला-बुरा कुछ भी किया नहीं जा सकता। जो बाहर कृत्य है, वही भीतर भाव है। इन दोनों में कोई विच्छेद नहीं है। भाव तो दीखता नहीं, कृत्य हिसाब में आ जाता है। इसलिए भले लगने वाले काम के पीछे जरूरी नहीं रहता कि इरादा भी भला ही हो। व्यक्त कृत्य के हेतु के अव्यक्त रह जाने के कारण आदमी के लिए छल और कपट संभव हो आता है। पर चित्-विज्ञान के नियमों में तो अपवाद का अवकाश है नहीं। इसलिए निश्चय रखना चाहिए कि छल के यत्न द्वारा हर कोई पहले अपने को ही छलता है।

भाव और कर्म में अजस्र सम्बद्धता

इस दृष्टि से समाज-कल्याण के हर कार्यक्रम के पहले मैं भाव-शोधन को आवश्यक मानता हूँ। साध्य और समाधान एक अविभाज्य शृंखला की कड़ियाँ ही हैं। उनमें अन्तर नहीं है। भाव और कर्म आपस में सर्वथा अनुबद्ध हैं। उनमें निरंतर और अजस्र संबद्धता है। भाव से यदि कर्म निसृत होता है तो फिर कर्म से भाव की भी पुष्टि होती है। इस पद्धति से अध्यात्म और व्यवहार के दो अलग वृत्त नहीं रह जाते। चित्त-

156 / गांधी और हमारा समय

शुद्धि या आत्म-शुद्धि भी विजनता में नहीं हो सकती। न कोई जन-मंगल चित्त-शुद्धि के अभाव में घटित किया जा सकता है। दोनों एक दूसरे के लिए कसौटी हैं और सीमा हैं। वह अध्यात्म व्यसन बन सकता है जो जगत् के तट से विमुख है। वह कार्यक्रम और आन्दोलन भी उसी प्रकार अनर्थक और ध्वंसक हो सकता है, जिसकी प्रेरणाओं में सही संशोधन नहीं हो पाया है।

बाहर जो दीखता है क्या आंख के बिना दीख सकता है? अर्थात् वस्तु की सत्ता चैत्य-सत् के बिना संभवनीय नहीं हो सकती। वस्तु-जगत् का निरपेक्ष चिन्तन इसलिए अधूरा है। न आत्म-जगत ही अपने में किसी यथार्थता का निरपेक्ष वृत्त है। जैसे विद्युत धन-ऋण बिंदुओं के बीच योगात्मक सतत प्रवहमानता का नाम है, उसी प्रकार जीवन-चैतन्य भी आत्म-केन्द्र और जगत-परिधि के बीच निरन्तर प्रवाहित प्राण क्षमता का नाम है। इनमें भेद अथवा अचल द्वैत मानकर चलने में खतरा ही खतरा है।

संपत्ति और पद-प्रतिष्ठा

समाज में अच्छे लोग भी हैं और बुरे भी। बुरों के कारण अच्छे लोगों को समाज में स्वच्छन्द और निश्चिन्त जीवन बिताने में कठिनाई होती है, क्योंकि वे समाज की मर्यादा, कानून और व्यवस्था को भंग करते रहते हैं। अगर वे अच्छे बन जाएं तो समाज अच्छा बन सकता है। लेकिन हम उनके आतंक से डरे होते हैं और उनसे दूर रहना चाहते हैं। यहां तक कि निवास स्थान की तलाश करते समय भी यह पता लगाना नहीं भूलते कि अड़ौस-पड़ौस कैसा है? अपने लिये सुरक्षित जगह बनाकर अगर हम उनका सुधार करने निकलते हैं तो क्या सुधार हो पाएगा? इसी तरह हम गरीबों और पिछड़े और पद-दलितों के बीच रहने में अपमान समझते हैं। यह सब क्यों? हम उनसे डरें क्यों? क्यों न उनका सुधार करके उन्हें अच्छा बनाएं और उनके बीच रहें। क्या बिना इसके सच्चा सुधार संभव है?

—सुझाव आपका जो प्रश्न के अंत में है, गलत नहीं है। लेकिन निर्भीक वही हो सकता है जिसके पास खोने को कुछ है नहीं। जिसने संपत्ति बटोरी है, पद-प्रतिष्ठा बनाए रखना चाहता है, उसे चिंतित और भीत रहना ही पड़ जाता है। इसलिए सुझाव सीधा होने पर भी अमल में मुश्किल से आता है और भले-बुरे के बीच मानो कानून की गहरी रेखा खिंची रहती है। उस कानून की लकीर के बस की यह समस्या नहीं हो सकती, क्योंकि वह लकीर असल में तो कहीं है नहीं। भले क्यों भले बन पाए हैं और बुरे क्यों बुरे बनने को विवश हुए हैं, इसकी पड़ताल में जाएं तो श्रेय या दोष उन व्यक्तियों का ही नहीं मिलेगा, बल्कि उसमें सामाजिक परिस्थितियों का भी भाग होगा। अब कानून जो भले को एकदम भला और बुरे को निरा अपराधी ठहरा देता है, कैसे इस समस्या के निबटारे के काम आ सकता है?

परिणाम क्या होता है? परिणाम होता है कि सामान्यतया पुलिस के और बदमाश कहे जाने वाले वर्ग के बीच सांठ-गांठ हुई रहती है। पुलिस पर समाज की रक्षा का दायित्व है, गुण्डे को समाज की जड़ काटने वाला समझा जाता है। पर व्यवस्था वह चीज है जो दोनों में संधि करा देती है। पुलिस कांस्टेबल को वेतन कितना मिलता है? क्या आज की अर्थ-व्यवस्था में वह कांस्टेबल पलट कर यह नहीं कह सकता कि हुजूर, क्या ईमानदारी से आप यह तनखा देकर मुझसे ईमानदारी की आशा कर सकते हैं? कह नहीं तो यह सोच तो सकता ही है। और बस उस आधार पर वह भी अवसर बनाता और अपराधियों के साथ तालमेल बिठा लेता है।

भला-बुरा और चलन का खोटा मूल्य

असल में समाज को भले बुरे कट-बटे खानों में बांटकर देखना ही सही नहीं है। इस वक्त दुनिया के जिस हिस्से पर सूरज की रोशनी है वह उजला है, बाकी आधा काला है। लेकिन बारह घण्टे बाद अंधेरा उजला हो जाएगा और उजला काला पड़ जाएगा। समाज के कहे जाने वाले भले वर्ग से उसकी सुख-सुविधाएं जरा छीन कर देखिए, मालूम होगा कि वह सब बुराई तल में उनके भी सोई पड़ी थी और अभाव के उपस्थित होते ही ऊपर तिर आई है। संभव है कि वैसा ही दृश्य सुविधाजनक स्थितियां देने पर बुरे माने जाने वाले वर्ग के साथ ही घटित दीख आए, प्रतीत हो आए कि उनके भीतर भी मनुष्यता और सज्जनता थी और सिर्फ अनुकूलता की प्रतीक्षा में भीतर कसमसा रही थी। अतः जिनको समाज के इस भले-बुरे वर्गों के वैषम्य के प्रश्न की चिंता है, उन्हें मैं कहूंगा कि वे दीन-हीन के समकक्ष स्थितियों में अपनी भलाई की कसौटी कर देखें। नेता-उपदेशक अगर अपने आस-पास विशिष्ट परिस्थितियां और सुविधाएं जुटा रखते हैं, तो भला माना जाने वाला आचरण उनके लिए सुगम बना रहता है। उसी कारण सीख, शिक्षा और दीक्षा देने का धंधा ही उन्हें सहज सरल होता है। सम-सामान्य स्थिति को स्वेच्छापूर्वक अपनाकर भी अगर उनकी सज्जनता टिकी रह जाती है, तो जरूर उनके जीवन से सही पदार्थ-पाठ दूसरों को प्राप्त होगा। उन्हें भी स्वयं मालूम हो जाएगा कि श्रम के पसीने से और ईमानदारी से जीविका जुटाना क्या चीज होती है। कितनी दुर्वह लगभग असंभव सी ही वह साधना बन गई है। हमारे समाज-मूल्य इतने उल्टे और औंधे बन उठे हैं कि ईमानदार को नीचे रहना पड़ता है और इस या उस तरह की बेईमानी से ही ऊपर चढ़ना हो पाता है।

भला बुरा कौन है? अमुक लाला साहब की बेटी की शादी में एक लाख का दहेज था। दावत क्या ही शानदार थी। हम-तुम अफसर-नेता सभी उसमें शामिल हुए थे। सब तरफ से वाह-वाह सुनी जाती थी। यह सब ऊंचे संभ्रांत और प्रतिष्ठित होने का प्रमाण था। यह लक्षण उन्हें तब तक आभिजात्य में क्यों न उच्चतर बनाए रखे जब तक यह

जाहिर नहीं हो जाता कि उन्होंने अमुक काला बाजारी, तिकड़मबाजी या जालसाजी की। लीजिए यह भले महाशय इस संयोग से आनन-फानन बुरे हो आते हैं। आप देखिएगा कि यहां किसी दल-बदल का सवाल नहीं है। आदमी वह एक ही है। भला है, जब तक ऊपर-ऊपर देखते हैं। भीतर का भी दीख आता है तो लेबिल बदल जाता है। ऐसे ही संभव है कि बुरा लगने वाले के भीतर का कुछ झांक आए और वहां भलाई का अंकुर दीख आए।

दोष अपने में ढूंढें

इसलिए भलों और बुरों का अलग-अलग बाड़ा बनाकर देखने से प्रश्न सिर्फ बनता ही है, हल नहीं होता। हल के लिए संत जन कह ही गए हैं:

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।

जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

आवश्यकता है कि समाज का भला माना जाने वाला सफेद पोश वर्ग अपने को टटोलना सीखे। तब जाहिर हो सकता है कि उपदेश और उपकार की जगह शायद उसका कर्तव्य प्रायश्चित्त है। उसने जो रहन-सहन की सारी सुविधाएं खींचकर अपने पास संजो ली हैं सो एक बड़े भाग को शायद उनसे वंचित कर उसे दलित और दीन बनाने का पाप ही कमाया है। तब हो सकता है कि भलाई का उसका गर्व खर्व हो जाए और दूसरे को बुरा कहने का उसका साहस चुक जाए। हमने और आपने यह टेव डाल ली है कि कुछ हुआ तो उसका दोष झट दूसरे पर पटक दिया। इससे बुराई का दुष्चक्र कटने में आ नहीं सकता। उपाय इसके सिवा दूसरा नहीं हो सकता कि समाज का प्रबुद्ध वर्ग दोष अपना स्वीकार करे, विशिष्टता का परिहार करे, और सम-सामान्य परिस्थितियों का अपने लिए अंगीकार करे। इस प्रकार कसौटी पर चढ़कर उसकी प्रबुद्धता और सज्जनता चिनगारी का वह रूप ले सकती है जो समाज के कलुष और कल्मष को जला दे। अर्थ और पदार्थ की अतिशयता अपने आस-पास बटोर रखने की भूल से उसे बचना चाहिए। शासक के लिए उस तरह की अतिरिक्त सुविधाएं सुरक्षित रखने की छूट यदि रखी जाती है, तो परिणाम यही हो सकता है कि वह प्रशासक इतना बन जाए कि कभी उसमें सेवक होने की संभावना ही न जग पाए। ऐसे राजन्य-जन हजूर बन उठता और शेष जन मजूर जैसे हो रहते हैं। फिर उनके बीच की खाई में भय और दुर्भाव न उपजे तो क्या हो?

दायित्व का प्रश्न और सद्भाव में से समीक्षा

अभी आपने कहा कि जब कुछ होता है तो उसका दोष हम दूसरों पर पटक देते

हैं। यह सचमुच एक सामाजिक बुराई है और उसके रहते मानव संबंध मधुर नहीं बन सकते। इसके आगे कुछ और चलिए तो पता लगेगा, न केवल हम दोष पटकते हैं बल्कि अपनी जिम्मेवारियां भी दूसरों पर डालकर खुद को जिम्मेवारी से उद्धरण समझ बैठते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे सुविधावादी होता जा रहा है यह प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है। ऐसा क्यों? और इसका इलाज क्या है?

—इलाज इन मामलों में क्या सदा अपने से ही शुरू न होगा? हम अगर दोष को और जिम्मेदारी को अपना मानना शुरू कर देते हैं तो एक तरह से इलाज भी वहीं से शुरू हो जाता है। आपके प्रश्न की भाषा चाहती है कि कुछ को गैर-जिम्मेदार करार दिया जाए। इसलिए कि वे जिम्मेदारी दूसरों पर टालते हैं, तो हम भी क्या एक तरह औरों को गैर-जिम्मेदार ठहराकर अपने को थोड़ा बहुत बचाते नहीं रहे हैं? आलोचना की आवश्यकता हमारे लिए उतनी ही कम रह जाती है जितने हम रचना में लगते हैं। रचना में आवश्यक आलोचना गर्भित हो रहती है। यह नहीं कि आलोचना का स्थान ही नहीं है, पर आलोचना का अवकाश और अधिकार किसी को उतना ही है जितना कि उसकी आत्मीयता का विस्तार हो पाता है। अर्थात् आलोचना जैसे अपनी हो सकती है और होती रहनी चाहिए, वैसी ही अपनों की भी हो सकती है और होती रहनी चाहिए। आलोचना की यह मर्यादा सद्भाव को तोड़ती नहीं है, न दुर्भाव बढ़ाने के काम आ सकती है। आप देख सकेंगे कि पृथक्करण और विश्लेषण की बौद्धिक क्षमता को मंद और मंथर बना देने की बात यहां नहीं है, केवल उसकी पैनी धार को आत्म और आत्मीय के ही प्रति मोड़ देने का परामर्श है। अर्थात् सद्भाव के साथ निमर्म और गहरी समीक्षा-क्षमता का योग हो सकता है। वही सहानुभूति है जो बौद्धिक शब्द-जंजाल और भ्रम-जाल के कुहासे को काट और छांट सकती है।

आदर्श अस्तित्व में नहीं आता

आप किस तरह के समाज को आदर्श समाज मानते हैं? क्या अब तक इस तरह का समाज कहीं अस्तित्व में आया है?

—आदर्श अस्तित्व में आने के लिए नहीं होता। वह अस्ति अर्थात् स्थिति को बढ़ाते जाने के लिए है। इसलिए यह नहीं मान लेना चाहिए कि कहीं भी है जहां स्वर्ग उतर आया है और समाज आदर्श हो गया है। इस दिशा में नाना प्रयोग मानव जाति ने किए हैं और अब भी अनेक प्रकार के पुरुषार्थ हो रहे हैं। रूस के साम्यवाद के प्रयोग के बाद अब उसके नए रूप का प्रयोग चीन में हो रहा बताया जाता है। साम्यवाद से अलग कुछ समाजवादी आदर्श दूसरे लोग पाल-पोस रहे हैं और व्यवहार में उन्हें लाने की चेष्टा भी कर रहे हैं। पूंजीवादी जिन्हें माना जाता है, वे भी सोशलिज्म को अधिकाधिक अपने बीच घटित करने के यत्न में हैं। यह सब चलेगा और नाना मार्गों से हम उस ध्रुव की

ओर बढ़ने के पुरुषार्थ से विरत और विमुख न होंगे जिसको आदर्श समाज-रचना कहा जाता है।

उन्नत समाज के व्यवहृत मूल्य : अहिंसा और असंग्रह

आदर्श वह समाज होगा जिसमें हर एक हर दूसरे के लिए भय, संशय, द्वेष आदि का निमित्त न रह जाएगा, बल्कि स्वस्ति, आश्वस्ति का कारण होगा। इसको आज के प्रतिस्पर्धी और प्रतियोगी मानव-संबंधों पर खड़े युद्धप्रिय समाज के प्रतिपक्ष में अहिंसक समाज कहा जा सकता है। इसमें किसी को अपनी रक्षा खोजने की आवश्यकता इसलिए नहीं रह जाएगी कि हर दूसरा उसके लिए रक्षक और आत्मीय के समान होगा। तब स्वयं संग्रह अनावश्यक भी होने लगेगा। अपने आप संपदा और सत्ता बटोरने के लालच व्यर्थ हो आएंगे। इस संपदा सत्ता के उपार्जन में से जो हम एक दूसरे पर प्रभुता प्राप्त करने में रस लिया करते हैं, वह रस एकदम बेस्वाद हो जाएगा और दूसरे से ऊपर होने में नहीं बल्कि दूसरे के साथ होने, उसके काम आने और सेवक बनने में रस प्राप्त होने लगेगा। ऐसे समाज से सुख-सुविधा का हक वृद्ध, रोगी और अपंग का पहला हो जाएगा और जिसको अपराधी कहा जाता है वह दण्ड से अधिक चिकित्सा का पात्र समझा जाएगा। इस समाज में माननीय वे होंगे जिनके पास अपना या निजी कहने को कम से कम या कुछ भी न होगा और चतुर चालाक की अपेक्षा और अधिक वे सरल और खुले होंगे। समाज का जीवन-व्यवहार और कर्म-व्यवहार परस्पर सहयोग से इस प्रकार रचित होगा कि हित आपस में रगड़ में न आएंगे, बल्कि एक दूसरे का संवर्द्धन करेंगे। हिसाब में तब धर्मबुद्धि का प्रवेश होगा और आज जिसका चलन है उस अर्थ-लाभ के तर्क से उल्टे मानवता-लाभ के गणित का प्रतिफलन होगा। पूंजी बेरोजगारी का लाभ उठाकर अगर सस्ती दरों पर आज श्रम और श्रमिक को जुटा लेने में अपना लाभ देखती है, तो उस समाज में यह बिल्कुल संभव न हो सकेगा। संभव इसलिए न हो सकेगा कि श्रमिक स्वाधीनचेता होगा और जिसको पूंजी कहा जाता है उसमें पदार्थ-विनियोग से आगे मानव-विनियोजन की क्षमता ही न रह जाएगी। हमारे अर्थ-संस्थान आर्थिक लाभ की बुनियाद पर खड़े होने को विवश न होंगे और आदमी-आदमी के बीच के संबंध में राज्य और उसके सिक्के की जगह भगवान और उसका ध्यान होता जाएगा। भगवान् अर्थात् वह कि जिसमें हम सब एक हैं।

ऊपर की बातें स्वर्गोपम लग सकती हैं। पर आदर्श स्वर्ग को ही न जा छुए तो उसका उपयोग क्या है?

समाज और व्यक्ति अलग तत्व नहीं

तो क्या इस तरह के समाज के निर्माण में कुछ आदर्शवादी लोगों को आगे आना

होगा या कि समाज गिरते पड़ते स्वयं उस आदर्श तक जा पहुंचेगा ?

—समाज और लोग, वे आदर्शवादी चाहे क्यों न हों, कोई दो अलग-अलग तत्व नहीं हैं। समाज और व्यक्ति के विचार में अक्सर हम यह भूल कर जाया करते हैं। पानी के बिना क्या मछली हो भी सकती है ? इसलिए मछली यदि जीवित है तो यह कि वह पानी में है, आप ही स्वीकृत और गर्भित हो आता है। समाज के वादों के चलन के नीचे अधिकांश ऐसी ही भूल रह जाती है। उस तरह सेक्युलर, सामाजिक, ऐहिक आदि शब्दों के वशाधीन होकर हम नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि से एकदम छुट्टी पा लिया करते हैं। पर आदमी एक है और जीवन अखण्ड है। सामाजिक और नैतिक-आध्यात्मिक भी दो और दूर नहीं है। आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से जो सही है, सामाजिक से भी उसे सही होना चाहिए, पर सामाजिक को राजनैतिक से जोड़कर हम नैतिक से तोड़ लिया करते हैं। ऐसे कर्म और धर्म में विमुखता हो आती है और दोनों का अपलाप होता है।

अर्थात् समाज को उस आदर्श की दिशा में अपने आंतरिक नियम से उठते और बढ़ते ही जाना है तो इसका आशय यह नहीं कि यह सब व्यक्ति-निरपेक्ष भाव अनायास घटित होता जाएगा। प्रत्युत आशय यह है कि जिनके मन में उस आदर्श का आभास उदित और प्रस्तुत हो सका है उन्हें उस चुनौती को उठाना होगा और उस दिशा में यत्न-एवं-कर्तव्यशील होना होगा। मैं मानता हूँ कि इस यत्न का आरम्भ कर्म से पहले धर्म से होना चाहिए। धर्म अर्थात् अन्तरंग कर्म। इसके अनन्तर और अनिवार्य परिणामस्वरूप बहिःकर्म आएगा, जो कि वास्तव में बहिरंग धर्म का भी रूप है।

कर्म में अन्तरंग की उपेक्षा गलत

हमारे आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों में अक्सर यह चूक रह जाया करती है। अन्तरंग-कर्म की ओर उदासीनता और उपेक्षा अपना ली जाती है। फल यह होता है कि बहिरंग कर्म धर्म-शून्य रह जाने के कारण सदुद्देश्यों से किए जाने पर भी प्रमत्त और भ्रष्ट कर्मण्यता की ही वृद्धि करता है। खूब काम धाम होता है, कारगुजारी का बजट बढ़ता ही जाता है और नतीजे में देखने में आता है कि समाज में तनाव, वैषम्य और वैमनस्य बढ़-चढ़ गया है। मद-मत्सर फैला है और सुख-चैन उत्तरोत्तर उजड़ता गया है। कर्म जितना अधिक है समस्या उतनी ही विकट दीखती है और समाधान उतना ही दूर बना रहता है। इस विरोधाभास के नीचे कारण यही प्रतीत होता है कि हम व्यक्ति और समाज को दो अलग सत्ता जानकर माने हुए समाजवादी कार्यक्रमों में उलझ पड़ते हैं और उसके लिए पंक्तियों, समुदायों और दलों के गठन में, उन्हीं के जोड़-तोड़ के हिसाब में व्यस्त रहते हैं। इस व्यस्तता में व्यक्ति की इकाई को, उससे संबंध रखने वाले नैतिक और आध्यात्मिक को, बाद दे जाया करते हैं। मान लेते हैं कि वह तो निजी और वैयक्तिक है, सामाजिक

162 / गांधी और हमारा समय

विचार के लिए संगत ही नहीं है। तो विभक्त और खण्डित मनुष्य को हिसाब में लेकर चलने से अभीष्ट की जगह अनिष्ट परिणाम घटित है, तो इसमें क्या विस्मय है ?

व्यक्ति-निरपेक्ष समाज विचार अपने फल में विफल

आप देख पाइएगा कि आपके प्रश्न में भी जैसे समाज और व्यक्ति की अलग-अलग कर्तृत्व की धारणा को स्थान मिला है। समाज के पास व्यक्ति को छोड़ दूसरे अवयव नहीं हैं और समाज संबंधी कोई भी विचार यदि व्यक्ति से निरपेक्ष होना चाहेगा तो अपनी लक्ष्य सिद्धि से च्युत हुए बिना कैसे न रहेगा ?

लेकिन व्यक्ति तो समाज नहीं है ?

आपने व्यक्ति और समाज को एक करके देखा है। अगर हम यह कहें कि व्यक्ति ही समाज है और समाज ही व्यक्ति है तो क्या तर्कसंगत होगा ? व्यक्ति और समाज की परिभाषाएं भी अलग-अलग हैं। इसलिए दोनों एक नहीं दो प्रतीत होते हैं।

—व्यक्ति समाज इसलिए नहीं है कि दूसरे व्यक्ति भी हैं जो उसमें नहीं समाते, बाहर ही रह जाते हैं। और समाज वह संज्ञा है जिसमें व्यक्तियों की समूची परस्परता अंतर्हित हो जाती है। इस तरह समाज यदि है तो व्यक्ति की दृष्टि से वह अमूर्त संज्ञा है। मूर्तता उसे व्यक्ति के निकट परता और परस्परता द्वारा ही प्राप्त होती है।

मछली की उपमा याद कीजिए। पानी से बाहर वह हो नहीं सकती। इसलिए क्या मछलियों के लिए यह सोचना संभव है, या सार्थक हो सकता है, कि उन्हें इस पानी के लिए कुछ करना चाहिए ? पानी का होना उनके अपने होने की शर्त ही जो है। उसी तरह हम हैं, इसी में समाज का स्वीकरण गर्भित है। समाज के लिए लाख सोचने पर भी हम सीधे कुछ कर नहीं सकते। कर सकते हैं तो परस्परता के माध्यम से। यह करने की शर्त और मर्यादा है।

अस्मित्व की बाधा और सत्य का आकलन

लेकिन आशय यह नहीं कि संज्ञा अमूर्त है, तो वह अवास्तविक भी है। मछलियां जीती-मरती हैं, सागर बना रहता है। मछली के निकट सागर कभी अभिगम्य बन नहीं सकता, सदा अगम बना रहे। किन्तु उस कारण उसको कोई अवास्तविकता नहीं मिल जाती, अगम्यता उसमें हमारी सीमा की अपेक्षा से है, अपने में उस नाते वह अवास्तविक नहीं हो जाता। अर्थात् समाज की वस्तुता मानकर भी व्यक्ति के लिए अपनी परस्परता से निरपेक्ष किसी समाज-विचार की सार्थकता इसलिए नहीं हो सकती है कि समाज के बाहर उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। व्यक्ति अपने अस्मित्व से उत्तीर्ण होकर समाज को या उससे उत्तर किसी विराट् को, सत्य और समर्थ कर सकता है। समस्त बौद्धिक

विचार में यह गर्भित है कि उसकी कड़ी अस्मित्व से जुड़ी है। इसलिए वह निरपेक्ष अस्तित्व, जिसको सत्य कह सकते हैं, उसके आकलन अथवा स्पर्श के वश का नहीं हो पाता। वह परमसत्य बुद्धि के लिए सदा अनधिगम्य रहेगा। अस्मित्व की बाधा हटते ही मानो अस्तित्व के साथ एकात्म्य उसको सहज उपलब्ध हो आता है। इसलिए जब कि व्यक्ति को समाज के प्रति अमुक उपकार, अथवा इस-उस पद्धति का जन-कल्याण, करने की भाषा में पड़ने की आवश्यकता नहीं है, तब अपने ही स्वार्थ से निवृत्ति की बात उसके लिए अवश्य अभीष्ट रहती है। किंतु परस्परता से बाहर व्यक्ति कोई हो नहीं सकता है और इसी पारस्पर्य की समग्रता से समाज का निर्माण होता है। इसलिए निःस्वार्थता का भाव प्राप्त करने पर व्यक्ति-कर्म अनायास और अनिवार्यतया लोक-मांगल्य का साधक हो आता है। इस निःस्वार्थता के भाव से विहीन और यज्ञ-शून्य होकर मात्र बौद्धिक प्रेरणा से प्राप्त किया गया कार्यक्रम व्यक्ति के अस्तित्व से जुड़ा रहने के कारण समाज के अस्तित्व को उतना पोषण नहीं दे पाता जितना उस पर जाने-अनजाने दबाव डाल आता है।

इसलिए यद्यपि उन संज्ञाओं के द्वित्व को समाप्त करने का कोई आशय या लाभ नहीं है, तथापि यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'अस्मि' की ओर की खींच 'अस्ति' को विपन्न ही बना सकती है, सम्पन्न नहीं कर सकती। बौद्धिक विचार में बुद्धि के भीतर ही स्वार्थता अक्षुण्ण रह जाती है, द्रवित नहीं होती। यह विचार सदा बाहर कर्म की ओर दौड़ा करता है। अतः यह कहना आवश्यक होता है कि भीतर चित्त की ओर जाने वाली प्रक्रिया और साधना के अभाव में केवल बाह्य कर्म अभीष्ट परिणाम उपलब्ध नहीं कर पाता।

समाज-सुधार और समाज-सुधारक

क्या समाज-सुधार का कार्य आवश्यक है? और आज यहां समाज पहुंचा है, क्या बिना समाज-सुधारकों के नहीं पहुंच सकता था? क्या समाज अपने आप विकास की ओर नहीं बढ़ता है? अगर बढ़ता है तो समाज-सुधारकों की आवश्यकता नहीं रह जाती। अगर नहीं बढ़ता है तो उसके लिए समाज-सुधारक अनिवार्य हो आते हैं। तो सवाल पैदा होता है उन समाज-सुधारकों का रूप क्या हो? वे कैसे काम करें? क्या बिना राजनीति से लगाव रखे ये काम कर सकते हैं?

—समाज-सुधारक कोई समाज से बाहर का प्राणी तो होता नहीं है। अर्थात् यह मानकर भी कि प्रकृति के नियम से ही समाज उत्तरोत्तर सुधरता और विकास पाता जाएगा, समाज-सुधारक अनावश्यक नहीं हो जाता। उस तत्व का उदय समाज की अंतरंग प्रक्रिया, अर्थात् अंतर्विग्रह में से ही होते जाना अनिवार्य है। समाज विविध तत्वों को लेकर अपना निर्माण पाता है। कुछ लोग उसमें ऐसे हुए बिना नहीं रह सकते जो

164 / गांधी और हमारा समय

वर्तमानता से तुष्ट न हों, उसी के भोगोपभोग में न बीतें, बल्कि जो भविष्य के स्वप्न से बेचैन हों और समाज की वर्तमानता को तदनुकूल ढालने के यत्न में सचेष्ट हों। ये ही व्यक्ति समाज-सुधारक कहलाते हैं। अधिकांश संपन्न अथवा निम्न विपन्न वर्ग में से ये इसलिए नहीं आते कि ये दोनों वर्ग विभिन्न कारणों से अस्तित्व के तल पर ही मग्न और व्यस्त रहते हैं। सुधारक का उदय उस मध्य वर्ग से अक्सर हुआ करता है, जिस पर ऊपर और नीचे इन दोनों वर्गों का दबाव आता और उसकी मानसिकता को खलबली में डालता है।

रचनात्मक और प्रशासनात्मक

राजनीति समाजनीति का उन्मथित रूप है। समाज-सुधार की प्रवृत्ति इसलिए राजनीति के तट को छुए बिना नहीं रह सकती। किंतु और ऊपर जाकर राजनीति का खेल मानो मानव-निरपेक्ष और समाज-निरपेक्ष हो चलता है। समाज-सुधारक उस अहंवाद और समूहवाद की क्रीड़ा में खो नहीं सकता। समाज-हित और समाज-चिंतन से यदि वह युक्त है तो उसकी राजनीति सदा विधायक और रचनात्मक होगी, जय-पराजय की न हो सकेगी। वह मंच और उद्धोष पर उतनी निर्भर न होगी, उसमें सृजनात्मक सत्व अवश्य ही रहेगा।

राज का तंत्र शासन-व्यवस्था का यंत्र ही है। शासन में दमन भी आता है। दमन और सुधार का संबंध यदि है तो विपरीत है। आशय, समाज-सुधारक संरचनात्मक राजनीति तक तो सक्रिय होगा, प्रशासनात्मक राजनीति का अंग बनने की उसमें विशेष रुचि न होगी।

समाज-सुधार और लोक-सेवा मानो व्यवसाय

यह ठीक है कि वह रचनात्मक राजनीति तक सक्रिय रहेगा और प्रशासनात्मक राजनीति का अंग नहीं बनेगा। किंतु क्या वह अपने काम में प्रशासनात्मक राजनीति से विशेष छूट नहीं चाहेगा? और क्या आज के समाज सुधारक ऐसा नहीं कर रहे हैं? तो उसका रचनात्मक राजनीति तक सक्रिय रहना मात्र दिखावा ही तो हुआ?

—विशेष छूट क्या? समाज-व्यवस्था और सामाजिक न्याय की रक्षा तो प्रशासन का प्रमुख धर्म और दायित्व है। उस अंतःसत्त्व के बिना तो प्रशासन समर्थित ही नहीं हो पाता। फिर इसमें विशेष छूट मांगने-पाने का क्या प्रयोजन?

प्रश्न रह जाता है समाज-सुधारक में प्रच्छन्न रूप से अवशिष्ट बच गई हुई स्वार्थाकांक्षा का। विशेष छूट से आपका आशय शायद उस प्रकार की सम्पत्ति और अधिकार की सुविधाएं अपने लिए प्राप्त करने की रियायत का रहा होगा। हां, उस प्रकार का अनाचार तो आज काफी चलता दीख रहा है। समाज-सेवा के नाम पर यश और संपर्क का ऐसा

उपयोग काफी आम हैं। समाज-सुधार और लोक-सेवा का एक धंधा ही मानो बन गया है। वह जैसे यशोपार्जन नहीं, वित्तोपार्जन का भी एक जरिया हो।

भावशोधन की आवश्यकता

तो मैं समाज-सुधार के इस अपलाप की चर्चा नहीं करना चाहता हूँ। सच यह कि सेवक और सुधारक पर बड़ा दायित्व आ जाता है। आवश्यक है कि उसमें अपरिग्रह का भाव दृढ़ हो। यदि वैसा न हुआ तो सेवा और सुधार के काम के द्वारा ही सामाजिक अन्याय की जड़ें उल्टे गहरी होंगी और उसकी बेल दूर-दूर तक फैल चलेगी। इसी से पहले कहना आवश्यक हुआ था कि बाहर के कृत्य की कृतार्थता के लिए भीतर भावशोधन की भी आवश्यकता है। वहां यदि चित्त में स्वार्थ या विकार रहता है तो बाहर किए गए सेवा और सुधार के काम समाज में सुगमता और सौमनस्य पैदा नहीं करेंगे, बल्कि विषमता और वैमनस्य बढ़ाएंगे। इसी में राजनीति अधिकांश तोड़-फोड़, घात-प्रतिघात में रची-पची हो आती है। रचना या सृजन के काम में उससे सहारे की जगह बाधा ही अधिक उपस्थित होती है। अतः प्रशासन के पक्ष की कोई आसक्ति सेवक और सुधारक के लिए उचित नहीं ठहरती।

संस्थावाद : एक रोग

समाज-सुधार और समाज-सेवा के नाम पर एक संस्था खड़ी की जाती है। संस्था का काम व्यवस्था का होता है। व्यवस्था के लिए धन-संग्रह आदि किए जाते हैं और संस्था के पास संपत्ति इकट्ठी होती जाती है। पर उस संपत्ति का प्रयोग समाज-सुधार से अधिक, स्वयं सुधारकों और उनके सगे संबंधियों पर होने लगता है। यही वह जड़ है जो समाज-सुधार और समाज-सेवा को हास्यास्पद बनाती और लोगों को यह समझने को मजबूर कर देती है कि यह तो खाने-पीने का धंधा है। तो क्या इस तरह की संस्थाओं का निर्माण नहीं होना चाहिए? और अगर होना चाहिए तो संपत्ति के इस मायाजाल से कैसे बचा जा सकता है?

—संस्था के निर्माताओं को अपने संबंध में सावधान रहना है, दुगना सावधान। संस्थावाद भी एक रोग है। संस्था के नाम पर व्यक्ति को अपने लिए बटोर रखने की सुविधा हो जाती है। संस्था-निर्माता अधिकांश इस सुविधा के भोग में चूकते नहीं हैं। यह विकार इसलिए भी व्याप्त होता जा रहा है कि व्यक्ति के मूल्य का माप चरित्र की दृढ़ता की जगह अर्थ-संग्रह-क्षमता बन गया है। सामाजिक मूल्य ही गुणात्मक की जगह गणनात्मक हो चला है। हमने अपनी व्यवस्था-योजना की बुनियाद में एक 'एकोनामिक मैन' की धारणा को रख लिया है और उसी को सत्य मान लिया है। यह एकोनामिक मैन मनुष्य का तिहाई भाग भी नहीं है, नैतिक, आध्यात्मिक स्तर भी हर मनुष्य में विद्यमान

हैं। लेकिन हमारी योजना-नीतियों में उन स्तरों के अस्तित्व का स्वीकार तक नहीं है। इस कारण सारी दृष्टि आर्थिक बन गई है और अर्थवाद का बोल-बाला है। सच पूछिए तो पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, सबका हार्द यह अर्थवाद ही है। उसी को व्यवस्था की भाषा में आप राज्यवाद कह सकते हैं।

आज का विद्रूप और भावी मानव

इसलिए समाज-सुधार के प्रश्न से हटकर स्वयं समाज-सुधारकों के व्यक्तित्व के प्रश्न को मैं विचार में लेना नहीं चाहता था। न अब चाहता हूँ। यह उतना व्यक्तिगत प्रश्न है भी नहीं। अपवाद रूप में सुधारक अथवा संस्था-निर्माता स्वार्थ लिप्त होते दीखते, तो प्रश्न व्यक्तियों का हो भी सकता था। पर अपवाद की जगह लगभग यह तो नियम ही बन गया प्रतीत होता है कि संस्था के नाम पर संस्थावादी अपना भला पहले देखता है। हवा ही ऐसी बनी है और संस्थावाद का एक हुनर ही चल निकला है। इसलिए उस बात को अमुक व्यक्तियों पर स्थगित या निर्भर मानकर टालना ठीक न होगा। वह तो सामाजिक मूल्यों के प्रश्न को जा छूती है। तब चिन्तक को इस छोर तक जाना पड़ता है कि तमाम ढाँचे की बुनियाद ही तो कहीं गलत नहीं है? मैं सचमुच मानता हूँ कि आज की प्रगति और उन्नति जिस 'इकोनामिक मैन' पर खड़ी है, वह मैन सत्य नहीं है, अर्धसत्य है। क्या कारण है कि राजदरबार और राजभवन के आस-पास जितने लोग मंडराते हैं, उससे कहीं-कहीं अधिक संख्या में लोग मंदिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा और संतों, गुरुओं के निकट जाने की लालसा रखते हैं। कुछ है जो उन्हें तीर्थ-यात्रा के कष्टों की ओर ले जाता है और सब तरह का जोखम उठाने और सहने में से उन्हें धन्यता की अनुभूति पहुंचाता है। आर्थिक मात्र को लेकर हम इन नैतिक-धार्मिक प्रेरणा को अगर विचार से छोड़ देते हैं तो हमारा मानवीय-विचार एकदम अधूरा रह जाता है। वर्तमान औद्योगिक और यांत्रिक सभ्यता में यही दुर्घटना घटित हुई है। परिणामस्वरूप आर्थिक रूप से सधे-बंधे मनुष्य का व्यंग्य और उपहास करता हुआ एक हिप्पी वर्ग उसी सभ्यता के वृंत पर से फूट पड़ा है। वह उस संपन्न सभ्यता और संभ्रांतता को, सब तरह की अनियमता-मलिनता और आदिमता अपना कर मानो अंगूठा दिखा रहा है। हिप्पी निश्चय ही भविष्य का मनुष्य नहीं है, लेकिन आज की विद्रूपता पर वह गहरा प्रश्न चिह्न अवश्य है।

वृद्धावस्था का कष्ट

वृद्ध जन प्रायः परिवार से असंतुष्ट दीखते हैं? क्या इस अवस्था में उनका दुःख ज्यादा बढ़ जाता है? और क्या परिवार उसे घटाने में सहायक नहीं हो पाता?

—असंतुष्ट युवाजन भी कम नहीं दीखते होंगे। वृद्धावस्था में हां, इतना अवश्य है

कि उनकी रुचियां पारिवारिकता से धीरे-धीरे पार होने लगती हैं। जो किनारा दूसरों को अभी अगम है, वह उन्हें पास आता नजर आने लगता है। इसलिए उनकी पारिवारिक विषयों में अभिरुचि कुछ कम होती और अनमनापन व्याप आता है तो असंभाव्य नहीं है। अपने को देने की क्षमता उस अवस्था में कम हो जाती है और अपने में हो रहने की वृत्ति ऊपर झलक आती है। ये कारण उन्हें धीरे-धीरे अकेला डाल देते हैं और उनकी उपयोगिता कम हुई जान पड़ती है।

पर युवावस्था में तनाव अक्सर ज्यादा होता है और अनबनाव भी, मुझे डर है, अधिक होता होगा।

वृद्ध की अक्षमता

युवावस्था की बात और है। अगर युवक असंतुष्ट है तो वह परिवार से अलग होकर अपने असंतोष को दूर करने में सक्षम होता है। पर वृद्ध, वृद्ध हैं। उनके काम करने की क्षमता घट गयी होती है। इसलिए वह कष्ट उन्हें अधिक चुभता होगा। इस स्थिति में वे परिवार से क्या आशाएं रखते हैं?

—आशाएं जो भी रखते हों, परिवार के युवा सदस्य अपने-अपने कामों में अधिक प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए वृद्ध जनों का अकेलापन उन्हें काटता और चुभता रहता है। उन्हें अपने समान अवस्था के साथियों की संगति ही उस अकेलेपन से कुछ त्राण दे पाती है। परिवार इस प्रकार का साथ उन्हें जुटा नहीं पाता, इसलिए वापस घर में आने पर उनका कष्ट बढ़ ही जाता होगा। बस बच्चे हैं जो उनको बहला सकते और जिनमें वे अपनी मग्नता पा सकते हैं। धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, तीर्थाटन आदि इसलिए उन्हें सान्त्वनादायक हुआ करते हैं कि ऐसे वह सांसारिकता से कुछ ऊपर चित्त को लगा पाते हैं। सांसारिकता है कि जहां उन्हें अपने असमंजस और अनुपयोग से ऊब हो जाया करती है।

परिवार का वर्तमान : वृद्ध का भविष्य?

आज पारिवारिक विघटन को देखते हुए वृद्धों की समस्या बहुत जटिल लगती है। आधुनिकता इस कदर छाती जा रही है कि परिवार बस टूटने के लिए रह गया है, विदेशों में तो अब यह शुरू हो गया है। फिर वृद्ध जनों का भविष्य क्या होगा? क्या इनका भार सरकार को वहन करना होगा?

—लगता तो ऐसा ही है। हम लोग धन-सम्पत्ति की विषमता के प्रश्न से बहुत घिर आए हैं। समाजवाद, साम्यवाद आदि की ही बातें अक्सर सूझा करती हैं। विचार की इस दिशा का मतलब है कि आदमी पारिवारिकता के दायरे में ही सोचकर नहीं रह पाएगा। उसे व्यापक समाज की अपेक्षा में सोचना और रहना होगा। तब जिसे धन-संपदा कहें उसे अपने लिए संचय कर रखने की सुविधा न रहेगी। परिवार और सम्मिलित परिवार

इसकी सुविधा पहुंचाता रहता था। वृद्ध जनों की चिंता और सेवा परिवार के अन्य सदस्यों का कर्तव्य बना रहता था। परिवार के संस्कारों में ही यह दायित्व रचा-पचा होता था। अतिरिक्त रूप में उसके भार को उठाने का कर्तव्य याद नहीं रखना पड़ता था। पर अब संस्कृति और सभ्यता अधिक सामाजिक होती जा रही है और परिवार-धर्म का विघटन हो रहा है। यह प्रश्न इस सामाजिक सभ्यता के समक्ष है कि क्या बौद्धिक संबंधों के इस व्यापिकरण से चल जाएगा? अथवा कि उन संबंधों में अधिक संवेदनशीलता और सहानुभूतिपरकता के पुनर्निवेश की आवश्यकता है।

सामाजिक अनुपयोगिता

उन्नत देशों में वार्धक्य और उसकी सामाजिक अनुपयोगिता का प्रश्न इन दिनों काफी उभर आया है। वे खाली हैं, कष्ट पाते हैं और समस्या उपजाते हैं। कर्म-क्षमता उनकी बीत चुकी होती है और वे अधिक भावप्रवण हो जाते हैं। क्या इस भाव की आर्द्रता का कोई सामाजिक उपयोग नहीं हो सकता? मुझे तो लगता है कि यह तत्त्व काफी उपयोगी है और इसके लाभ मिलने की व्यवस्था समाज-यष्टि की संरचना में अवश्य सन्निहित होनी चाहिए। वे वृद्धजन तात्कालिक में उतने गहरे गड़े और रचे-पचे नहीं होते हैं और उनकी अहंता भी घिस-पिसकर मानो शांत हो चुकती है। वे स्वकीयता के पार वस्तुगत परिप्रेक्ष्य में दुनिया के कार्यकलाप को देख सकते और उस परिदृश्य के संस्कार मानव संतति में डाल सकते हैं। संक्षेप में वे नई उभरती पौध को संस्कारिता और सहानुभूति का रस सिंचन दे सकते हैं।

वार्धक्य का भत्ता

जिस दिशा में हम बढ़ रहे हैं उसमें व्यापक राज्य-व्यवस्था होगी और जीवन एक केंद्रित तंत्र द्वारा निर्देशित हुआ करेगा। इसमें कागजी कार्रवाई बढ़ेगी, और तरह-तरह के फार्मों-दस्तावेजों द्वारा केंद्र और व्यक्ति के संबंध दस्तावेजी बनेंगे और फाइलों पर फैसले होंगे। फार्म भरकर आफिस में दीजिए फिर राजयंत्र द्वारा आपका भत्ता तय होगा और उसी पद्धति से आप तक पहुंचेगा? इस यंत्र में लाल-फीताशाही चले तो क्या अचरज। आखिर करोड़ों आदमियों के साथ केंद्र का संबंध दफ्तरी ही हो सकता है। परिणाम यह आना संभव है कि आवश्यकता और पूर्ति के बीच बड़ा अंतर रह जाए और पूर्ति तब हो जब आवश्यकता नीचे से मिट तक चुकी हो। ऐसे उदाहरण कम नहीं होंगे कि मांग मंजूर तब हुई जब मांगने वाला प्रार्थी कभी का मर-खप चुका था। यह दस्तावेजी आंकिकी संबंध यथोपयुक्त नहीं हो सकता, न उसे विश्वसनीय ही समझा जा सकता है। मुझे प्रतीत होता है कि अक्षम और वृद्धजनों के संबंध में इस प्रकार की केंद्रित व्यवस्था कभी भरपूर नहीं बैठ पाएगी और उस द्वारा समस्या समाप्त भी न होगी।

सही निदान धर्म-व्यवस्था में

वैधानिक और कानूनी नहीं, धार्मिक और हार्दिक व्यवस्था है वह जिसमें से सही उपचार आ सकता है। केंद्रित की जगह यह विकेंद्रित व्यवस्था होगी और बीच में कागज या दफ्तर विशेष न आएगा। अन्तःकरण हर एक के पास है। यदि उसमें संवेदन और सहानुभूति का तत्त्व सक्रिय हो तो असहाय के लिए सहायता सब कहीं उद्यत और समीप पाई जा सकती है। ईश्वर ने इसकी साधन-सामग्री पहले ही से मानव को प्रदान कर रखी है। लेकिन हमारी मानी हुई सभ्यता ने उन साधनों को मंद और अमान्य कर दिया है। एवज में उसने अपनी एक कृत्रिम व्यवस्था जारी की है जिसमें कर्तव्य और दायित्व सब राज्य-संस्था में केंद्रित कर दिए गए हैं। वहां से फिर सबको अपना-अपना हक और भाग बंटकर मिला करेगा। उन्नति उसी दिशा में बढ़ रही है। आदमी अपनी-अपनी जगह असहाय और तंत्र सर्व-सहाय हुआ जा रहा है।

मुझे नहीं लगता कि आदमी सीधे समाज का हो सकता है। समाज के प्रति नाते का भाव, सेंस आफ बिलांगिंग, सहज नहीं होता। कोई घनिष्ठ आपसीपन वहां बन नहीं पाता। एक दूसरे के जिस आसानी से हम बन पाते हैं वैसा किसी परोक्ष सत्ता के विषय में संभव नहीं होता। परिवार इसी बुनियादी सम्बद्धता पर खड़ा है। प्रेम स्वाभाविक है और परिणाम में माता द्वारा संतति का प्राप्त होना भी उतना ही नैसर्गिक है। उसी निसर्ग पर अनायास परिवार संस्था बनी है और विवाह संस्कार का आविष्कार हुआ है। उससे माता-पिता बनते और दायित्व-भाव लेकर कुटुंब की सृष्टि करते हैं। यदि बहुत अधिक विक्षेप न आए तो परिवार शाखा प्रशाखा फैलाता और सहज भाव से सम्मिलित कुटुम्ब का स्वरूप ग्रहण करता है। यह क्रम स्वाभाविक है और इसमें से जिस सामाजिकता का उदय होगा उसमें सामंजस्य की क्षमता अधिक होगी।

परिवारवाद में से पूंजीवाद

ऐसा था, किंतु परिवारवाद में से पूंजीवाद फलित हुआ। पूंजीवाद की बुराइयों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। उसका इलाज समाजवाद आदि में देखा गया है। परिणाम यह है कि महाचमत्कारी निर्माण देखने में आते हैं और हमारी बजटीय गणित-गणना अरबों-खरबों से कहीं आगे जा बढ़ी है। परिवार की परिभाषा का समाज वहां तक उठ नहीं सकता था। शायद वह कबीलावाद जातिवाद में ही घिरा रह गया था। अब राष्ट्र-संघ बन सका है तो केंद्रीय-राजतंत्रीय व्यवस्था के कारण।

मानना होगा कि यह तर्क वजनदार है। इस सभ्यता के उत्कर्ष की उपलब्धियों से इंकार नहीं किया जा सकता। आंखों में चौंध भर आती है, जब आदमी उसके कारनामों को निहारता है। अद्भुत और आश्चर्यमय उसका रचना-निर्माण है।

किंतु युद्ध भी तो उसी सभ्यता का निर्माण है। हर कुछ वर्षों बाद मानवता को उस

होली के फाग में से गुजरना पड़ता है। फिर शीत-युद्ध तो हरदम ही बना रहता है। श्रेणी-वैषम्य से बढ़कर राष्ट्र-वैषम्य उसकी उपज है और बड़ी शक्तियों की प्रभुता पूंजीपति श्रेणी के शोषण से कहीं अधिक गहरी जकड़ वाली हो आई है। दो सौ अरब डालर शस्त्र-निर्माण में खर्च हो रहा है। जैसे एक विभ्राट विस्फोट की तैयारी और इंतजार में जिए जाना ही मानवता का भाग्य हो। इस बड़ी समस्या का ही भाग आपकी वार्धक्य समस्या है।

प्रतीत होता है कि यह उन्नति टीले जैसी ऊंची होती गयी है और ऊपर के शीर्ष के दबाव के तले सब नीचे वालों को उपरातली रहना पड़ रहा है। शक्ति का और समाज का यह स्तूपाकार रूप मुझे तो बहुत संतोषजनक नहीं जान पड़ता। प्रौद्योगिकी ने नैसर्गिकी को दबोच डाला है और आदमी जैसे प्रकृति में सांस नहीं ले पाता। बताया जाता है कि नाना विषों से नगरों की हवा भर गयी है और हर सांस से हम रोग और विकार को अपने भीतर खींचते रहते हैं। रेडियो-धर्मिता के विकीरण के डर से हम आक्रांत हैं और उसका असर भावी पीढ़ियों पर कुछ भी पड़ सकता है। जिदगी जैसे भंवर में फंसकर चुंसी जा रही है और जीवन उस वात्याचक्र से छूट नहीं पाता। बेबस हैं, पर खिंच रहे हैं—कुछ ऐसी हालत राजनीतिक जगत की हो रही है। सच पूछिए तो समूची सभ्यता इस घनता से राजमय हो गयी है कि हर दो के संबंध स्वार्थ और संशय से छा आए हैं। पति-पत्नी के बीच से भी हिसाब और दुराव दूर नहीं हो पाता है। प्रत्येक व्यक्ति में अपनत्व का आग्रह है—इतना कि प्रेम में भोगांश ही सार्थक रह गया है, शेष व्यर्थ बन गया है। माता से तो छुटकारा है नहीं, पर पिता अनावश्यक सा पड़ गया है। क्यों, क्या नर्सिंग होम्स में बच्चों को अधिक वैज्ञानिक सुश्रुषा नहीं प्राप्त हो सकती? मां के दूध की भी क्या आवश्यकता है? विज्ञान क्या इतना अपंग है कि उससे बढ़ा-चढ़ा गुणयुक्त दुग्ध प्रस्तुत न करे दे? तो लीजिए परिवार की भी आवश्यकता कहां रह जाती है। प्यार खुल जाता है और घर का बंधन रोकने के लिए रह नहीं जाता। क्या होटल का रहना घर से अधिक ही सुभीते का नहीं होता?

इत्यादि, इत्यादि। अधिक कहना आवश्यक नहीं है। पर बुद्धि का संबंध कभी आपसीपन में पर्याप्त सिद्ध न होगा। हर संबंध में से सब अपना-अपना लाभ और स्वार्थ खींचेंगे और फिर उन्हें छूट जाने देंगे। इसमें जो गिरेगा, गिरेगा, कुचलेगा सो कुचलेगा। वृद्ध असहाय होगा तो होगा, इसमें किया क्या जा सकता है? सच तो यह कि वृद्ध रहने ही दिया जा रहा किसलिए है? अगर जितना खाता है, उतना भी नहीं दे पाता तो इकोनॉमी उसे कब तक सहती जाएगी। फिर आगे जाकर करुणावश व्यवस्था करनी होगी कि वृद्ध को जीने की विवशता से मुक्त किया जाए और आने वाली पीढ़ी के विकास में बाधक होने से उसे बचा लिया जाए। उपयोगितावादी समाज की इस उन्नति में एक दिन गम्भीरतापूर्वक यह सुझाव सूझे तो विस्मय की कोई बात नहीं।

वृद्ध का उपयोग

मैं नम्रतापूर्वक कहूंगा कि मनुष्य अपनी ही करनी पर बहुत भरोसा न रखे। ईश्वर को भूले नहीं जिसने अपनी ओर से मनुष्य को भरपूर सिरजा है। उसे बुद्धि ही नहीं दी है, कुछ और भी दिया है। प्रीति दी है और स्नेह दिया है। यदि हम अपनी व्यवस्था-रचना में इन तत्वों को भी सार्थक करते रह सकें तो कदाचित् समस्या उतनी विकट न रह जाएगी। रहन-सहन के ढंग को हम आवश्यकीय स्तर तक श्रमी और स्वावलंबी बना सकते हैं। बुद्धि जो श्रम को बचा जाती है उसको श्रमसिक्त रखकर शोषण की प्रणालियों को बीच में से असंगत बनाए रख सकते हैं। प्राथमिक आवश्यकताओं का उत्पादन विकेंद्रित हो सकता है और परस्परता का संचालन राजदण्ड अथवा राजनियम से नहीं बल्कि हार्दिक और धार्मिक नियमन द्वारा होता रह सकता है। राजनियम की पोथी की व्याख्या के लिए तो ठठ के ठठ वकील जरूरी होते हैं, पर मानव नियम की जानकारी के लिए किसी को अपने से दूर जाने की आवश्यकता न होगी। सब में अंतःकरण है और उसमें ईश्वरीय नियमों की अचूक पहचान भी है। अतःकरण के मान को जगाए रखा जाए, उसके संदर्भ को विच्छिन्न और अति-क्रामित न होने दिया जाए तो पूंजीवादी अतिशयता और घोरता अपने आप बची रह जाएगी। परिवार होगा, सम्मिलित परिवार भी हो सकेगा और फिर भी वह शोषण का नहीं पोषण का प्रतीक होगा। उन मूल्यों की सावधानता रहे और हमारे कर्म-कलाप की संरचना तनियुक्त और तदाश्रित रहे तो कोई कारण नहीं कि अर्थमुद्रा दुर्भावना की जगह सद्भावना का माध्यम न बने और राज्यसंस्था अपने व्यर्थ संभार और स्थूलता से मुक्त होकर सैनिक की जगह उत्तरोत्तर बल से संपन्न एक अपरिग्रही संस्था न बनती चली जाय।

ऐसी अवस्था में मैं मानता हूँ कि आपका वृद्ध उच्छिष्ट और तिरस्करणीय मानव न रहेगा बल्कि वह अतीव उपयोगी नागरिक इस अर्थ में हो आएगा कि उसके पास अनुभव का धन होगा और मन में उसके कोई स्वार्थ का चोर दुबका न रहेगा।

नहीं तो उपयोगिता के वाद में हार्दिकता डूबेगी और वृद्ध के लिए त्राण का मार्ग न बचेगा।

भीख और भिखारी

समाज में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो काम करने में अक्षम हैं। वे भीख मांगकर अपनी जीविका चलाते हैं। उनकी देखा-देखी कुछ स्वस्थ और काम करके जीविका कमा सकने वाले व्यक्ति भी नाना भेष बनाकर भीख मांगी के धंधे को अपना और चला रहे हैं। क्या यह भीख मांगने और भीख देने की प्रथा चलती रहनी चाहिए? क्या इस प्रथा से मुक्त समाज नहीं बन सकता?

—प्रश्न पर कौन कह सकेगा कि भीख की प्रथा जारी रहे? वह शुरू हुई, यही शर्म

की बात है। भीख जिसे कहते हैं उसमें, मांगने और देने वाले, दोनों ही व्यक्तियों की आत्मा का अपमान होता है। इस तरह वह बड़ा अपराध है।

लेकिन दो अपवाद हैं। वृद्ध, रुग्ण और अपंग आदि सामान्य भाषा में जीविकोपार्जन में असमर्थ हो जाते हैं। वैसा श्रम उनके वश और हक का नहीं रहता। किन्तु यह शर्म की बात होगी कि ऐसे व्यक्तियों को भीख में हाथ फैलाना पड़े। समाज का अन्तःकरण यदि जाग्रत हो तो यह नौबत कभी न आनी चाहिए। समाज की ओर से राज्य पर यह दायित्व आता है कि ऐसे लोगों की सुश्रुषा की पूरी व्यवस्था करे। आखिर अस्पताल सरकार खोलती ही है। इस प्रकार दूसरों की असमर्थता को भी अपमान का पात्र कभी नहीं बनने देना चाहिए।

भीख और भिक्षा का अन्तर

उसके अतिरिक्त एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है। वहां भीख भिक्षा हो जाती है और भिखारी दीखने वाले को आदरास्पद भिक्षुक की संज्ञा देनी पड़ती है। भगवान बुद्ध से कौन यह पूछने या मांग करने का साहस कर सकता है कि स्वस्थ होने पर भी वे कुछ कमाई का काम क्यों नहीं करते हैं? तो इस भिक्षा-वृत्ति को मैं सबसे गरिमामय स्थान देना चाहता हूं। यह वह चीज है जिससे दीनातिदिन को क्षण में समृद्ध बना दिया जा सकता है। उसमें से तुच्छता और हीनता का सब भाव उठा कर आत्म प्रतिष्ठा का अभ्युदय किया जा सकता है। भगवान बुद्ध राजपुत्र थे। अपनी कृपा-कोर से अनेकों को निहाल कर सकते थे। पर सब छोड़ा और वे अकिंचन बन आए। भिक्षा का ही एक उपाय अपने जीवन-धारण के लिए उन्होंने रहने दिया। किसी की भी झोंपड़ी के द्वार पर खड़े होकर भीख में हाथ फैला देने के परमाधिकार की, साधना द्वारा, उन्होंने सिद्धि की। सोचिए कि जिसकी कुटिया के आगे तथागत पहुंच जाते होंगे वह गद्गद होकर कितना न निहाल हो आता होगा। दीनता की जगह उसमें जीवन की परिपूर्ण धन्यता ही न भर आती होगी! यह क्षमता क्या राजपुत्र में हो सकती थी? उसका दान दीन-दरिद्र को ऊपर से चाहे निहाल कर जाय, पर भीतर से क्या और कंगाल ही न बना जाता होगा? भिक्षुक होकर भगवान बुद्ध ने वह ऐश्वर्य अर्जित किया जो दीन से दीन और हीन से हीन को भीतर से भरपूर बना देने की क्षमता रखता था। मानो उनकी भिक्षुकता के स्पर्श से रंक भी राजा से बढ़ कर हो आता था।

भिक्षुक की जीविका वरेण्य

तो इस भिक्षुक की जीविका को मैं परम वरेण्य मानता हूं। उससे गरिमामय दूसरा भला क्या हो सकता है। यही अकिंचन्य का आदर्श है। परिपूर्ण अपरिग्रह का उदाहरण यहीं मूर्त हो पाता है। और अपरिग्रह ही वह तत्व है जो समाज को स्थिरता ही नहीं बल्कि समीचीन

सद्भाव और विकास भी देता रह सकता है। आज के अर्थाग्रही जीवन-दर्शन को, प्रचलित आर्थिक परियोजनाओं और कार्य-क्रमों को उसी आदर्श में से सही उत्तर और सही मार्ग प्राप्त हो सकता है। जो तत्व-दर्शन इस आकिचन्य के मूल्य को समझ और सराह सकेगा, वही आज की सभ्यता को सही दिशा का इंगित दे सकेगा।

आप देखें कि भीख को और भिखारी को किसी कानून जैसे सपाट उपाय से रोकने की चेष्टा भारतीय सभ्यता के संत-संन्यासी और ऋषि-मुनि के भिक्षुक आदर्श को भी मिटाने के काम आ सकती है, इसलिये भीख और भिखारी की विडम्बना जनक समस्या से घबड़ाकर कहीं उस दिशा में सोचना हम न आरंभ कर दें। आवश्यक जो है वह यह कि मानव समाज का अन्तःकरण जागे और लज्जित होना सीखें वे कि जिन्होंने आवश्यकता से कहीं-कहीं अधिक संचय अपने पास रख छोड़ा है। और जो अमुक धर्म-रूढ़ता के नाते मंगते भिखारियों पर भीख फेंकने में संतोष और मान का अनुभव करते हैं।

सच यह है कि अर्थ-सत्ता के दर्प के प्रतिरोध में सन्यस्तता का आदर्श ही वह मूल्य है जो लोक-जीवन को संतुलन और स्वास्थ्य दे सकता है।

समाज का कोढ़

क्या कभी ऐसा समाज नहीं बन सकता, जिसमें न दानी हो और न भिखारी? यह दान, भिक्षा और भीख एक सामाजिक बुराई है और अर्थाभाव में से फलित होती है। अगर आर्थिक व्यवस्था ऐसी बन सके जिसमें मांगने की जरूरत ही न हो तो यह समाज का कोढ़ स्वतः मिट सकता है। इसमें आपकी क्या राय है?

— भीख और भिखारी समाज पर कोढ़ के दाग हैं। कौन कहेगा कि समाज कभी इस रोग से स्वस्थ हो ही नहीं सकता। निश्चय ही वह झूठी और औंधी अर्थव्यवस्था है जहां एक ओर ऐश और व्यसन हैं, और दूसरी ओर भूख की तड़प और विकलता है।

किन्तु वैसी कोई औपचारिक और चौकस अर्थ-व्यवस्था मानवीय नहीं कहलाएगी जिसमें भिक्षुक संन्यासी को असंभव बना दिया जाता हो। हमारी अर्थ-दृष्टि, और उससे समुत्पन्न सिद्धान्त, उत्पादक-श्रम की अनिवार्यता आदि-आदि की बातें करके उपयोगितावाद के तर्क-बिंदु पर ही मानो घूमते और रुक रह जाना चाहते हैं। यह प्रयोजनवादी सृष्टि अन्ततः अधूरी ही है। उसको आत्मिक दृष्टि तक उठना सीखना होगा। तब परम अकिंचनता का वह आदर्श उसे सही समझ आ सकेगा। सच में जिस समाज के शिखर पर ऐसा संत-संन्यासी आसीन दीख सकेगा वही सच्चा समाजवादी या साम्यधर्मी समाज प्रमाणित हो पाएगा। हमारे कथानकों में राजा जनक का नाम आता है। वह उसी आदर्श की दिशा का द्योतक है। दिशा ही कहा गया है, स्वयं वह आदर्श नहीं है। क्योंकि राजा शब्द का पद और परिग्रह रह जाता है तो कुछ त्रुटि ही वहां माननी चाहिए।

174 / गांधी और हमारा समय

वर्ग-विहीन समाज रचना और उसका औचित्य

क्या आपकी दृष्टि में वर्ग-विहीन समाज की रचना संभव है ? अगर गरीबी और अमीरी का भेद मिट भी गया तो क्या शिक्षित-अशिक्षित, मालिक-मजदूर, छात्र-अध्यापक, युवा-वृद्ध आदि वर्ग भी मिट सकेंगे ? इस प्रकार वर्ग-विहीन समाज संरचना अपने आप में त्रुटिपूर्ण जान पड़ती है।

—मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है। इसी में उसकी शोभा है और यहीं से उसमें पुरुषार्थ उत्पन्न होता है। इसलिए भिन्नता ही नहीं रहेगी, बल्कि स्वभाव-कर्म के अनुसार उनके आपसीपन में विविधता भी रहेगी। वैज्ञानिक विज्ञान-विदों के निकट आएगा और कलाकार कलारसिकों के। इस तरह के वर्ग स्वाभाविक हैं और उनकी परस्परता से ही समाज का स्वरूप निष्पन्न और सफल हो जाएगा।

भिन्नता और विविधता

—वर्ग-विभिन्नता में से वर्ग-वैषम्य और विद्वेष निकलता है, तो वहां गांठ पड़ती है और समस्या का उदय होता है।

मुझे तो लगता है कि सम-वितरण प्रकृति की ओर से भी हो नहीं पाता। कुछ कृश हैं, कुछ बलिष्ठ। हाथी हैं तो चींटी भी है। चींटी में हाथी जितनी खुराक कैसे डाली जा सकती है ? न उसकी खुराक हाथी के लिए कुछ अर्थ रख सकती है। शरीर के अतिरिक्त प्राणी अपनी क्षमता-योग्यता में भी अलग-अलग है। इनमें किसी की अपेक्षा कम-बढ़ का भाव हो तो उतना असंगत भी नहीं है। इस तरह अगर आपसी सद्भाव की प्रेरणा में कोई सपाट, समतल साम्य का स्वप्न मन में रखता हो तो अंत में उसको अकृतार्थता का सामना करना होगा।

मनुष्य और पशु में अन्तर

—अन्तर है इसलिए यदि वैषम्य और वैमनस्य उनमें हो सकता है, तो उससे अधिक सहज और अनिवार्य आपस में सहयोग और सद्भाव का होना है। पशु और मनुष्य में यही अंतर दीखता है। पशु में प्रतियोगिता का भाव अगर प्रकृत है तो मनुष्य में उतना ही सहयोगिता का भाव नैसर्गिक है, या चाहिए। पशु के आवास को जंगल कहते हैं। समाज का निर्माण मनुष्य से ही संभव हो पाया है। इस समाज के मूल में परस्परता और सहयोगिता है।

सहयोगिता का अर्थ ही कुछ नहीं रह जाएगा अगर वहां विविधता नहीं रहेगी। यूथ-बद्धता या कतारबंदी में एक शिस्त और अनुशासन दीख सकता है, लेकिन हार्दिक सहयोगिता में उस तरह की हुकुम की पाबन्दी की जगह नहीं है। न झिल वगैरह का अभ्यास से आगे कोई अपना महत्व माना जा सकता है। उस सहयोगिता भाव में से हर

मनुष्य का अभिक्रम स्फुरित होता और एक जीवंत सामुदायिकता की सृष्टि होती है। मानव जाति की जितनी उपलब्धियां आज देखने में आती हैं वे मूल में अधिकांश ऐसे ही प्राणवान सामूहिक अभिक्रम का परिणाम रही हैं। समूहों में इसके साथ-साथ रह-रह कर विग्रह-युद्ध भी होते रहे हैं। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों और प्रवृत्तियों के बीच में से मानव-जाति अपने भाग्य को जीती और जीतती आ रही है।

संहार में संरचना की सहज शक्ति

—राजनीति में द्वन्द्वात्मक वृत्तियों का खेल ऊपर आता दीखता है, तो भीतर नीरव-भाव से नैतिक और सांस्कृतिक वृत्तियां मनुष्य को रचनात्मक में प्रवृत्त रखती रही हैं। संहार के बीच भी संरचना का यह काम कभी ढीला नहीं हो सका है। मौत में से जीवन जीता चला गया है और मालूम होता रहा है कि जरा-जीर्ण मरता है तो इधर नया जीवन जन्म पाता जाता है। कुल मिलाकर व्यक्ति से पंक्ति, पंक्ति से जाति और इसी तरह राष्ट्र, कामन वेल्थ, युनाइटेड नेशन आदि कल्पनाओं की निरंतर विस्तारशील संयुक्तता की ओर हम उठते आए हैं। यह यात्रा बढ़ती ही जाएगी। विश्व के ऐक्य का मानव-स्वप्न दूर से पास आएगा, तब तक उसके पुरुषार्थ के लिए अन्य क्षितिज खुल आएंगे। तब धरती का सहयोग अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रों से आरंभ हो चलेगा। मानव की यह गहन और अनंत यात्रा कैसे उसकी सृष्टि के प्रयोजन में ही अंतर्निहित है। कुल मिलाकर उसकी गति की दिशा को या वेग को पलटा नहीं जा सकता। जानता हूं कि पृथक और विरोधी, वर्ग-चेतना, वर्ग-विग्रह और वर्ग-युद्ध का भी एक सिद्धांत है। ऋषि कार्ल मार्क्स ने उसका साक्षात्कार और प्रस्थापन किया। वह तलस्पर्शी चिन्तक और समाज-हितैषी थे। गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय पूर्वक उन्होंने मानव-जाति के सामाजिक इतिहास का और तात्कालिक वर्तमानता का अन्वेषण विश्लेषण किया और एक प्रज्वलंत समाज-दर्शन जगत को दिया। उस आधार पर एक बड़े भू-भाग में भारी परिवर्तन हुए और समाज एवं राजतंत्र के नए ढांचे का निर्माण हो आया। इस क्रांति की आधुनिक मानस पर गहरी छाप है। पर अनुभव से पा लिया गया है कि वहां समाधान नहीं है। द्वन्द्व वृत्ति और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में मानव-विकास या समाज परिवर्तन के सत्य को निहित मानना मानो सत्य को अर्द्ध-सत्य बनाकर देखना है। वह तमाम द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया सागर-तल और तट पर उफनते फेनों की संघर्ष क्रीड़ा है। सागर की वास्तविकता को ही वहां बंधा नहीं मान लिया जा सकता। शायद वह वास्तविकता और सत्यता सागर की अथाह गहराई में अधिक निभृत हो। इसी तरह संघर्ष और युद्ध जीवन की सतह पर उभरे बिना रह नहीं पाते हैं, इतने मात्र से जीवन-सूत्र को उस परिभाषा में बांध लेना समीचीन नहीं है। उसका तात्पर्य मानव-स्वभाव की तलांत गहराई में खो जाता है। राजाओं और शक्ति-कामियों के आपसी लहलुहान घमासान से सारा इतिहास चाहे रंगा दीखता हो, पर उसके नीचे मनुष्य की

176 / गांधी और हमारा समय

विधायक वृत्तियां परास्त नहीं रही हैं वरन् निरंतर प्रवृत्त और प्रवर्तमान रहती आई हैं। वहां वैर की जगह धैर्य कार्यकर हुआ है और उसने विविधता का नाश नहीं किया है, बल्कि उसको सत्कृत सार्थक और सफल बनाया है। अर्थात् स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा के किसी विग्रहवाद में मानव-सत्य या मानव सार्थकता को बिठाना सही नहीं है। वह तो भीतर अमोघ भाव से उठते और बढ़ते हुए ऐक्य संवर्धन में ही निष्ठ और निहित माना जा सकता है।

सत्य का प्रेमपूर्ण आग्रह

प्रेम भावात्मक तत्व है। निपट उससे प्रत्यक्ष हित-विरोध में से उत्पन्न झगड़े टलते-कटते नहीं हैं, बल्कि एक प्रकार की भाव-विभोरता पैदा करके अन्याय और शोषण को आसानी से जारी रखने की कीमिया सिद्ध हो आती है। नैतिक और आध्यात्मिक माने जाने वाले उपदेश केवल यथास्थिति को मजबूत करते हैं, वे सामाजिक अन्याय के लिये उल्टे सहारा बन जाते हैं। ऊपर पद-प्रतिष्ठा पर पहुंचे हिंसक व्यक्ति से छुटकारा उस दर्शन से भला कैसे हो सकता है जो हिंसा से किनारा लेना सिखाता है!

इस प्रकार के राजनीतिक तर्क से वर्ग-विग्रह के दर्शन को अन्तिम मान्यता दे ली जाती है।

पर उदाहरण मिलते हैं कि जहां हिंसा को एकदम जगह नहीं दी गयी है, बल्कि सर्वथा प्रेम को अपनाया गया है। प्रेम परोक्ष समाज के प्रति नहीं, बल्कि दुष्ट माने गये प्रत्यक्ष अमुक पक्ष और पुरुष के प्रति। उस प्रेम-यज्ञ में से एक अनुपम शक्ति का उदय हुआ है और तंत्रों के तख्त उलट गये हैं। क्या सत्य का यह प्रेम-पूर्ण आग्रह ही न था कि जिसने सूली चढ़े ईसा को इतिहास का परम-प्रवर्तक पुरुष बना दिया। ईसाइयत से बड़ी घटना क्या कहीं इतिहास में है? इस्लाम के प्रसार में यों युद्ध मिल जाए, पर प्रेम और शान्ति उसकी प्रतिज्ञा में है। वे ही उस धर्म की बुनियाद हैं। क्या उसका अपूर्व विस्तार कोई छोटी घटना है। भारत के गांधी द्वारा भी कोई कम अद्भुत चमत्कार नहीं प्रगट हुआ। वहां सत्याग्रह का अडिग व्रत और हिंसा का समूल परिहार था। ये शक्तियां हिंसक के समक्ष मन्द नहीं, प्रबलतर ही सिद्ध हुई थीं।

तर्क और आस्था

विश्लेषणपरक तर्क-बुद्धि को वह सब कुछ भावात्मक प्रतीत हो सकता है, पर संश्लिष्ट-सत्य विश्लिष्ट-बुद्धि के तर्क में आ और समा नहीं पाता। वह घिर और बंध सकता ही नहीं। यह उसकी अगमता मनुष्य के पक्ष में श्रेयस्कर ही है। उसका संबंध तर्क से कहीं आगे आस्था से है। तर्क आस्था से कटता नहीं है, बल्कि इस अर्थ में सम्यक् हो आता है कि वह अन्य पर ही नहीं, स्वयं पर भी प्रयुक्त होता है। आस्था-वियुक्त तर्क अपने को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता और अपने दोषों को सहेज कर अपने संबंध में

बेभान रह सकता है, काटता वह बस दूसरे को और शेष को है। आस्था-युक्त बुद्धि दूसरे को खण्डित करके चलने के भ्रम में नहीं पड़ती। उसकी प्रखरता आस्थावान व्यक्तित्व अपने ऊपर ही लेता और झेलता है। अर्थात् तर्कशील जब कि वाद-विवाद की वाग्मिता से अमुक प्रकार की स्थापना करना चाहता है, तब आस्थावान अपने जीवन की परिष्कृति और आहुति द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा कर जाता है।

वर्ग-हित-विरोध पर आधारित तत्व-वाद उधर विश्लिष्ट प्रक्रिया में से जन्म पाता है। इसलिये अर्ध-सत्य या खण्डित सत्य में ही वह रुक जाता है। हित-अविरोध और हितैक्य का सिद्धान्त उस संश्लिष्ट आस्था में से प्राप्त होता है जिसकी प्रक्रिया सत्याग्रह है। अर्थात् एकमात्र, एकमेव, सत्य का आलम्बन और स्वत्व-स्वाग्रह का तन्निष्ठ परिपूर्ण विसर्जन। पहले का बल यदि वाद है तो दूसरे की सत्यता आत्म बलिदान द्वारा कार्यकर होती है।

श्रेणी भेद और ऊंच-नीच

तो यही हुआ न कि समाज कभी वर्ग-विहीन नहीं बन सकता? उसमें किसी न किसी रूप में वर्ग रहेंगे ही। फिर सवाल यह है कि कार्ल मार्क्स ने जो वर्ग-विहीन समाज रचना की बात कही है, क्या वह गलत है?

—वर्ग-विहीनता से आशय उनका वर्गों के बीच शोषण-संबंध की विहीनता से रहा होगा। 'वर्ग' की जगह 'श्रेणी' शब्द उनके आशय के अधिक निकट होगा। श्रेणी में ऊंच-नीच का भी भाव आता है। गुण, कर्म, स्वभाव की समानता के आधार पर बन आए सहयोगी समुदायों के विषय में भी उन्हें आपत्ति रही होती तो आगे मार्क्सिस्ट-कम्युनिस्ट विचार में सहयोगी समितियों या कम्यूनों पर क्यों इतना जोर रहता?

इतना अवश्य है कि मार्क्स ने जो पूंजी की संस्था को, उसके द्वारा होने वाले शोषण को, उस आधार पर चल रहे परस्पर विरोधी वर्गहितों के तनाव को, लगभग कुल यथार्थ मानकर अपने चिंतन के केन्द्र में लिया वह था कल्याणमूलक ही। सामाजिक न्याय का उसमें ध्यान था, इसलिए उस विश्लेषण में विशेष अनौचित्य भी न था। लेकिन उस पर जो वर्ग-संघर्षवाद का सिद्धांत खड़ा कर दिया गया सो कुछ अतिव्याप्ति का दोष आ गया। अर्थ-तल पर चल रहे वर्ग-संघर्ष के नीचे भावस्तर पर वहां सहकार-सहयोग-संचय के आगे विसर्जन तक देखा जा सकता था। श्रम और पूंजी दोनों ही समाज में रहने वाले हैं। तत्संबंधी पटुता रखने वाले लोग भी भिन्न हो सकते हैं। इन दोनों के बीच सहकार के बिना काम चल नहीं सकता। कहीं न कहीं जाकर दोनों में सहयोग की धरती पा लेनी ही होगी। मार्क्स ने पूंजी पर से व्यक्तिगत को हटाकर सामाजिक अर्थात् राजकीय अधिकार के स्थापन की बात रखी। इसमें कल्पना थी कि राज्य की ओर से पूंजी के विनियोग के काम पर जो नियुक्त होंगे उनका अपना स्वार्थ न रहेगा और वे श्रमिक वर्ग

के साथ स्वच्छ हृदय से सहकार करेंगे। अर्थात् उस स्तर पर श्रम और पूंजी का वैर मिट जायेगा।

मार्क्स के चिन्तन की त्रुटी

जहां वह वैर है नहीं, बल्कि सांझा सहयोग है, वह स्तर समाज में और मनुष्य में अब भी विद्यमान है। उस पर ध्यान दें तो विग्रह से संग्रह और संघर्ष की जगह संधि का सिद्धांत निःस्पृह हो आ सकता है। मार्क्स के चिन्तन में उस अंतःस्तरीय भावना और संभावना का पर्याप्त ध्यान और आदर नहीं दीखता। यह आस्था वहां आधारभूत नहीं रही कि मनुष्य को उत्तरोत्तर पहचानते जाना है कि हित-विरोध ऊपरी और कृत्रिम है और एक के सच्चे स्वार्थ से सबका स्वार्थ यानी (परमार्थ) सधने में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए, बल्कि परमार्थ द्वारा ही अपने सही स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है। यह दर्शन निश्चय ही अधिक सर्वांगीण और परिपूर्ण होता। गांधी का कार्यक्रम इसी आधार पर रचा गया था। प्रयोजन के अनुकूल ही उपकरण होंगे, इसलिए अगर श्रेणी-शोषणहीन समाज तक पहुंचना है, तो तमाम स्वत्त्वाधिकार को राज्य में केंद्रित करने से वह फल नहीं प्राप्त होगा। विराट् भीमोद्योग उस प्रकार के तंत्र के अनुकूल पड़ेंगे और उनसे देखा जाएगा कि स्थितियों में, मानव-संबंधों में, तनाव अवश्यंभावी हो आता है। जैसे-तैसे यदि राजन्य वर्ग की एक विशिष्ट श्रेणी पैदा करके अन्यान्य समुदायों में आपसी तनाव हम कम भी कर आते हैं, तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वह तनाव अनिवार्य हो आएगा। श्रेणी-शोषणमुक्त समाज के लिए वह तदनुकूल उत्पादन और अर्थसंरचना से आरंभ करना होगा। हम देखेंगे कि इस उत्पादन क्रम में श्रम स्वयं में मूल्य बन आता है। वह उतना किसी बड़ी पूंजी पर निर्भर नहीं रहता और इस तरह पूंजी का आखेट होने के बजाए श्रम विभु बनता है। पूंजी और अधिकार के नाम पर प्रभुता और सत्ता मनुष्य से छिनकर राज्य में, या अन्यत्र कहीं, नहीं पहुंच जाती, बल्कि श्रमिक के अपने पास सुरक्षित रह आती है। वह अपने स्थान पर समर्थ बनता और अपने भाग्य का स्वयं विधाता हो आता है। वह सहज भाव से स्वाधीनचेता हो सकता है। उसका अभिक्रम जाग्रत और उद्यत रहता है।

प्रोलतारियन डिक्टेटरशिप

औद्योगिक अस्मिता और प्राविधिक जटिलता से श्रेणियां उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकतीं, न शासन-सत्ता के केन्द्रित होते जाने से बचना हो सकता है। श्रेणी-शासनमुक्त समाज के आदर्श से वह प्रारूप और प्रविधि असंगत ही बैठती हैं, उस राह आपसी वैषम्य और वैमनस्य का उन्मूलन किसी विधि प्राप्त नहीं किया जा सकता।

और ऐसा प्रत्यक्ष में भी दीखता आया है। साम्यवाद के भावी आदर्श में और उसी के

प्रवर्तमान यथार्थ में कितना बड़ा विरोध दिखाई देता है। शास्त्रीय धारणा थी कि प्रोलतारियन डिक्टेटरशिप की अनिवार्यता कुछ ही काल रहेगी, फिर परिपूर्ण भाव से शासनमुक्त समाजवादी समाज सिद्ध हो जाएगा। पर वह संभवता दूर से दूर होती जा रही है। सच पूछिए तो अंत तक भी उस राह उक्त घटित की संभावना नहीं दीख पाती।

वर्ग रहें और वे परस्पर पूरक हों, समाज रहे और वह प्रत्येक के व्यक्तित्व को भरपूरता में सहायक हो—तो ऐसे समाज का निर्माण मानव-श्रम और मानव-मूल्य की निष्ठा और प्रतिष्ठा से ही आरम्भ हो सकेगा। सामाजिक तल पर जिसका रूप आर्थिक हो सके, वैयक्तिक पर नैतिक वैसे आध्यात्मिक (सरलता के लिए कहिए मनोवैज्ञानिक) आधार के बिना समझ नहीं आता कि शासन-शोषणमुक्त समाज की कैसे प्राप्ति होगी। व्यक्ति के अंतःकेंद्र को यदि आत्म मान लें और समाज-व्यवस्था के केंद्र को राज्य तो आत्मनीति और राज्यनीति का योग आवश्यक होता है। आत्मनीति अपने में स्व-रत हो आए इसका पूरा खतरा है। इसके प्रभूत प्रमाण और उदाहरण हैं। तो वह उतनी ही निकम्मी है जितनी आत्म-विमुख राजनीति। शायद यही आशय है गांधी के इस वक्तव्य में कि धर्म-विमुख राजनीति प्रपंच है।

केंद्र में मनुष्य हो, मशीन नहीं

मनुष्य यदि बड़ी योजनाओं में अंक जितना रह जाता है तो वैसी योजनाएं मानव को आत्म वैभव प्राप्त कराने में सहायक न हो सकेंगी। वैसे विभु शायद मशीन हो आए और मनुष्य उसका चाकर बने। योजनाएं सार्थक और श्रेयस्कर यदि होंगी तो वे ही होंगी जिनके केंद्र में मनुष्य का स्वीकार और सत्कार होगा। उदाहरणार्थ यह संकल्प कि कोई मनुष्य बेकार बेरोजगार न होगा, कोई विवश भूखे-पेट न सो सकेगा, कोई बालक दूध और शिक्षा से वंचित न रह पाएगा, योजना को मानवोचित बनाएगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक प्रगति इससे उलटी दिशा में जा रही है। उस वेग में मनुष्य की अंतर्व्यवस्था और अंतराकांक्षा झुलसी रह जाती है। बस तृष्णात्मक महत्वाकांक्षा सवारी गांठकर उसे चाबुक की मार से दौड़ाए चली जा रही है। जगह-जगह जो विद्रोह नाना रूपों में फटता दीख रहा है, क्या वह मानव के भूखे और क्षुब्ध अंतर्मानस में से फूटी मनमानी का ही सूचक नहीं है? वह हिप्पी जो आपकी सारी व्यवस्था और सभ्यता की खुल्लम-खुल्ला खिल्ली उड़ा रहा है, यही नहीं तो भला क्या सिद्ध करता है। व्यवस्था और व्यवसाय के तल पर अगर खुली आपा-धापी है, तो लीजिए उसके जवाब में भीतर से विस्फोट में फूटती यह उघड़ी अराजकता भी है। ध्यान रखना होगा कि ये दोनों विद्रूप एक ही सभ्यता के ओर और छोर हैं—सभ्यता कि जिसका तंत्र अब मनुष्य के उत्कर्ष की प्रक्रिया के साथ निभ नहीं सकता है।

पार्टी-राज्य और निरंकुश शासन

वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करने के प्रयास में पार्टी-राज्य की स्थापना हो जाती है। और इस पार्टी-राज्य को निरंकुश शासन में परिणत होते देर नहीं लगती। तो क्या यह पार्टी-राज्य अपनी तानाशाही छोड़कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की ओर कभी आगे बढ़ सकता है?

—मान लीजिए कि राज्य का आधार दलगत नहीं है। तब विकल्प क्या है? पैतृक राजा की परम्परा न हो, नंगी तलवार और बंदूक वाला आततायी ऊपर न आ बैठे, तो शासक का रूप और शासन का ढांचा क्या होगा? अभी इन गिनती के प्रकारों के अलावा राज्य के किसी अन्य विकल्प का स्वरूप कहीं निखरा नहीं है। राजा कहीं-कहीं अब भी शेष मिल जायेंगे, लेकिन उन या अन्य व्यवस्थाओं में पार्टी या पार्टियाँ अनिवार्य सी ही हैं। कम्युनिस्ट पद्धति में पार्टी के साथ बहुवचन की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ पार्टी एक रहती है।

शासन-मुक्त समाज; सर्वोदय-चिंतन की अस्पष्टता

सर्वोदय के क्षेत्र में दल-मुक्त व्यवस्था की चर्चा सुनी जाती है, दृष्टि अधिकांश उस शासन-मुक्तता पर रहती है कि जहाँ अंतरानुशासन समाज में व्याप्त होगा, इतना कि बाह्य प्रशासन सर्वथा अनावश्यक हो आए। वह अवस्था आत्यन्तिक आदर्श मानी जानी चाहिए। अभ्यासक्रम से ही समाज में आत्मानुशासन के भाव का विकास संभव है और हमेशा ही उस विकास में अधिक विकास के लिए अवकाश रहा चला जाएगा। अर्थात् अंत तक किसी न किसी मात्रा में प्रशासन की आवश्यकता रहती जाएगी। वर्तमान सर्वोदय-चिंतन में मुझे भय है कि उस संबंध में पूरी स्पष्टता नहीं है। शायद यात्रा के मार्ग का और मार्ग की बाधाओं का, उतना विचार और यथार्थता का पूरा अंगीकार वहाँ नहीं है।

गांधी की कल्पना; प्रशासन केवल व्यवस्थागत

गांधी के पास कदाचित् विकल्प था। उस कल्पना में पार्टी इसलिये अनावश्यक हो सकती थी कि वहाँ आधार में ही किसी वाद या विचार की गुंजायश न रह जाती थी, बुनियाद में निरे और निपट मनुष्य को स्वीकार किया जा सकता था। अर्थात् आगामी का विचार या अमुक समाज-शास्त्र अथवा राज्य-शास्त्र का निर्माण वहाँ उतना संगत नहीं रहता था, राज्य-तंत्र का प्रश्न दोयम हो जाता था। वादिता या वैचारिकता में से समस्याओं के उठते जाने का झंझट नहीं रहता था। यह क्षेत्र तो विद्वानों और मनीषियों के व्यायाम के लिये था, जो सह-अस्तित्व की सीमा लांघकर प्रत्यक्ष संघर्ष में नहीं उलझ सकते थे। वादों का उपयोग 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' तक ही रह जाने वाला था। वे वाद सन्नद्ध

दलों के निर्माण में काम नहीं आ सकते थे। सोशलिज्म, कम्युनिज्म, मार्क्सिज्म, माओइज्म जैसे 'स्कूल्स आफ थॉट' भले रह जाएं, सैन्य-निर्माण का बहाना नहीं बन सकते थे। गांधी के जीवन में अहिंसा परममूल्य था। अर्थात् विचार वहां परस्पर सह्यता में ही विवाद रच सकते थे, उत्पात विशाल संगठन बनकर उपद्रव उत्पन्न नहीं कर सकते थे। पार्टियां अमुक वाद का अपना-अपना घोष या ध्वज रखा करती हैं, उनके पास भावी के नकशे होते हैं और कई-साला कार्यक्रम भी तैयार-शुदा रहा करते हैं। गांधी जी की कल्पना में शायद यह सब महत्वाकांक्षियों का फालतू काम था। यह दिमागियत के लिए भले उपयोगी हो, मानवीय व्यवस्था में तो बाधक ही हो सकता था। समाज का उस कल्पना में एक जीवंत व्यक्तित्व था। जड़ नहीं कि किसी बाहरी जुटाव की योजना के अधीन हो पाए। उसकी प्रक्रिया तो सृजन और आत्मसंवर्धन की हो सकती थी। राजकीय प्रशासन के लिए निपटने को सिर्फ वस्तु-वितरण आदि की समस्या रह जाती थी, या प्रजाजन के भरण-पोषण और परस्पर शान्ति-सुरक्षा की समस्याएं। गांधी की कल्पना का प्रशासन मात्र कर्म-सीमित (फंक्शनल) रह जाता है। आज के व्यापक सोशलिस्ट या वेलफेयरिस्ट राज्य के लिए गांधी-विचार में किंचित् भी अवकाश नहीं है। वैसी राज्य-धारणा में तांत्रिक प्रशासन प्रगाढ़ और अति व्याप्त बनता है। वह फिर आत्मानुशासन के विकास और उदय को क्षीण करता है। राज की सत्ता की प्रकृति गांधी-विचार में आतंक और अफसरी की न रह कर क्रमशः सेवा और समता की होती आती है। गांधी ने अफ्रीका में ही टालस्टाय की कहानी 'मूरखराज' का आचरण अपने उपनिवेश में शुरू कर दिया था। कहानी का मूरखराज ही सच्चा राजा होता है। सैन्यबल और धन-बल के आधार पर राजा बने उसके दोनों भाई अन्त में टूट-बिखर कर उसके पास पहुंचते हैं। वहां न कोई राजासन है, न राजमहल है। सबके साथ उसकी भी एक कुटिया है और सबकी तरह आठ घण्टे लगकर वह खेत में काम करता है। शाम को सबके बीच पंचायत की चौपाल में बैठकर राजपन के काम निपटा लेता है। अर्थात् राजा का अपना सरंजाम होने की कहीं कोई जरूरत नहीं है।

इस प्रकार सिर्फ व्यवस्था के तल पर उतर आये राज के लिए तो पार्टी-मुक्तता सहज संभव दीखती है। उसके अतिरिक्त दल-मुक्ति की कल्पना मेरे मन में नहीं बन पाती। बौद्धिक जनों के वाद-विवाद में से दल-बहुलता भले फल सकती हो, दल-मुक्तता नहीं मिल सकती। बौद्धिक प्राणियों के लिए विचार का महत्व आचार से निरपेक्ष हो जाया करता है। बस इसी में विचार जीवन-शोधन का उपाय होने के बजाय प्रचार का मंच बन जाता और मत, संप्रदाय, मठ आदि की सृष्टि रच चलता है। वहीं से विचार में से आचार-संस्कार की क्षमता कम होने लगती और कलह-कोलाहल की कला और काबलियत बढ़ जाती है। ऐसा विचार राजनीति में खूब काम आता है। उसी में से दलों के लिये विविध शब्दायुध और शब्द-युद्ध बना करते हैं।

182 / गांधी और हमारा समय

पार्टीज्म

इसलिए जहां से अक्सर लोग अपेक्षा रखते होंगे, उस सर्वोदयवाद या गांधीवाद से मुझे नहीं लगता कि पार्टीज्म से त्राण मिल सकता है। सर्वोदयमत-विचार या गांधी मत-विचार क्यों अपने आप में दलों-सम्प्रदायों की भूमिका नहीं बना लिये जा सकते? विचार का आग्रह और विचार-प्रचार की धुन रहेगी तो दल-सम्प्रदाय वर्ग-समुदाय के रूप में उठ कर अपने-अपने झन्डों का अलग निर्माण क्यों न करेंगे? क्यों न उसके भी नारे होंगे और बाकायदा घोषणापत्र जारी होंगे? गांधी मेरी धारणा में विचारक थे तो विचारकों के विचारक थे। केवल विचार की स्वतन्त्र सत्ता उनके लिए थी ही नहीं। सत्य के और पुरुषार्थशील प्रेम के प्रयोगों में ही विचार की संगति और सार्थकता उनके निकट समाहित हो जाती थी। इस प्रकार सत्य के इन दो ध्रुवों के बीच थम कर उनकी समस्त जीवन-रचना और जीवन-साधना खिलती गयी। विचार का सत्य अखण्ड परमेश्वर, कर्म का सत्य अविभक्त मनुष्य।

राजनीति, या कहो उस प्रकार के लोगों की कर्मनीति, अगर दृढ़ता के साथ सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख, विपद-आपद, अभाव अभियोग की समस्याओं को अपने ध्यान केन्द्र में रखती है तो आपसी वैर और युद्ध की, या उनके लिए दलों के निर्माण की, आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर यदि सेवकों की टोलियां बनती हैं तो वे आपस में पूरक ही हो सकती हैं, किसी काट-फांस में वे नहीं पड़ सकतीं।

दल द्वंद्व और राजचक्र

शायद राह है तो यही हो सकती है दल-द्वंद्व से त्राण पाने की। किन्तु राजनीतिक-मानस के पास इस राह का अनुमान तक नहीं होता। उस राज-दर्शन में हिंसा सारे इतिहास को थामती लगती और विकास की प्रक्रिया को वही आगे बढ़ाती मालूम होती है। वह मानस 'सोशल चेंज', 'टोटल रेवोल्यूशन' आदि शब्दावली की भाषा में सच को समेट कर उसके निमित्त विनाश और संहार को अपने लिए आवश्यक और अनिवार्य मान आता है। इस 'न्यायपूर्ण' नाश-लीला के लिए दलों, सैन्यों, छावनियों और अन्त में अणुबमों के स्तूपों की संगति क्यों न हो आएगी? ऊपर राज्य के तल से खुले संख्या-सैन्य बल को, नहीं तो नीचे प्रजा से गुरिल्ला दल को, खड़ा किया ही जा सकता है। अर्थात् राजनीतिक पद्धति के चिन्तन में से दल-मुक्ति, पक्ष-मुक्ति और अन्त तक सैन्यास्त्र-मुक्ति कभी मिल नहीं सकती है।

पर क्यों आप चाहते हैं कि पार्टियां न रहें? आज भी धर्मनैतिक क्षेत्रों में शिष्टों-दुष्टों की अलग जमातों के गठन की बात सुनी जाती है। धर्म एक ओर, तो अधर्म दूसरी ओर। ऊपर न्याय दंड, नीचे अपराध कर्म। इस तरह यदि आमने-सामने परस्पर-विपरीत दो वर्गों की धारणा यदि तत्व विचार में ही हो तो दल-निर्माण से बचना कैसे संभव है?

यथार्थता की तर्कपरक दृष्टि इस चक्र से बाहर नहीं आ सकती। इसे राजचक्र ही कहिए। वहां मूल्य सैन्य-संगठन का अनिवार्य हो आता है और वह कार्य पंक्तिबद्धता के बिना हो नहीं सकता।

धर्म की कसौटी

इस जगह धर्म शब्द का प्रवेश खतरनाक हो सकता है पर गांधी द्वारा अगर दल-मुक्ति की संभावना की झांकी प्राप्त हुई तो इसीलिए कि उसने अपने और अपनों के कर्म के लिए धर्म की कसौटी को सदा समक्ष जाग्रत रखा। पर बुद्धि की सीमा आस्तिक आस्था के उस क्षेत्र के तट से इधर ही रह जाती है। अतः उसकी बात यहां नहीं की जा सकती।

विश्वेकराष्ट्र

क्या विश्व एक ऐसा राष्ट्र बन सकेगा जिसमें राष्ट्रीयता के झमेले ही मिट जाएं?

—आसान नहीं है। पर उसी श्रद्धा में मानवता जी रही है और जूझती हुई आगे बढ़ती ही जा रही है।

कठिनाई

इसमें कठिनाई क्या है?

—कठिनाई है कि जब आदमी की एक अपनी ही अहंता कम कठिन नहीं होती तब राष्ट्रों की सामूहिक, सामाजिक और सशस्त्र अहंता पार होने में कितनी न कठिन सिद्ध होगी। सामने पाकिस्तान का उदाहरण है। बंगाल कराह रहा है। पंजाब हजारों मील दूर है। पर पाकिस्तान के नाम पर पंजाबी हाकिम किसी हालत में बंगाल पर से अपना पंजा ढीला करने को राजी नहीं है। राष्ट्रवादों के नीचे पनपने वाली इन संगठित अस्मिताओं का गलना-बिखरना आप आसान न समझ लीजिए। और बढ़ना उछाल से में नहीं हो जाता, क्रम-क्रम से बढ़ना होता है। राष्ट्रवाद से सीधे हम किसी शून्यता में तो नहीं कूद सकते हैं, राष्ट्र-भावना की जगह लेने नीचे से कोई मानवीय भावना पनपती और प्रगट होती आए तभी, और उसी क्रम से, वह अतिक्रमण संभव हो सकेगा। देश-प्रेम में आज आदमी मर सकता और मार सकता है। मानवता उसके लिए अभी कविता और भावना की ही वेदी है, वह नहीं बन पाई है कि जिस पर खुशी से आदमी अपना शीश चढ़ा दे। उस वेदी की प्रतिष्ठा हो, उस दिशा में भाव-विकास हो, मन व्यापक बने, तो उसी मात्रा में राष्ट्र से विश्व की ओर हमारी प्रगति हो सकेगी। इस गति और प्रगति को हम अपने स्वार्थ के उपार्जन से नहीं, विसर्जन से ही योग दे सकते हैं।

विश्व-राष्ट्रीयता और विश्व-मानवता

विश्व-राष्ट्रीयता के लिए पहल किसकी ओर से होगी और कौन करेगा ? या कि विश्व उस ओर सहज भाव से बढ़ेगा और उसके लिए किसी प्रयास की आवश्यकता न होगी।

—प्रयास और सहजता में कोई विरोध नहीं है। निश्चय ही प्रक्रिया उसकी सहज होगी। किसी बड़ी उथल-पुथल के रास्ते से दुर्घटना ही बनेगी, संघटना आगे नहीं बढ़ सकेगी। किंतु निश्चय ही उसमें मानव की ओर से भरपूर प्रयास अपेक्षित होगा। हम राष्ट्र-भाव तक आए हैं तो उससे पीछे हटने या खिसकने में त्राण नहीं है। वह शक्य भी नहीं है। कुछ लोग पृष्ठगामिता के हामी हो सकते हैं। व्यतीताभिमुख व्यक्तियों में अनुभवी जन मिलते हैं, तो नयी पीढ़ी के कुछ असंतुष्ट युवजन भी निरे निषेध में उस ओर दृष्टि रख सकते हैं। अपने सपनों को अनागत से हटाकर विगत में रखना विशेष कठिन नहीं है। अतः उस दिशा में आदर्श को भी बिठा लिया जा सकता है, और पलट कर वन्य विहरण में जा पहुंचने की आकांक्षा पोसी जा सकती है। आजकल विकेंद्रीकरण के शब्द के चलन में से कुछ लोग वैसे सपने पालने भी लगे हैं। शायद आपको गांधी के चर्खे-खदर में, उनकी लंगोटी उपरने की पोशाक में, वही डर होता हो। कहना मुश्किल है कि अमुक सर्वोदयी उस दिशा में नहीं ही सोचते होंगे। पर गांधी की दिशा अग्रगामी थी, व्याख्याएं चाहे कुछ प्रतिगामी भले बन गई हों!

राष्ट्र-व्यवस्था से आगे

अर्थात् राष्ट्र की संज्ञा से आगे ही बढ़ना है, पीछे हटना नहीं है। राष्ट्र-व्यवस्था को उधेड़-बिखेर कर किसी आत्यन्तिक ग्राम-व्यवस्था में नहीं समा बैठना है। वैसा स्वप्नादर्श कोई मन में बांधे हुए हो तो वह कथाचित् मर्यादा से घबराकर उच्छृंखल हुआ चाह रहा है। आधुनिक हिप्पी-दर्शन अपनी पूर्णता में अग्रगामिता का दर्शक-निदर्शक नहीं है। उस में अतृप्ति और असंतोष का प्रतिक्रियात्मक भाव भी है। बल्कि रचना-वृत्ति से अधिक उसी भाव की वहां प्रधानता है। रचनात्मकता का सही उदाहरण और उद्घरण गांधी में देखा जा सकता है। अभी तो लोग राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के ही वृत्त में सोच कर रह जाते हैं। सभी अपने निर्यात को आयात से बढ़ा-चढ़ा रखना चाहते हैं। सभी को विश्व के और मानवता के हित में पहले अपने को समृद्ध और संपन्न करना सूझता है। जो शब्द और लक्ष्य आज चल रहा है, विकसित समाज और डेवलप्ड सोसाइटी, उसका मान इसी राष्ट्रीय धनाढ्यता का है। राष्ट्रीय मुद्राओं की स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा है और सब राष्ट्र अपनी मुद्रा की मांग ऊंची चढ़ाते जाना चाहते हैं। अवमूल्यन होता है तो मानो राष्ट्र की साख उतनी ही नीचे आ जाती है। विश्व-राष्ट्रीयता अथवा विश्व-मानवता की ओर बढ़ने के लिए हमें राष्ट्रीय से आगे किसी मानवीय वित्त-रचना को कल्पना और

चरितार्थता में लाना होगा। गांधी का चर्खा-खदर उसी मानवीय वित्त-व्यवस्था के सूचक हैं। राष्ट्रवादी अर्थ-व्यवस्था ने मानव विकास पर सशस्त्रता और सयुद्धता की सीमा डाल रखी है। यह सीमा विश्व की एकता की दिशा की ओर बढ़ने में बड़ा अवरोध सिद्ध हो रही है। और तो सब ठीक है, पर अर्थ-रचना का वह रूप हाथ नहीं आता जो राष्ट्रवाद के प्रतियोगी से सहयोगी रूप में बढ़ने की दिशा में सहायक हो सके। आज की परस्पर अर्थ-एवं-शस्त्र-सहायता की प्रणालियां राष्ट्रवादिता और राष्ट्रों की अपनी-अपनी अस्मिता को चढ़ाने-चमकाने वाली ही हैं और उनसे परस्पर सद्भाव की संभावनाएं बनती और बढ़ती नहीं दीखती हैं। मूल से ही किसी विशद और मानवीय अर्थ-व्यवस्था को चलन में लाना होगा। इस नयी व्यवस्था के लिए आवश्यक होगा कि वह राष्ट्र के नाम पर ही एक-जुट परस्परता को उदय में लाने के बजाए, प्रकृत और सहज पड़ोसी-सहयोग का आधार सिरजे और पनपाए। तब विपमता मानवीय व्यवहार की जड़ों में से ही कटेगी और इस प्रकार राष्ट्रीय हित-वैषम्य की भूमिका को ही अनावश्यक बना देगी। वह अर्थ-व्यवस्था बुनियाद देगी कि ऊपर अहिंसक समाज की रचना संभव हो सके। तब राष्ट्रों में सशस्त्र प्रतियोगिता अनावश्यक हो आयगी और उनमें हार्दिक सहयोगिता सहज भाव से जगे और खिलेगी।

राष्ट्र से विश्व की ओर चरण बढ़ाने में सबसे बड़ी बाधा है हर एक की अपनी-अपनी सुरक्षा की चिंता। उस चिंता में सबको सेना और शस्त्र चाहिए। और इस दबाव के नीचे सारी राष्ट्र-व्यवस्था राजकीय और प्रतिस्पर्धात्मक हो आती है। राष्ट्रीय सुरक्षा का भाव नीचे उतरकर व्यक्तिगत सुरक्षा का रूप ले लेता है और सारे सामाजिक संबंध दुराव और तनाव के बन आते हैं। औपचारिक सहयोग की प्रणालियों के नीचे प्रतियोगिता का भाव सुलगा रहता है और गठबंधी और गुटबंदी मानो जीवन का नियम हो चलती है। हमारे सामाजिक व्यवहार-व्यापार का गठन प्रतियोगितात्मक संघटनों और अंततः सशस्त्र युद्धों को आवश्यक बनाता और जीवन में भय-संशय की वृत्तियों को बल पहुंचाता रहता है। प्रतियोग से सहयोग की नीति पर खड़ी रचना का आरंभ होना हो तो वर्तमान में गांधी-दर्शन ही वह विकल्प है जिसको अपनाने से राष्ट्र अपनी संरचना में, अपने समूचे अस्तित्व में अविरोधी हो सकते और फिर भी हर रक्षा-सुरक्षा के भय से मुक्त बन सकते हैं। देश की तदनुरूप अर्थ एवं समाज-रचना मूल से इतनी दृढ़ होगी कि सुरक्षा के निमित्त उसे किसी शस्त्र-सैन्य सज्जा की आवश्यकता न रहेगी। अहिंसक नीति की समग्र जीवन-व्यापी चरितार्थता उस राष्ट्र को समर्थ और सक्षम बनाएगी, किसी अर्थ-भय अथवा अस्तित्व-भय परापेक्षी, परास्त अथवा शरणागत नहीं बनने देगी। बल उसका आत्मबल होगा, किराए का सैन्य-बल नहीं। और यह राष्ट्रवासियों का समन्वित श्रद्धा-बल जगत को चमत्कृत, स्वस्थ और आश्वस्त रख सकेगा, किसी की लोलुपता उस ओर बढ़ने की सोच ही नहीं सकेगी!

राष्ट्र : प्रतियोगी से सहयोगी-नीति की ओर

आवश्यक है कि कोई एक राष्ट्र अपनी अंतरंग व्यवस्था में अंतिम मात्रा तक प्रतियोग-नीति का वर्जन और सहयोग-नीति का आलंबन अपनाने में पहल करे और उस आधार पर भीतर से पुष्ट-बलिष्ठ बनकर अपनी ओर से एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण की घोषणा करे। स्पष्ट है कि यह काम किसी कोरे आदर्शवाद की शेखी में से नहीं हो सकेगा, इसको तो नींव से ही आरंभ करना होगा। प्रचलित आपसी और सामाजिक संबंधों के सीवन को उधेड़ना और व्यवहार-व्यवसाय की प्रणालियों में बदल डालना होगा कि उनमें प्रतियोगिता की प्रेरणा न रहे और सहयोगिता का प्रवाह उन्मुक्त हो आए। इस पद्धति से आपसी विषमता कटे और एक समवेत सह-युक्त समाज का प्रत्यक्ष रूप-दर्शन संभव हो सकेगा। उस समाज की एकता में से फलित हुआ राष्ट्र विश्व-राष्ट्रीयता की संरचना में आवश्यक पहली कड़ी बन सकेगा।

विश्व मानवता का उदय

विश्व मानवता के उदय और उसकी सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ के कार्यक्रम को आप किस दृष्टि से देखते हैं ?

—संयुक्त राष्ट्र-संघ राष्ट्रवादी राजशक्तियों का संघ है। इससे वह निरी ध्येयनिष्ठा नहीं चल सकता और साम्प्रतिकता की मर्यादाओं में रहने को विवश है। इसलिए कुछ बड़ी शक्तियों के हित-व्यूह के हिसाब से उसे रहना-चलना पड़ता है और मानवता का निर्माण वह उसी मात्रा तक कर सकता है, जहां तक वह उस व्यूह को अनुकूल पड़े।

सैन्य-शस्त्रविहीन सत्ता

यह स्थिति उसको व्यावहारिक रूप से अमुक सीमा तक सक्षम रखती है, किंतु आगे अक्षम बना देती है। प्रभुसत्ता राष्ट्रों के अपने हाथ में है और इस प्रभुसत्ता का राष्ट्र-संघ के प्रति अर्पण शायद ही किंचितमात्र हो पाता हो। संघ के पास अपनी कोई प्रभुसत्ता नहीं है। वह एक बड़ा कार्यालय है जो राष्ट्रों को एकत्र करता और उनकी परस्परता को थामता-निभाता है। पर संघ संकट की परिस्थितियों में कोई विशेष अभिक्रम नहीं दिखा सकता। सैन्य-शस्त्र राष्ट्र-सत्ताओं के पास हैं, संघ उनसे विहीन है। एक तरह यह अच्छा ही है कि संघ की सत्ता नैतिक है, सामरिक नहीं है। पर न्याय यदि सामरिक योग्यता के ही हक में हो, निर्णय के क्षेत्र में युद्ध का ही यदि मूल्य प्रतिष्ठित हो, तो वह नैतिक बल अनी की घड़ी में अशक्त ही सिद्ध होता है। अभी बंगला देश का मामला प्रथम कोटि के मानवीय अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में उठ खड़ा हुआ है। पर संघ लगभग कुछ भी उस संबंध में नहीं कर पा रहा है। ऊपरी राहत के काम में सहायतास्वरूप कुछ योग दे देने से मूल राजनीतिक प्रश्न तनिक भी हिलता-डुलता नहीं है, शस्त्र-सत्ता का दंभ ज्यों का त्यों

बरकरार रह जाता है।

आवश्यक है कि संघ की सत्ता अधिक सत्वशील बने और उसके लिए राष्ट्र-राज्य अपनी प्रभुसत्ता का यथामात्रा उत्सर्ग करें। उनके शस्त्र सैन्य के रूप और आकार की मर्यादा बंधे और भिन्न-भिन्न मुद्राओं की अपने लिए मण्डियां पाने और हथियाने की बेहूदा होड़ कटे। राष्ट्रों की विकसित, विकासमान एवं अविकसित श्रेणियों की विषमता समाप्त हो और संघ में छोटे-बड़े राष्ट्रों की सबकी एक-सी गणना और मतसत्ता हो। इसके लिए शायद किसी एक केंद्रीय विश्व-मुद्रा की आवश्यकता होगी जो राष्ट्रों की आपसी प्रतिस्पर्धा को नियंत्रण और नियमन में ला सकेगी।

अभी तो संघ की स्थिति इससे बहुत दूर है। अफ्रीका और एशिया के नए स्वतंत्र हुए देश संख्या में बहुत हैं पर समय पर उनका बहुमत यदि जुट भी पाता है तो वह अकृतार्थ रह जाता है। ऊपर छाया शक्ति-व्यूह मानो उन राष्ट्रों की उपेक्षा भी कर सकता है। वे राष्ट्र सामरिक और आर्थिक दृष्टि से न्यून होने के साथ विश्व-परिवार में तिरस्कृत रह जाते हैं। यह अवस्था भाव-वैषम्य उपस्थित करती और मानव चेतना में तनाव बनाए रखती है। गोरी जाति जो सभ्य और संपन्न मानी जाती है मानो उसी कारण अन्यान्य की रोष-भाजन बनने को बाध्य होती है। गोरे देश सहायता की बात करते हैं और सहायता चाहने वाले सहायता पाने के ही कारण मानो क्षुब्ध और रुष्ट बन आते हैं। यह मानसिक क्षोभ और संतुलन मानव-जाति के भाग्य और भविष्य के संदर्भ में महंगा पड़ रहा है और सभ्यता उलट-पुलट होने के डर में रहती है।

फिर भी जाने-अनजाने मानव-परिवार निकट आ रहा है और वंचितों की आवाज को बहुत काल तक समृद्ध-जन टालते नहीं जा सकते हैं। समृद्ध-जन की अपनी ही आवश्यकता है कि उनकी समृद्धि बंटें अन्यथा मण्डी के अभाव में धन की अतिशयता अपने बोझ से आप ही ढह आ सकती और वहां आर्थिक संकट उत्पन्न कर सकती है। अमीरी गरीबी पर ही पलती है और गरीबी वहां से अपना सहारा और सहयोग हटा ले तो ऐश्वर्य बेसहारा होकर गिरने से बच नहीं सकता। यह कैपीटलिस्ट अथवा सोशलिस्ट राज-व्यवस्थाओं के लिए समान रूप से लागू है। इसलिए यदि वंचित और पिछले राष्ट्र स्वावलंबी अर्थोत्पादन-नीति अपना चलते हैं तो राष्ट्र-संघ की अधीनता और असमर्थता धीरे-धीरे दूर होने लग आती है और बड़ी कहलाने वाली शक्तियों का दंभ भी नीचे आ जाता है।

जन-बल की अजेय सत्ता

आशय यह कि मुद्राधन अथवा सेना-शस्त्र की शक्ति के समक्ष जन-शक्ति खड़ी ही नहीं हो सकती, बल्कि प्रबलतर भी सिद्ध हो सकती है, बशर्ते कि वे जनबहुल और धनावलंबी देश उस द्रव्य और शस्त्र के प्रार्थी न रहें और आर्थिक एवं आंतरिक दृष्टि से

188 / गांधी और हमारा समय

स्वाधीन बन आएंगे। यह विशेष कठिन नहीं है और इस मार्ग से संयुक्त राष्ट्र-संघ महाशक्तियों की दबोच से बाहर आ सकता है।

इसके सिवा ऊपर से होने वाला सुधार का मार्ग उक्त राष्ट्र-संघ को जल्दी और असली बल दे सकेगा, इसकी आशा कम है। राजनीतिक दांव-पेंच अक्विल तो उन महत्वाकांक्षी सत्ताओं में आपस में सुलझ नहीं पाएंगे और अगर दुनिया को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में हिस्सा-बांट करने की नीति किसी समझौते पर आ भी गयी तो भी संघ के द्वारा मानव-जाति का सुख-चैन सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। युद्ध में मित्रगण जीते और जीत के बाद उनमें आपस में ही स्पर्धा और शत्रुता फूट निकली। महत्वाकांक्षाओं के अपने समझौते स्थिर नहीं रह पाते और इसी में मानव-जाति की खैरियत है। निश्चय मानना चाहिए कि यदि कभी विश्व की एक राज-व्यवस्था हुई तो वह तानाशाही हो ही न सकेगी, अनिवार्यतया उसे लोकतांत्रिक होना होगा।

विश्व एक बनेगा तो जंगल के तौर पर नहीं जहां एक अकेले वनराज का राज्य हो सकता है। वह पारिवारिक एकता होगी जहां सबकी सम्मतियों का एक-सा मूल्य होगा और तिरस्कार किसी का न हो पाएगा। अर्थात् राष्ट्र-राज्यों के राजनीतिक सत्ता-स्वामियों के स्वार्थिक पारस्परिक समझौते कभी पर्याप्त सिद्ध न होंगे और केवल ऊपर की राजनीतिक सत्ता-स्वामियों को सच्चा सत्त्व न दे सकेंगी। उस सैंक्शन और बल का तो नीचे से निर्माण करना होगा, जो जनधारित और जनस्वावलंबी नीति से ही होना संभव है।

विश्व-मत सर्वोपरि

पुस्तकालय

120517

इस संदर्भ में गांधी के राजनीतिक कर्म और आदर्श की याद की जा सकती है। वह भारत को इसी रूप में उठता और उभरा देखना चाहते थे। यानी वह भारत कि जो विश्वहित में अपने को कुर्बान कर दे और कभी किसी को अपने अधीन न बनाना चाहे। यह नीति और यह मूल्य प्रतिष्ठित होगा तभी संयुक्त राष्ट्र-संघ मानव-मुक्ति का सही सच्चा माध्यम बन सकेगा। और स्वीकार करना चाहिए कि जाने-अनजाने हम शस्त्रसत्तात्मक मूल्य से जनमत के मूल्य की स्वीकृति के निकट पहुंचते जा रहे हैं। विश्व का लोकमत आज भी नगण्य वस्तु नहीं रह गया है और कुछ काल बाद देखेंगे कि वह अनिरोध्य और सर्वोपरि हो आया है।

□ □

GURUKUL KANGRI LIBRARY		
	Signature	Date
Acc:	R	27-3-2001
	he	19-4-2001
	R	10.5.2001
	11	
FILE	5-6-101	
E.A.R	R	15-6-2001
Any other	R	16.5.2001
Checked	Int	10.5.2001

Compiled
2002-2003

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

गांधी

और हमारा समय

जैनेन्द्र कुमार

